मुद्रक । श्री जितमलसिंह लोढ़ा
श्री महावीर प्रि० प्रेस, ब्यावर

लेखक का प्रास्ताविक वक्तव्य :

"निबन्ध-निचय" वास्तव मे हमारे प्रकीर्णक छोटे-बडे लेखो का सग्रह है। इसमे के लेख न० ७-८-९-११-१७ ये निबन्ध विस्तृत साहित्य-समालोचनात्मक है। नं० १०वा १२-१३-१४-१५-१६-१८ ये लेख जैन श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य के समालोचनात्मक लघु लेख है तब निबन्ध १९वां श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के प्रतिक्रमण सूत्रों मे चिरकाल से रूढ और आधुनिक सम्पादकों के अनाभोग से प्रविष्ट अशुद्धियों की चर्चा और स्पष्टीकरण करने वाला विस्तृत लेख है।

प्रारम्भ के १ से ६ तक के लेख भी श्वेताम्बर प्राचीन जैन साहित्य के अवलोकनात्मक लेख है। "प्राचीन जैन तीर्थ" नामक निबन्ध मे जैन-सूत्रोक्त १० तीर्थों का शास्त्रीय ऐतिहासिक निरूपण है।

२१वा निबन्ध "मारवाड की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियाँ" ता० १५-८-१९३६ का लिखा हुआ, २२वा प्रतिष्ठाचार्य निबन्ध ता० १९-८-५५ का लिखा हुआ और निवन्ध २३वा ता० २७-७-४१ का लिखा हुआ है। ये तीनो लेख समालोचनात्मक और विस्तृत है।

२४ और २५वा ये दोनो निबन्ध समालोचनात्मक और खास पाठनोय है। निबन्ध २७वा तिथि-चर्चा सम्बन्धी गुप्त रहस्य प्रकट करने वाला है।

निवन्ध २७ से लेकर ३९ तक के १३ दिगम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य की मीमासा सम्वन्धी है। इनमे से अनेक निबन्ध ऐतिहासिक ऊहापोहात्मक होने से विशेष उपयोगी है। षट्खण्डागम, कषायपाहुड, कषायपाहुडचूर्णि, भगवती आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थो के कर्ता तथा इनके निर्माणकाल का ऊहापोह और निर्णय करने का यत्न किया है।

"निचय" के निबन्ध ४०, ४१, ४२, ४३, ४४ मे क्रमश कौटिल्य अर्थशास्त्र, साख्यकारिका, ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य, स्मृतिसमुच्चय और आह्निकसूत्रावली का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन लिखा है।

आशा है पाठकगण "निबन्ध-निचय" के पढने से अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, यही नही बल्कि ऐतिहासिक ग्रन्थियो को सुलझाने की शक्ति भी शनैः शनैः प्राप्त करेंगे।

कल्याणविजय

धन्यवाद :

माडवला नगरनिवासी श्रीमान् कुन्दनमलजी, छगनराजजी, भँवरलालजी, जीतमलजी, पारसमलजी, गणपतराजजी, थानमलजी, भवरलालजी, रमेशकुमारजी पुत्र पौत्र श्री तलाजी दातेवाडिया योग्य .

आप श्रीमान् समय २ पर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते रहते हैं, ज्ञान-प्रचार के लिए भी आप अपने द्रव्य का व्यय करने मे पीछे नही रहते। दो वर्ष पहिले पू० पन्यासजी महाराज श्री कल्याणविजयजी गणि, श्री सौभाग्यविजयजी, मुनि श्री मुक्तिविजयजी का मांडवला मे चातुर्मास्य हुआ तब पन्यासजी महाराज को ग्रन्थ तैयार करते देखकर ग्रन्थ का नाम पूछा। महाराज ने कहा—३ ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं। आपने ग्रन्थो के नाम पूछे, तब महाराज ने कहा : १ पट्टावली पराग, २ प्रबन्धपारिजात और ३ निबन्ध-निचय नामक ग्रन्थ तैयार हो रहे है। आपने तीनो ग्रन्थो के नाम नोट कर लिये और कहा : ये तीनों ग्रन्थ हमारी तरफ से छपने चाहिये। महाराज ने वचनवद्ध न होने के लिए बहुत इन्कार किया पर आप सज्जनों के अत्याग्रह से पन्यासजी महाराज को वचनबद्ध होना पड़ा। आपकी इस उदारता और ज्ञान-भक्ति को सुनकर हमको बहुत आनन्दाश्चर्य हुआ। आपकी इस उदारता के बदले में हम आपको धन्यवाद देने मे गौरव का अनुभव करते है।

हम हैं आपके प्रशसक।
शाह मुनिलाल थानमलजी
एवं समिति के अन्य सदस्य।

निबन्धों में मीमांसित अन्तर्गत ग्रन्थों और : : : विषयों की नामावली : : :

२०वें निबन्ध मे :

२१वें निबन्ध मे :

२२वे निबन्ध मे .

२४वे निबन्ध मे :

३०वें निवन्ध में :

३६वे निवन्ध मे :

श्री हरिभद्रीय सटीक अनेकान्तजयपताका में

: : : ऐतिहासिक नाम : : :

पृष्ठ ६ सर्वज्ञ-सिद्धि-टीका ।

„ ८ कुक्काचार्यादिभिरस्मद्वशजै० ।

„ ४२ कुक्काचार्यादिचोदित ।

„ ५८ मल्लवादिना सम्मती ।

„ १०५ उक्त च = धर्मकीर्तिना इति वार्तिके ।

„ ११६ उक्त च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ ।। विशेषस्तु सर्वज्ञ-सिद्धिटीकातोऽवसेय. ।।

„ १३५ उक्तं च धर्मकीर्तिना ।

„ २०० धर्मकीर्त्तिवार्तिके ।

„ २२६ एतेन यदाह न्यायवादी = धर्मकीर्तिर्वार्तिके ।

„ ३३४ आह च न्यायवादी = धर्मकीर्तिः ।। (मू०)—व॰ पूर्वाचार्यैः भदन्त-दिन्नप्रभृतिभि. ।।

„ ३३७ (मू०) यथोक्तम्—भदन्त दिन्नेन ।। यथोक्तम् = वार्तिकानुसारिणा शुभगुप्तेन ।।

„ ३४७ उक्त च न्यायवादिना = धर्मकीर्तिना ।।

„ ३५७ तथा चाहुर्वृद्धा = वृद्धा. = शब्दार्थव्यवहारविदः पाणिनीयाः ।।

„ ३६६ आह च शब्दार्थतत्त्ववित् = भर्तृहरिः ।।

„ ३६८ यदाह = भाष्यकार· ।।

„ ३७५ आह च वादिमुख्य = समन्तभद्र. ।।

„ ३८५ आह च भाष्यकारः = पतञ्जलि. ।।

„ ३८७ उक्त भर्तृहरिणा ।।

„ ३८८ भाष्यकारः = पतञ्जलिः ।।

पृष्ठ ३८२ एव शब्दब्रह्मपरिवर्तमात्र जगत् इति प्रलापमात्रम् ॥
,, ३३ पूर्वाचार्यै = अजितयशःप्रभृतिभिः ॥
,, ३६ पूर्वाचार्यैः = धर्मपाल–धर्मकीर्त्यादिभिः ॥
,, ३६ न्यायवादो = धर्मकीर्तिः ॥
,, ४६ सर्वज्ञसिद्धौ ॥
,, ६८ निर्णीतमेतद् गुरुभिः प्रमाणमीमासादिषु ॥
,, ६६ न्यायवादी = धर्मकीर्ति. ॥
,, १२६ उक्त च धर्मकातिना ॥
,, १३० वर्मकोर्तिना = भवत्तार्किकचूडामणिना ॥
,, १३१ स्वयूथ्यैः = दिवाकरादिभिः सन्मत्यादिषु इति ॥
,, १७४ धर्मकीर्तिनाऽप्यभ्युपगतत्वात्, हेतुबिन्दौ ॥
,, २२० तथा चार्षम्–"सो हु तवो कायव्वो०" ॥

निबन्धों की नामावली :

क्रम संख्या	नाम	पृष्ठ संख्या
१	अनेकान्तजयपताका	१
२	योगविन्दु सटीक	४
३	योगदृष्टिसमुच्चय सटीक	५
४	जैनतर्कवार्तिक	६
५	धर्मोपदेशमाला प्रकरण	८
६	सुपासनाहचरिय	६
७	श्रीपिण्डनिर्युक्ति और पिण्डविशुद्धि	११
८	श्रीश्रीपालकथा अवलोकन	३३
६	सिद्धचक्रमहापूजा अर्थात् सिद्धचक्रयन्त्रोद्धार पूजनविधि	४३
१०	श्री नमस्कार माहात्म्य	५६
११	विजयदेव माहात्म्य	६१
१२	गुरुतत्त्वविनिश्चय	७७
१३	अध्यात्ममतपरीक्षा	७६
१४	युक्तिप्रवोध	८२
१५	श्रीधर्मसंग्रह	८५
१६	उपदेशप्रासाद	६०
१७	कृत्रिम कृतियां	६२
१८	तत्त्वन्यायविभाकर	१२३
१६	प्रतिक्रमण सूत्रो की अशुद्धियां	१५७
२०	प्राचीन जैनतीर्थ	१५७
२१	मारवाड़ को सव से प्राचीन जैन मूर्तियां	१६४
२२	प्रतिष्ठाचार्य	२०४
२३	क्या क्रियोद्धारकों से शासन की हानि होती है	२१८

क्रम सख्या	नाम	पृष्ठ संख्या
२४	जैन सघ के बंधारण की अशास्त्रीयता	२३४
२५	बधारणीय शिस्त के हिमायतिओं को	२४८
२६	तिथिचर्चा पर सिंहावलोकन	२५२
२७	षट्खण्डागम	२७१
२८	धवला की प्रशस्ति	२७४
२९	मूलाचार सटीक	२८०
३०	पचसंग्रहग्रन्थ	२८६
३१	अकलकग्रन्थत्रय	२८८
३२	प्रमाणसग्रह	२८९
३३	श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	२९०
३४	आप्तपरीक्षा और पत्रपरीक्षा	२९२
३५	आप्तमोमासा	२९३
३६	प्रमाणपरीक्षा	२९४
३७	प्रमेयकमलमार्तण्ड	२९५
३८	भद्रबाहुसहिता	२९७
३९	हरिवशपुराण और आचार्य जिनसेन	२९८
४०	श्री कौटिलीय-अर्थशास्त्र	३१९
४१	सांख्य-कारिका	३२२
४२	ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	३२४
४३	स्मृतिसमुच्चय	३२७
४४	आह्निक सूत्रावली	३३१

卐 श्री 卐

निबन्ध-निचय

प्रथम खण्ड

卐 卐

श्वेताम्बर जैन साहित्य

का

अवलोकन

卐

: १ :

हरिभद्रसूरिकृता स्वोपज्ञटीका सहिता

अनेकान्तजयपताका

[प्रथम भाग]

पृ० ६ "सर्वज्ञसिद्धिटीका," पूर्वगुरुभिः = चिरन्तनवृद्धैः,

,, ८. पूर्वसूरिभि. = पूर्वाचार्यैः सिद्धसेनदिवाकरादिभिः । ह्यनिन्द्यो मार्ग. पूर्वगुरुभिश्च कुक्काचार्यादिभिरस्मद्वंशजैराचरित इति ॥

,, ९ स्वशास्त्रेषु = (सम्मत्यादिषु) ॥

,, १० निष्कलकमतय. = बौद्धा. ॥

,, ४२. कुक्काचार्यादिचोदित प्रत्युक्त—निराकृतम् इति सूक्ष्मधिया भावनीयम् ॥

,, ५८. (मू०—) उक्त च वादिमुख्येन = मल्लवादिना सम्म (न्य) तौ—स्वपरेत्यादि ॥

,, १०५. (मू० च) उक्त च = धर्मकीर्तिना इति वार्तिके ॥

,, ११६. (मू०) उक्त च वादिमुख्येन, = श्रीमल्लवादिना सम्मतौ ॥ विशेषस्तु सर्वज्ञसिद्धिटीकातोऽवसेयः ॥ टीकायाम् ॥

,, १३५. उक्त च धर्मकीर्तिना ॥

,, २००. (मू०) आह च न्यायवादी = धर्मकीर्तिवार्तिके ॥

,, २२९. (मू०) एतेन यदाह न्यायवादी = धर्मकीर्तिर्वार्तिके ॥

,, ३३४. (मू०) आह च न्यायवादी = धर्मकीर्ति. ॥ (मू०)—वः पूर्वाचार्यैः भदन्तदिन्नप्रभृतिभि. ॥

,, ३३७. (मू०) यथोक्तम्—भदन्तदिन्नेन ॥ (मू०) यथोक्तम् = वार्तिकानुसारिणा शुभगुप्तेन ॥

,, ३४७ (मू०) उक्तं च न्यायवादिना = धर्मकीर्तिना ॥

पृ० ३५७. (मू०) तथा चाहुर्वृद्धा, = वृद्धा = शब्दार्थव्यवहारविद पारिणनीया ॥
„ ३६६. (मू०) आह च शब्दार्थतत्त्ववित् = भर्तृहरि ॥
„ ३६८ (मू०) यदाह, = भाष्यकार: ॥
„ ३७५. (मू०) आह च वादिमुख्य, = समन्तभद्र ॥
„ ३८५. (मू०) आह च भाष्यकार:—पतञ्जलि ॥
„ ३८७. उक्त भर्तृहरिणा ॥
„ ३८८ भाष्यकार = पतञ्जलि ॥
„ ३८२. एव शब्दब्रह्मपरिवर्तमात्र जगत् इति प्रलापमात्रम् ॥ (मू०)

[दूसरा भाग]

पृ० ३३ पूर्वाचार्यै. = अजितयश प्रभृतिभि. ॥
„ ३६. पूर्वाचार्यै = धर्मपाल–धर्मकीर्त्यादिभि. ॥
„ ३९ (मू०) न्यायवादी = धर्मकीर्ति ॥
„ ४९ (मू०) सर्वज्ञसिद्धौ ॥
„ ६२. विंशिकोक्तवचनसमर्थनात् ॥
„ ६८ (मू०) निर्णीतमेतद् गुरुभि प्रमाणमीमासादिषु ॥
„ ९९. (मू०) न्यायवादी = धर्मकीर्ति ॥
„ ११५ (मू०) इत्यादि वार्तिककारेणोक्त तदुक्तिमात्रमेव ॥
„ १२६. उक्त च धर्मकीर्तिना ॥
„ १३०. (मू०) धर्मकीर्तिना = भवत्तार्किकचूडामणिना ॥
„ १३१ (मू०) स्वयूथ्यै = दिवाकरादिभि सन्मत्यादिषु इति ॥
„ १७४ (मू०) धर्मकीर्तिनाऽप्यभ्युपगतत्वात्, हेतुबिन्दौ ॥
„ १७६ (मू०) यथाऽऽह न्यायवादी = धर्मकीर्ति: ॥
„ २२० तथा चार्षम्—"सो हु तवो कायव्वो०" ॥
„ २२० "कायो न केवलमय परितापनीयो,
मिष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीय ।
चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेषु,
वश्यानि येन च तदाचरित जिनानाम्" ॥
„ २४१ सितपटहरिभद्रग्रन्थसन्दर्भगर्भं,
विदितमभयदेव निष्कलङ्काकलङ्कम् ।

सुगतमतमथालंकार पर्यन्तमुच्चै--
स्त्रिविधमपि च तर्कं वेत्ति य साङ्ख्य-भट्टौ ॥४॥
श्रीमत्सगर्गसिंहसूरिसुकवेस्तस्याङ्घ्रिसेवापर,
शिष्य. श्रीजयसिंहसूरिविदुषस्त्रैलोक्यचूडामणेः ।
य. श्री 'नागपुर' प्रसिद्धसुपुरस्थायी श्रुतायाऽऽगत.,
श्लोकान् पच चकार सारजडिमाऽसौ यक्षदेवो मुनि ॥५॥
मूलश्लोकपुराण ग्र० ३७५० ॥

आचार्य हरिभद्र के आगमिक दार्शनिक साहित्यिक आदि अनेक विषय के ग्रन्थ पढे, लेकिन अनेकान्तजयपताका मे तथा उसकी स्वोपज्ञ टीका मे जितने जैन जैनेतर ग्रन्थकारो के नामनिर्देश मिले, उतने अन्यत्र कही नही, आचार्य श्री ने अपने पूर्वज कुक्काचार्य का दो स्थान पर नामनिर्देश किया, वादिमुख्य के नाम से सम्मतिटीकाकार मल्लवादी का दो जगह पर नाम निर्देश किया है, वादिमुख्य इस नाम से समन्तभद्र को भी याद किया है। अजितयश प्रभृति से श्वेताम्बर आचार्य का नामोल्लेख किया है, सम्मतिकार के रूप मे सिद्धसेन दिवाकर को भी याद किया है। "प्रमाण-मीमासा", "सर्वज्ञसिद्धि" और "सर्वज्ञसिद्धि टीका' का भी अनेक बार उल्लेख किया है, इनमे से सर्वज्ञसिद्धि, तथा सर्वज्ञसिद्धि टीका—ये दो ग्रन्थ इनके खुद के मालूम होते है। तब "प्रमाण-मीमासा" इनके गुरु अथवा प्रगुरु की होगी ऐसा उल्लेख से पता लगता है, जैनेतर विद्वानो मे महाभाष्यकार पतञ्जलि, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि और महर्षि पाणिनि, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शुभगुप्त, भदन्तदिन्न, इन नामो का उल्लेख किया है। वसु-बन्धु की विंशिका तथा असग के ग्रन्थ के अवतरण दिये हैं, धर्मकीर्ति का तथा उसके प्रमाण-वार्तिक का वार-वार उल्लेख किया है, परन्तु प्रमाण-वार्तिक के भाष्यकार प्रज्ञाकर गुप्त, जो विक्रम की अष्टमी शती के ग्रन्थकार हैं, इनके अथवा इनके ग्रन्थ का कही नाम निर्देश नही किया, इससे ज्ञात होता है, कि आचार्य हरिभद्र की सत्ता विक्रम की अष्टम शती के मध्य भाग तक रही होगी, जब कि प्रज्ञाकर गुप्त की कारकीर्दी शुरु नही हुई थी।

卐 卐

: २ :

योग-विन्दु सटीक

श्रीहरिभद्र सूरि रचित

योगविन्दु-ग्रन्थ में कुल ५२६ कारिकाएं हैं। दो स्थलो पर मूल कारिका में "अविद्या" शब्द का प्रयोग हुआ है। यद्यपि अविद्या शब्द बौद्धो के विज्ञानवाद मे भी आया करता है, परन्तु कारिका ५१२ वी में पुरुषाद्वैत तथा कारिका ५१५ वी में समुद्र तथा उर्मियो के एकत्व का आचार्य ने खण्डन किया है, इससे ज्ञात होता है, आचार्य **हरिभद्रसूरि** के समय मे उपनिषदो का वेदान्तवाद प्रचलित हो चुका था।

ग्रन्थ की उपान्त्य कारिका मे आचार्य ने अपना स्पष्ट रूप से नाम उल्लेख किया है और अन्तिम कारिका ५२६ वी मे "भवान्ध्य-विरहात्" इस प्रकार अपना नियत अंक भी लिख दिया है, परन्तु इसकी टीका स्वोपज्ञ होने का कोई प्रमाण नही मिलता। टीका का प्रारम्भिक मगल भी हरिभद्र के मगल की पद्धति के अनुसार नही है। टीका मे "पडिसिद्धाण करणे०" यह गाथा आगम के नाम से उद्धृत की है, जब कि आचार्य हरिभद्र सूरिजी के जीवनकाल के पूर्व "वन्दित्तु" सूत्र निर्मित होना प्रमाणित नही होता, इसके अतिरिक्त टीका मे वहुत से उल्लेख ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं जो इसकी प्राचीनता के वाधक है, अन्त मे टीकाकार ने "भगवतो हरिभद्रसूरेः" यह जो शब्दप्रयोग किया है इससे टीका हरिभद्र कृत नही, यही सावित होता है।

पुस्तक-सम्पादक डा० स्वेली ने टीकाकार का नाम निर्देश नही किया, इससे भी यही ज्ञात होता है, वे इस टीका को हरिभद्रकृत नही मानते थे।

卐 卐

: ३ :

योग दृष्टि समुच्चय-सटीक

❖

"योगदृष्टिसमुच्चय" भी आचार्य हरिभद्र की कृति है, जो १२६ कारिकाओं मे पूरी होती है।

इसकी टीका को सम्पादक सुएली ने स्वोपज्ञ माना है, क्योकि इसके अन्त मे "कृतिः श्री श्वेतभिक्षोराचार्यश्रीहरिभद्रस्येति" यह वाक्य लिखा मिलता है, परन्तु यह वाक्य टीका के साथ सम्वन्ध नही रखता, यह सूचना मूल कृति के लिए ही है।

योगदृष्टिसमुच्चय की १२८ वी कारिका मे "सदाशिवः पर ब्रह्म" इस प्रकार उपनिषदो के "पर ब्रह्म" का उल्लेख भी मिलता है।

टीका मे अर्वाचीनता-साधक प्रमाण भी उपलब्ध नही होता, फिर भी टीका का प्रारभिक आडम्बर हरिभद्र की कृति होने मे शका उत्पन्न करता है।

卐 卐

: ४ :

जैन तर्क वार्तिक

❖

श्री शान्त्याचार्य विरचितवृत्ति सहितम्

"जैनतर्कवार्तिक" शान्त्याचार्य की कृति है, ग्रन्थकार ने अपने सत्ता-समय का कुछ भी सूचन नही किया, वृत्ति की प्रशस्ति मे आपने अपने को चन्द्रकुलीन आचार्य वर्द्धमान का शिष्य वताया है, और अपने गुरु को रत्नाबुधि वतलाया है, इससे इतना तो सिद्ध होता है कि प्रस्तुत शान्तिसूरि तथा इनके गुरु वर्द्धमानाचार्यं सविग्न विहारी थे, जिनेश्वरसूरि के गुरु वर्द्धमान सूरि तथा नवागीवृत्तिकार अभयदेव सूरि के मुख्य शिष्य का नाम भी वर्द्धमान सूरि था, ये भी सविग्न विहारी थे, इस परिस्थिति मे जैनतर्कवार्तिककार कौन से वर्द्धमान सूरि के शिष्य होंगे, यह कहना कठिन है, परन्तु प्रथम वर्द्धमान सूरि के अनेक शिष्यो प्रशिष्यो का जिनदत्त सूरि ने अपने गणधरसार्द्धशतक मे नाम निर्देश किया है, परन्तु उसमे शान्त्याचार्य का नाम नही मिलता, परिशेषात् द्वितीय वर्धमान सूरि के शिष्य ही शान्त्याचार्य होंगे, ऐसा अनुमान करना पड़ता है, यद्यपि प्रथम वर्द्धमान सूरि के समकालीन एक और भी शान्तिसूरि हुए हैं, परन्तु यह कृति उनकी होने मे हमें विश्वास नही बैठता, एक तो ये थारापद्र गच्छ के थे, दूसरा इनके गुरु का नाम वर्द्धमान सूरि नही था, तीसरा वे वडे प्रौढ तार्किक विद्वान् थे। जैनतर्कवार्तिक उनकी कृति होती तो इस का विस्तार तथा स्वरूप और ही होता, जो कि प्रस्तुत वार्तिक भी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है, फिर भी इसका कलेवर वहुत छोटा है, बौद्धो, जैन विद्वानो, नैयायिको और मीमासक विद्वानो ने वार्तिक नाम से जो ग्रन्थ वनाये हैं, वे सभी गम्भीर और आकर ग्रन्थ हैं, इससे मानना पडता है, इस प्रस्तुत न्यायवार्तिक के कर्त्ता थारापद्र गच्छीय शान्तिसूरि नही हो सकते।

मुद्रित जैनतर्कवार्तिक के सम्पादकीय वक्तव्य मे सम्पादक प० विट्ठल **शास्त्री लिखते हैं—"शान्त्याचार्य** ने सिद्धसेन के जैनतर्कवार्तिक पर यह वृत्ति लिखी है," परन्तु वास्तव मे यह बात नही है, जैनतर्कवार्तिक के चारो परिच्छेदो की मूल कारिकाए भी शान्त्याचार्य की रचना है,—

"तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि, सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥ १ ॥"

इस वाक्य मे उल्लिखित "सिद्धसेनार्क-सूत्रितम्" इन शब्दो से सम्पादक को सिद्धसेनकृति होने का भ्रम हो गया है। वास्तव मे इन शब्दो का अर्थ यह है कि "सिद्धसेन के ग्रन्थो मे जिस प्रमाण का सूत्रण हुआ है उसी का भाव लेकर मैं जैनतर्कवार्तिक को कह रहा हूं। ऐसा **शान्त्याचार्य** का कथन है।

प्रत्यक्ष परिच्छेद के अन्त मे शान्त्याचार्य स्वय कहते है—सिद्धसेन निर्मित ग्रन्थो की वाणी रूपी सिद्धशलाका को पाकर मैं ने इस प्रकरण को निर्मल बनाया, इस कथन से स्पष्ट हो जाता है, कि जैनतर्कवार्तिक शान्त्याचार्य की खुद की कृति है।

शान्त्याचार्य अपने स्वोपज्ञ जैनतर्कवार्तिक की वृत्ति मे कहते हैं—' चूडामणि, केवलि-प्रमुख अर्हत्प्रणीत हैं, वे उसी स्थल पर "सर्वज्ञवाद टीका" मे आई हुई प्रमाण परिच्छेद की एक मूल कारिका से आए हुए "एके" इस शब्द का परिचय देते हुए लिखते हैं कि "एके" "अनन्तवीर्यादय." इससे निश्चित हो जाता है, जैनतर्कवार्तिक मूल शान्त्याचार्य की कृति है, सिद्धसेन की नही। अनन्तवीर्य का समय दिगम्बर विद्वान् ग्यारहवी शताब्दी के आसपास होने का अनुमान करते हैं, जब कि सिद्धसेन सभवत· पचम शताब्दी से पहले के हैं, इस दशा मे सिद्धसेन के ग्रन्थ मे अनन्तवीर्य के मन्तव्य का उल्लेख नही हो सकता। शान्त्याचार्य ने अपनी वार्तिक वृत्ति मे विन्ध्यवासी, धर्मकीर्ति, नयचक्रकार के नामो का भी उल्लेख किया है।

卐 卐

: ५ :

जयसिंह सूरि विरचित

धर्मोपदेश माला-प्रकरण

इस माला मे मूल ९८ गाथाएं हैं जिनमे १५८ दृष्टान्तो का सूचन किया गया है और इसके विवरणकार स्वयं ग्रन्थकार हैं। विवरण मे कुछ विस्तार से, कुछ मध्यम विस्तार से दृष्टान्त वर्णन किये हैं, तब कुछ दृष्टान्तो के नाम मात्र निर्दिष्ट किये हैं। दृष्टान्त सर्व प्राकृत भाषा मे हैं, केवल गाथा की व्याख्या सस्कृत भाषा मे है। वहुत से दृष्टान्तो का विशेष विवरण जानने के लिए "उपदेशमाला का विवरण" देखने की सूचना की हैं, इससे जाना जाता है कि जयसिंह सूरि ने धर्मदास गणि की उपदेशमाला पर विस्तृत टीका लिखी होगी।

ग्रन्थ के अन्त मे जम्वू से देववाचक तक स्थविरावली और अपनी गुरु-परम्परा गाथाओ मे दी है। ग्रन्थ की समाप्ति स० ९१५ के भाद्रपद शुक्ला पंचमी के बुधवार को की है।

ग्रन्थ मे ऐतिहासिक नाम स्थविरावलियो के अतिरिक्त श्री वदिकाचार्य, सिद्धसेन दिवाकर तथा वाचकमुख्य (उमास्वाति) ये तीन आये हैं।

जातक का नामकरण करने के सम्बन्ध मे एक स्थान पर बारहवे दिन और अन्यत्र मास के वाद करने का लिखा है।

ज्योतिष के सम्वन्ध मे निर्देश करते हुए "लग्न" का निर्देश कही नही किया, किन्तु 'वार' का निर्देश ग्रन्थ की समाप्ति मे अवश्य किया है।

卐 卐

: ६ :

सुपासनाहचरिय

श्री लक्ष्मरण गरिण विरचित

सपादक तथा छायालेखक : पं० हरगोविन्ददास

यह चरित्र हर्षपुरीय गच्छ के विद्वान् लक्ष्मण गरिण ने वि० स० ११९९ के माघ शुक्ल दशमी गुरुवार के दिन मडली (माडल) नगर मे रचा है।

चरित्र का गाथा-प्रमाण लगभग सात हजार से अधिक है जिसका अनुप्टुप श्लोक प्रमारण १०१३८ है।

चरित्र की प्राकृत भाषा प्रासादिक तथा प्राजल है, बीच-बीच प्राकृत तथा सस्कृत भापा मे चुभने वाले सुभाषित पद्य भी उपलब्ध होते है।

चरित्र मे सातवे तीर्थङ्कर श्री सुपार्श्वनाथ का जीवनचरित्र, उनके चतुर्विध सघ के वृतान्त के साथ दिया है, चरित्र के कुल ५०२ पानो मे से ८२ पानो मे भगवान् का जीवन-चरित्र सम्पूर्ण हुआ है, तब शेष ४२१ पानो मे केवल औपदेशिक कथानक हैं। सम्यक्त्व से लेकर बारह व्रत और उनके प्रत्येक अतिचार पर एक एक तथा एकाधिक दृष्टान्त लिखे गए है जिनमे अधिकाश ग्रन्थ पूरा हुआ है।

ग्रन्थ के अन्त मे ग्रन्थकार ने अपना परिचय देने वाली एक प्रशस्ति भी दी है, जिसके आधार से आपके पूर्व गुरुओ का तथा गच्छ का परिचय इस प्रकार मिलता है—आपने अपने आदि गुरु का नाम 'जयसिह सूरि' उनके शिष्य का नाम 'अभयदेव सूरि' और उनके शिष्य का नाम 'हेमचन्द्र सूरि' बताया है। प्रश्नवाहन कुल और हर्पपुरीय-गच्छ के आदि

पुरुष 'जयसिंह सूरि', 'अभयदेव सूरिजी' और 'हेमचन्द्र सूरि' ये महान् विद्वान् होने के अतिरिक्त महान् त्यागी तथा राज-मान्य भी थे।

आचार्य हेमचन्द्र के चार विद्वान् शिष्य थे, पहले श्रीचन्द्र सूरि, दूसरे विबुधचन्द्र सूरि, तीसरे पद्मचन्द्र उपाध्याय और चौथे श्री लक्ष्मण गणि।

श्री लक्ष्मण गणि ने अपने उपर्युक्त तीन गुरु-भ्राताओ की प्रेरणा से प्रस्तुत "सुपार्श्वनाथचरित्र" का निर्माण किया है, ग्रन्थकर्ता ने इसमे रही हुई क्षतियो को सुधारने के लिए प्रार्थना की है जो एक शिष्टाचार रूप है, क्योकि आपकी यह कृति निर्दोष और विद्वद्भोग्य है, प्राकृत के अभ्यासियो को इसके पढने से आनन्द आने के साथ, प्राकृत भाषा का ज्ञान विशद होने का भी लाभ मिल सकता है।

卐 卐

: ७ :

श्री पिण्डनिर्युक्ति और पिण्डविशुद्धि

❖

(१) अवचूरि-क्षमारत्न कृता
(२) टीका-वीरगणि कृता (त्रुटिता)
(३) दीपिका-माणिक्यशेखर कृता (त्रुटिता)

पिण्डनिर्युक्ति जैन श्रमण श्रमणियो के ग्राह्य भोग्य पेय आहार पानी का निरूपण करने वाला एक प्राचीन निवन्ध है, इस पर अनेक पूर्वाचायो ने टीकाएँ लिखी थी, परन्तु अव वे सब पूर्ण रूप से नही मिलती, आचार्य श्री मलयगिरिजी ने पिण्डनिर्युक्ति पर टीका लिखी है और वह छप भी गई है, परन्तु इस टीका का अवलोकन पृथक् लिखा गया है, इसलिए यहाँ इसकी चर्चा नही करेगे, यहाँ पर अचल-गच्छीय विद्वान् क्षमारत्न की अवचूरि, सरवाल-गच्छीय वीरगणि की शिष्यहिता नामक टीका और अचल-गच्छीय मेरुतुगाचार्य के शिष्य माणिक्यशेखर की दीपिका; इन तीन टीकाओ के सम्वन्ध मे कुछ लिखेगे ।

सामान्य रूप से टीकाकार पिण्डनिर्युक्ति को श्रुतधर श्री भद्र-वाहुस्वामी की कृति मानते हैं, परन्तु यह मान्यता यथार्थ नही है, क्योकि इसमे भद्रवाहु के परवर्ती आचार्य आर्यसमित, तथा नागहस्ती के शिष्य आचार्य श्री पादलिप्त सूरि के वृत्तान्त आते हैं, इससे हमारी मान्यता के अनुसार यह निर्युक्ति विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के बाद की हो सकती है।

(१) पिण्डनिर्युक्ति की अवचूरि के कर्त्ता श्री क्षमारत्नजी श्री विधपिक्ष गच्छ (अचलगच्छ) के आचार्य श्री जयकीर्ति सूरिजी के शिष्य थे,

अवचूरिकार ने अपनी कृति का निर्माणसमय सूचित नही किया, फिर भी वे विक्रम की पन्द्रहवी शती के व्यक्ति हो सकते है, क्योकि इनके गुरु श्री-जयकीर्ति सूरि का भी यही समय है ।

यह अवचूरि निर्युक्ति की बृहद् वृत्ति को देख कर उसे गम्भीरार्थ जानकर इन्होने निर्युक्ति पर प्रस्तुत प्रकटार्था अवचूरि लिखी है, और इसमे कोई असगत बात लिखी गई हो तो उसका सशोधन करने की प्रार्थना की है ।

अवचूरि का श्लोकपरिमाण लगभग तीन हजार होने का अन्त मे सूचन किया है ।

(२) पिण्डनिर्युक्ति टीकाकार सरवालगच्छीय श्री वीरगणी :

आचार्य वीरगणि ने पचपरमेष्ठी की स्तुति करने के उपरान्त पिण्ड-निर्युक्ति की शिष्यहिता वृत्ति बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए लिखा है, 'पचाशक आदि शास्त्रसमूह के बनाने वाले आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने इस निर्युक्ति पर विवरण बनाना प्रारम्भ किया था, परन्तु "स्थापना-दोष" पर्यन्त इसका विवरण बनाने के बाद वे स्वर्गवासी हो गए थे, इसलिये उसके आगे की विवृत्ति वीराचार्य नामक किन्ही आचार्य ने समाप्त की है, परन्तु उसमे अनेक गाथाए "सुगमा" कह कर छोड दी है और जिन पर विवरण किया है, उन्हे भी वर्तमानकालीन मन्दमति पाठको के लिए समझना कठिन है । अत. सारी पिण्डनिर्युक्ति की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए मेरा यह प्रयास है ।

उपर्युक्त आशय वाले लेख मे आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी के निर्युक्ति पर की विवृति समाप्त करने के पूर्व ही स्वर्गवासी होने की जो बात लिखी है वह ठीक नही जान पडती, पिण्डनिर्युक्ति की विवृति ही नही तत्त्वार्थ-वृत्ति आदि अन्य भी हरिभद्रसूरि कृत ग्रन्थ आज अपूर्ण अवस्था मे मिलते हैं, इसका कारण यह नही कि वे समाप्त हुए ही नही थे, किन्तु इस अपूर्णता का खरा कारण तो ग्रन्थभण्डार सम्हालने वाले गृहस्थो की वेदरकारी है,

उपदेहिका आदि कीटो के खा जाने से, पढने को ले जाने वाले व्यक्ति के पास रह जाने से, अथवा तो अन्य किसी कारण से पुस्तक का अमुक भाग खण्डित हो जाता है। ग्रन्थनिर्माता दो चार ग्रन्थो को एक साथ बनाना प्रारम्भ करता हो, तो उसका आयुष्य समाप्त होने पर वे सभी प्रारब्ध ग्रन्थ अपूर्ण रह सकते है, परन्तु विद्वान् ग्रन्थकारो की प्राय. ऐसी पद्धति नही होती, वे एक कृति के समाप्त होने पर ही दूसरी कृति का निर्माण प्रारम्भ करते है। आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने सैकड़ो ग्रन्थ वनाए थे परन्तु आज अमुक ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं, इसका भी कारण यही है कि अनुपलब्ध ग्रन्थो मे से अधिकाश ग्रन्थ काल का ग्रास वन चुके हैं। आचार्य हरिभद्र-सूरिजी के ग्रन्थो को वने तो सैकडो वर्ष हो चुके हैं, परन्तु स्वय श्री वीरगणि की शिष्यहिता टीका भी वर्षो पहले नष्टप्राय हो चुकी है, आज उसका आदि तथा अन्त का थोड़ा-थोड़ा भाग शेप रहा है, यही दशा हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थो की हुई है।

टीका के उपोद्घात मे श्री वीरगणिजी लिखते है : 'दशवैकालिक श्रुतस्कन्ध पर श्री भद्रवाहु स्वामी ने निर्युक्ति वनाई है, उसमे पिण्डैषणा नामक पचम अध्ययन का ग्रन्थ अधिक होने से उसका "पिण्डनिर्युक्ति" यह नाम देकर शेष ग्रन्थ से इसे पृथक् किया, वास्तव मे पिण्डनिर्युक्ति ही दशवैकालिक निर्युक्ति है।

विद्वान् आचार्य वीरगणि की प्रस्तुत शिष्यहिता टीका वडे महत्त्व की कृति थी, परन्तु दुर्भाग्य-योग से आज वह नष्टप्राय हो चुकी है, यह यदि सम्पूर्ण विद्यमान होती तो क्षमारत्नजी को अवचूरि और माणिक्यशेखर को दीपिका लिखने का साहस ही पही होता, ऐसी वीरगणि की शिष्यहिता विशद विवरण करने वाली टीका थी। इसके विशद विवरण के सम्बन्ध मे हम एक उदाहरण उपस्थित करेंगे। सूत्रो मे आने वाले "पायपुछण और रयहरण" नामक जैन श्रमणो के दो उपकरणो के विवरण के सम्बन्ध मे जैन टीकाकारो मे वडा भ्रम फैला हुआ है, श्री अभयदेवसूरि जैसे टीकाकार "पायपुछण" और "रयहरण" को एक दूसरे का पर्याय मानते थे, जहा

"पायपुछरण" शब्द आया है वहा सर्वत्र "पादप्रौञ्छनक-रजोहरण" यह अर्थ किया है, कल्पसूत्र की सामाचारी मे आने वाले इन दो शब्दो की भी यही व्याख्या की गई है। पाक्षिक सूत्र मे आने वाले "क्षामरणक पाठ" मे भी हस्तलिखित प्रतियो मे "पायपुछरण वा, रयहरण वा" इस प्रकार का अब भी पाठ विद्यमान है, परन्तु साहित्य का प्रकाशन होने के वाद सशोधक-सम्पादको ने "रयहरण" शब्द को निकालकर केवल "पायपुछरण" शब्द रख छोडा है, यह एक प्रकार की महत्त्वपूर्ण भूल प्रचलित की है, कल्प टीका-कारो ने भी जहां कही "पायपुछरणं" शब्द आया वहा "रजोहरण" अर्थ लिख दिया, परन्तु यह नही सोचा कि भिक्षु, कही भी कार्य निमित्त बाहर जाता है, वहा अपनी "उपधि" वस्त्र, पात्र, पादप्रौञ्छन" आदि दूसरे श्रमरण को सम्भालने के लिए सौंप कर जाता है, यदि "पादप्रौञ्छन–रजोहरण होता तो साधु दूसरो को सौंप कर कैसे जाता ? क्योकि "रजोहरण" तो प्रति साधु व्यक्ति के पास एक ही होता है, और वह प्रत्येक के पास रहता है, किसी को सौंपा नही जाता। इस सम्वन्ध मे हमने जो निर्णय किया था कि "पादप्रोछन" रजोहरण नही किन्तु उसके ऊपर वान्धे जाने वाले ऊनी वस्त्रखण्ड का नाम होना चाहिए, जो आजकल 'निसिथिया" कहलाता है, इसका खरा नाम "निषद्या" है, जिसका अर्थ बैठने के समय विछाने का आसन होता है, क्योकि इसका प्रमाण भी शास्त्र मे एक हाथ चार अगुल का वताया है। पूर्वकाल मे जव विछाने के ऊनी आसन आजकल की तरह जुदा नही रखते थे, तव प्रसग आने पर इस वस्त्रखण्ड को जुदा पाड़ कर पग पोछे जाते थे और वैठने के प्रसग पर जमीन पर बिछाया भी जाता था, परन्तु मध्यकालीन टीकाकारो ने इसके सम्वन्ध मे कोई स्पष्टीकरण नही किया था, जैसा कि आचार्य वीरगणी ने अपनी शिष्यहिता टीका मे किया है। साधुओ के उपकरणो का निरूपण करते हुए वे लिखते है ·

"पात्रस्य–भाजनस्य प्रत्यवतार–परिकर– "पत्तगवज्जोयत्ति" पात्रक वर्ज्जक एव–पतद्गृहरहित एव पात्रनिर्योग–पात्रकवन्धादिक षड्विधं भाजनोपकरण तथा द्वे-द्विसंख्ये निषद्ये, पुना रजोहरण–उपकरणविशेष-रूप.–पुनः ज्ञेय इति शेष. अब्भितरत्ति अभ्भितरा-मध्यवर्तिनी, तथा वाह्या-

वहिर्वर्तिनी, चैवेति समुच्चये, इह सम्प्रति या दशिकादिभि सह दण्डिका क्रियते सा आगमविधिना केवलैव स्यात्तस्या निपद्यात्रय, स्यात्तन्मीलित रजोहरण भण्यते तत्रैका दण्डिका यास्तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वैकहस्तदीर्घोर्ण्णा-मयादिकवलीखण्डरूपा स्यात्तस्याश्चाग्रे दशिका. स्यु', ता च सदशिकामग्रे-रजोहरणशब्देन भणिष्यतीत्यसौ नात्र ग्राह्या, द्वितीया त्वेनामेव तिर्यग् वहिर्वेष्टकैराच्छादयन्त्येकहस्तविस्तरादि किंचिदधिकैकहस्त दीर्घा वस्त्रमयी स्यात्, साऽत्राऽभ्यन्तरेति ग्राह्या, तृतीया त्वेतस्या एव बहिस्तिर्यग् वेष्टकान् कुर्वती चतुरगुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्र कवलमयी स्यात्, सा चाधुनो-पवेशनोपकारित्वात्पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, दण्डिका तूपकरणसख्याया न गण्यते, रजोहरस्योपष्टम्भिका मात्रत्वेन विवक्षितत्वादिति।"

'पात्र का प्रत्यवतार, उसके परिकर को कहते हैं, और पात्रपरिकर जो पात्रवन्धादिक छ प्रकार का होता है, जिसमें पात्र शामिल नही होता; उसे 'पात्रनिर्योग' भी कहते हैं, तथा दो निषद्याए और रजोहरण जो उपकरण विशेष होता है उसका स्वरूप इस प्रकार का होता है, ऊपर जो दो निषद्याए कही हैं, उनमे से एक अभ्यन्तर वर्तिनी तथा दूसरी बाह्य निपद्या सूती कपडे की होती है, आजकल दशी आदि के साथ डाडी रखी जाती है, वह आगम विधि के अनुसार या अकेली होती है, इस दशी युक्त कम्वलखण्ड के साथ दो निषद्याएँ मिलाने से रजोहरण बनता है। तात्पर्य यह है कि रजोहरण मे डाडी पर वीटने का कम्वलखण्ड, जो विस्तार मे तीन आटे आए उतना और लम्वाई मे हाथ भर लम्बा होता है, उसके आगे दशिया रहती हैं, उसी ऊर्णा वस्त्रखण्ड को जिसके आगे दशिया संलग्न हैं, रजोहरण कहते हैं, इसको दो निषद्याओ मे न समझना चाहिए, इसके ऊपर वीटा जाने वाला सूती वस्त्रखण्ड जो विस्तार मे एक हाथ के लगभग होता है और लम्बाई मे एक हाथ से कुछ अधिक, इसको वस्त्रमयी निषद्या कहते हैं, इसको अभ्यन्तर निषद्या समझना चाहिए। तीसरी इसी के ऊपर वीटी जाने वाली कम्वलमयी निपद्या होती है, जो एक हाथ चार अंगुल समचौरस होती है और तीसरी यह निषद्या आजकल बैठने के काम मे ली जाती है, इसलिए यह "पादप्रोञ्छनक" इस नाम से प्रसिद्ध

है, रजोहरण के भीतर की दडी उपकरण मे परिगणित नही है, इसको रजोहरण की उपष्टम्भिका मात्र माना जाता है ।

आचार्य श्री वीरगणी वसतिवासी और वैहारिक चन्द्रगच्छ मे चन्द्र समान श्री समुद्रघोप सूरि के शिष्य श्री ईश्वरगणी के शिष्य थे। आपका सरवालक गच्छ था। पिण्डनिर्युक्ति की यह वृत्ति आचार्य श्री वीरगणी ने कर्करोणिका पार्श्ववर्ति वटपद्र ग्राम (वडोदा) मे रहकर विक्रम स० ११६० मे निर्मित की। इसके निर्माण मे ईश्वरगणी के शिष्य आचार्य श्री महेन्द्रसूरि, श्री देवचन्द्र गणी और द्वितीय देवचन्द्र गणी इन तीनो ने आपको अन्य कार्यप्रवृत्तियो से निवृत्त रखकर सहायता की है और अणहिल पाटक नगर मे आचार्य श्री नेमिचन्द्रसूरि श्री जिनदत्तसूरि आदि आचार्यों ने उपयोगपूर्वक इसका सशोधन किया है। इस पर भी किसी को इसमे कोई दोष दृष्टिगोचर हो तो मेरे पर कृपा कर सुधार दे, ऐसी आपने प्रार्थना की है। इस वृत्ति मे ग्रन्थ-प्रमाण ७६७१ श्लोक है।

(३) पिण्डनिर्युक्ति-दीपिका :

माणिक्यशेखरीय दीपिका के उपोद्घात मे टीकाकार लिखते हैं कि आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पहला और दशवैकालिक का पाचवा अध्ययन पिण्डैपणा का निरूपण करता है। इसकी निर्युक्ति महार्थक होने से श्री भद्रवाहु ने पृथग् वनाई जो "पिण्डनिर्युक्ति" के नाम से ही प्रसिद्ध है। दशवैकालिक सूत्र के पचम अध्ययन की निर्युक्ति सक्षिप्तार्थिका है, तव यह विस्तृतार्था है, इन कारणो से भी इसका पृथक्करण उपयोगी माना जा सकता है।

दीपिका का वहुत ही अल्प भाग प्राप्त हुआ है, अत. इसके सम्वन्ध मे अधिक लिखना अप्रासगिक है।

दीपिका की समाप्ति करते हुए श्री माणिक्यशेखर ने निर्युक्ति के निर्माता श्री भद्रवाहु स्वामी को और इसका विवरण करने वाले श्री मलयगिरिसूरिजी को नमस्कार किया है और लिखा है—आचार्य मलय-

गिरिजी की टीका के विषमार्थ का मैंने विवेचन किया है। अन्त में आपने अपने गच्छपति और गुरु मेरुतुंग सूरिजी को याद किया है, ग्रन्थ के निर्माण-समय आदि के सम्बन्ध में कुछ नही लिखा है तथापि आचार्य श्री मेरुतुगसूरि के शिष्य होने के नाते आप विक्रम की पन्द्रहवीं शती के ग्रन्थकार हैं इसमे कोई शका नही रहती। आपके गुरु मेरुतुगसूरि का समय विक्रमीय पन्द्रहवी शती का मध्य भाग होने के कारण आपका भी सत्ता समय पन्द्रहवी शती का उत्तरार्ध है, इसमे शंका को स्थान नही है।

पिण्डविशुद्धि : श्री जिनवल्लभ गणिकृता विवरणकार श्री चन्द्रसूरि।

पिण्डविशुद्धिप्रकरण पिण्डनिर्युक्ति का ही सक्षिप्त रूप है। पिण्ड-निर्युक्ति का गाथापरिमाण ६७१ है, तब उसका साराश लेकर पिण्ड-विशुद्धि प्रकरण श्री जिनवल्लभ गणीजी ने केवल एक सौ तीन गाथाओं मे समाप्त किया है। पिण्डविशुद्धि के ऊपर तीन चार टीकाएं हैं, जिनमें से प्रस्तुत टीका के निर्माता आचार्य श्री चन्द्रसूरि हैं, जो वैहारिक आचार्य श्री शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य और धनेश्वरसूरिजी के शिष्य थे। प्रस्तुत टीका का निर्माण आपने सौराष्ट्र के वेलाकुल नगर देवपाटक अर्थात् प्रभासपाटण मे रहते हुए विक्रम सवत् ११७८ के वर्ष मे किया है।

पिण्डविशुद्धिकार श्री जिनवल्लभगणि के सम्बन्ध मे जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे दो मत हैं—खरतर गच्छ के अनुयायी विद्वान् इनको नवांगवृत्तिकार आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी का पट्टधर शिष्य मानते है, तब तपागच्छादि अन्य गच्छो के विद्वान् इनको खरतर गच्छ वालों के जिनवल्लभसूरि से भिन्न मानते हैं। उनका कहना है कि खरतर गच्छ वालों के कथनानुसार प्रस्तुत जिनवल्लभ महावीर के षट्कल्याणक मानने वाले तथा विधिचैत्य आदि नयी परम्पराओं का आविष्कार करने वाले जिनवल्लभ होते, तो इनके ग्रन्थो पर अन्य सुविहित आचार्य टीका विवरण आदि नही बनाते।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की मान्यताओ से हमारा मतभेद है। हमारा मत है कि प्रस्तुत पिण्डविशुद्धिकार जिनवल्लभ श्री अभय-

देवसूरिजी के चारित्रोपसम्पन्न शिष्य नही, किन्तु ज्ञानोपसम्पन्न शिष्य थे। जब तक वे अभयदेवसूरि के पास श्रुतोपसम्पदा लेकर पढते रहे तब तक वे अभयदेवसूरिजी के प्रतीच्छक शिष्य के रूप मे रहे और आगम-वाचना पूरी करके अभयदेवसूरिजी की आज्ञा से वे अपने मूल गुरु के पास गए तब से वे अपने पूर्व गुरु कूर्चपुरीय गच्छ के आचार्य श्री जिनेश्वरसूरिजी के ही शिष्य बने रहे। इतना जरूर हुआ कि अभयदेवसूरि तथा उनके शिष्यों के साथ रहने के कारण वे वैहारिक अवश्य बने थे और अन्त तक उसी स्थिति मे रहे।

खरतर गच्छ के पट्टावलीलेखक जिनवल्लभगणी के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की एक दूसरी से विरुद्ध बाते लिखते हैं। कोई कहते है—वे अपने मूल गुरु को मिलकर वापस पाटन आए, और श्री अभयदेवसूरिजी से उपसम्पदा लेकर उनके शिष्य बने। तब कोई लिखते हैं कि वे प्रथम से ही चैत्यवास से निर्विण्ण थे और अभयदेवसूरिजी के पास आकर उनके शिष्य बने, और आगम सिद्धान्त का अध्ययन किया। खरतर गच्छीय लेखको का एक ही लक्ष्य है कि जिनवल्लभ को श्री अभयदेवसूरि का पट्टधर बनाकर अपने सम्प्रदाय का सम्बन्ध श्री अभयदेवसूरि से जोड देना। कुछ भी हो, परन्तु श्री जिनवल्लभगणी के कथनानुसार वे अन्त तक कूर्चपुरीय आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि के ही शिष्य बने रहे है, ऐसा इनके खुद के उल्लेखो से प्रमाणित होता है। विक्रम स० ११३८ मे लिखे हुए कोट्याचार्य की टीका वाले विशेषावश्यक भाष्य की पोथी के अन्त मे जिनवल्लभगणी स्वयं लिखते है—

यह (१) पुस्तक प्रसिद्ध श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ गणी की है।

इसी प्रकार जिनवल्लभ गणी प्रश्नोत्तरशतक नामक अपनी कृति मे लिखते है कि "जिनेश्वराचार्यजी मेरे गुरु हैं," यह प्रश्नोत्तरशतक काव्य जिनवल्लभ गणी ने श्री अभयदेव सूरिजी के पास से वापस जाने के बाद

बनाया था, ऐसा उसी कृति से जाना जाता है क्योकि उसी काव्य मे एक भिन्न पद्य मे श्री अभयदेव सूरिजी की भी प्रशसा की है।

जिनवल्लभ गरणी के "रामदेव" नामक एक विद्वान् शिष्य थे, जिन्होने वि० स० ११७३ मे जिनवल्लभ सूरि कृत "षडशीति-प्रकरण," की चूर्णि बनाई है, जिसमे उन्होने लिखा है कि जिनवल्लभ गरणीजी ने अपने तमाम चित्र काव्य स० ११६९ मे चित्रकूट के श्री महावीर मन्दिर मे शिलाओ पर खुदवाए थे और मन्दिर के द्वार की दोनो तरफ उन्होने धर्म-शिक्षा और सघ-पट्टक शिलाओ पर खुदवाए थे, ऐसा प० हीरालाल हसराज कृत "जैन धर्मनो प्राचीन इतिहास" नामक पुस्तक के ३८ वें तथा ३९ वे पृष्ठ मे लिखा है ।

उपाध्याय धर्मसागरजी ने जिनवल्लभ गरणी कृत "अष्टसप्ततिका" नामक काव्य के कुछ पद्य "प्रवचन परीक्षा" मे उद्धृत किए है, उनमें से एक पद्य मे श्री अभयदेव सूरिजी के चार प्रमुख शिष्यो की प्रशसा की है और एक पद्य मे उन्होने श्री अभयदेव सूरिजी के पास श्रुत सम्पदा लेकर अपने शास्त्राध्ययन की सूचना की है। इत्यादि बातो से यही सिद्ध होता है कि जिनवल्लभ गरणी जो कूर्चपुरीय गच्छ के आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे, वे अपने गुरु की आज्ञा से अपने गुरु भाई जिनशेखर मुनि के साथ आगमों का अध्ययन करने के लिए, पाटन श्री अभयदेव सूरिजी के पास गए थे और उनके पास ज्ञानोपसपदा ग्रहण करके सूत्रो का अध्ययन किया था। खरतर गच्छ के पट्टावलीलेखक शायद उपसम्पदा का अर्थ ही नही समझे, इसलिए कोई उनके पास दीक्षा लेने का लिखते हैं तो कोई "आज से हमारी आज्ञा मे रहना" ऐसा उपसम्पदा का अर्थ करते हैं, जो वास्तविक नही है। उपसम्पदा अनेक प्रकार की होती है—ज्ञानोपसम्पदा, दर्शनोपसम्पदा, चारित्रोपसम्पदा, मार्गोपसम्पदा आदि। इनमे प्रत्येक उपसम्पदा जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट प्रकार से तीन तरह की होती है, ज्ञान तथा दर्शन प्रभावक शास्त्र पढने के लिये ज्ञानोपसम्पदा तथा दर्शनोपसम्पदा दी-ली जाती है, चारित्रोपसम्पदा चारित्र को शुद्ध पालने के भाव से बहुधा ली जाती है और वह प्रायः यावज्जीव रहती है, ज्ञानोपसम्पदा तथा दर्शनोपसम्पदा कम से कम ६ मास

की और अधिक से अधिक १२ वारह वर्ष की होती थी। मार्गोपसम्पदा लम्बे विहार मे मार्ग जानने वाले आचार्य से ली जाती थी और मार्ग का पार करने तक रहती थी। उपसम्पदा स्वीकार करने के वाद उपसम्पन्न साधु को अपने गच्छ के आचार्य तथा उपाध्याय का दिग्वन्ध छोडकर उपसम्पदा देने वाले गच्छ के आचार्य तथा उपाध्याय का दिग्वन्धन करना होता था और उपसम्पदा के दर्म्यान उपसम्पन्न श्रमण अपने गच्छ तथा आचार्य उपाध्याय की आज्ञा न पालकर उपसम्पदा प्रदायक गच्छ के आचार्य उपाध्याय की आज्ञा मे रहते थे और उन्ही के गच्छ की सामाचारी का अनुसरण करते थे, इत्वर (सावधिक) उपसम्पदा की अवधि समाप्त होने के उपरान्त उपसम्पन्न व्यक्ति उपसम्पदा देने वाले आचार्य की आज्ञा लेकर अपने मूल गुरु के पास जाता था, और उनके दिग्वन्धन मे रहता था।

श्री जिनवल्लभ गणी ने इसी प्रकार ज्ञानोपसम्पदा लेकर अभयदेव सूरिजी से आगमो की वाचना ली थी और वाद मे वे अपने मूल गुरु जिनेश्वर सूरिजी के पास गए थे। जिनेश्वर सूरि चैत्यवासी होने से शिथिलाचारी थे, तव जिनवल्लभ वैहारिक श्रमण समुदाय के साथ रहने मे स्वय चैत्यवासी न वनकर वैहारिक रहना चाहते थे, इसीलिये अपने मूल गुरु से मिलकर वे वापस पाटण चले गए थे। उनके दुवारा पाटण जाने तक श्री अभयदेव सूरिजी पाटण मे थे या विहार करके चले गये थे, यह कहना कठिन है, फिर भी इतना कहा जा सकता है कि नवागी वृत्तियो के समाप्त होने तक वे पाटण मे अवश्य रहे होगे, क्योकि तत्कालीन पाटण के जैन श्रमण सघ के प्रमुख आचार्य श्री द्रोण के नेतृत्त्व मे विद्वानो की समिति ने अभयदेव सूरि निर्मित सूत्रवृत्तियो का सशोधन किया था, आगमो की वृत्तिया विक्रम सवत् ११२८ तक मे वनकर पूरी हो चुकी थी, इसलिए इसके वाद श्री अभयदेव सूरिजी पाटण मे अधिक नही रहे होंगे, ११२८ के वाद मे वनी हुई इनकी कोई कृति उपलव्ध नही होती, लगभग इसी अर्से मे हरिभद्रसूरीय पञ्चाशक प्रकरण की टीका आपने "धवलका" मे वनाई है, इससे भी यही सूचित होता है, कि आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी ने ११२८ मे ही पाटण छोड़ दिया था। इस समय

के वाद का इनका कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नही हुआ, इससे हमारा अनुमान है कि आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी ने अपने जीवन के अन्तिम दशक मे शारीरिक अस्वास्थ्य अथवा अन्य किसी प्रतिवन्धक कारण से साहित्य के क्षेत्र मे कोई कार्य नही किया। आपका स्वर्गवास भी पाटण से दूर "कपड-वंज" मे हुआ था, आपके स्वर्गवास का निश्चित वर्ष भी श्री अभयदेव सूरि के अनुयायी होने का दावा करने वालो को मालूम नही है, इस परिस्थिति में यही मानना चाहिये कि श्री अभयदेव सूरिजी विक्रम सवत् ११२८ के वाद गुजरात के मध्य प्रदेश मे ही विचरे है। खरतर गच्छ के अर्वाचीन किसी किसी लेखक ने इनके स्वर्गवास का समय सं० ११५१ लिखा है, तव किसी ने जिनवल्लभ गणी को स० ११६७ मे अभयदेव सूरि के हाथ से सूरि-मन्त्र प्रदान करने का लिखकर अपने अज्ञान का प्रदर्शन किया है। अभयदेव सूरिजी ११५१ अथवा ११६७ तक जीवित नहीं रहे थे, अनेक अन्यगच्छीय पट्टावलियो मे इनका स्वर्गवास ११३५ मे और मतान्तर से ११३९ मे लिखा है, जो ठीक प्रतीत होता है, आचार्य जिनदत्त कृत "गणधर-सार्धशतक" की वृत्तियो मे श्री सुमति गणि तथा सर्वराज गणि ने भी अभयदेव सूरिजी के स्वर्गवास के समय की कुछ भी सूचना नही की, इसलिए "वृहद् पौषध-शालिक" आदि गच्छों की पट्टावलियो मे लिखा हुआ अभयदेव सूरिजी का निर्वाण समय ही सही मान लेना चाहिए।

अभयदेव सूरि का स्वर्गवास मतान्तर के हिसाव से सवत् ११३९ मे मान लें तो भी सवत् ११६७ का अन्तर २८ वर्ष का होता है। खरतर गच्छ के तमाम लेखको का ऐकमत्य है कि सवत् ११६७ मे जिनवल्लभ गणि को देवभद्र सूरि ने आचार्य अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर प्रतिष्ठित कर उन्हे आचार्य वनाया था। खरतर गच्छ के लगभग सभी लेखको का कथन है, कि अभयदेव सूरिजी स्वय जिनवल्लभ को अपना पट्टधर वनाना चाहते थे, परन्तु चैत्यवासि-शिष्य होने के कारण गच्छ इसमे सम्मत नही होगा, इस भय से उन्होने जिनवल्लभ को आचार्य नही वनाया, परन्तु अपने शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य को कह गये

थे कि समय पाकर जिनवल्लभ गणि को आचार्य पद प्रदान कर देना। प्रसन्नचन्द्र सूरि को भी अपने जीवन दर्मियान जिनवल्लभ को आचार्य पद देने का अनुकूल समय नही मिला और अपने अन्तिम समय मे इस कार्य को सफल करने की सूचना देवभद्र सूरि को कर गए थे और सवत् ११६७ मे आचार्य देवभद्र ने कतिपय साधुओ के साथ चित्तौड जाकर जिनवल्लभ गणि को आचार्य पद से विभूषित किया ।

उपर्युक्त वृत्तान्त पर गहराई से सोचने पर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला तो यह कि यदि अभयदेव सूरिजी ने जिनवल्लभ गणि को अपना शिष्य वना लिया था और विद्वत्ता आदि विशिष्ट गुणो से युक्त होने के कारण उसे आचार्य वनाना चाहते थे, तो गच्छ को पूछकर उसे आचार्य वना सकते थे । वर्धमान आदि अपने चार शिष्यो को आचार्य वना लिया था और गच्छ का विरोध नही हुआ, तो जिनवल्लभ के लिये विरोध क्यो होता ? जिनवल्लभ चैत्यवासी शिष्य होने से उसके आचार्य पद का विरोध होने की वात कही जाती है, जो थोथी दलील है, अभयदेव सूरिजी का शिष्य हो जाने के वाद वह चैत्यवासियो का शिष्य कैसे कहलाता, यह समझ मे नही आता। मान लिया जाय कि जिनवल्लभ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने के कार्य मे श्री अभयदेव सूरिजी के शिष्य-परिवार मे दो मत थे, तो चौवीस वर्ष के वाद उन्हे आचार्य कैसे बनाया ? क्या उस समय अभयदेव सूरिजी का शिष्यसमुदाय एकमत हो गया था ? अथवा समुदाय मे दो भाग पाडकर आचार्य देवभद्र ने यह कार्य किया था ? जहा तक हमे इस प्रकरण का अनुभव है उक्त प्रकरण मे कुछ और ही रहस्य छिपा हुआ था, जिसे खरतर गच्छ के निकटवर्ती आचार्यो ने प्रकट नही किया और पिछले लेखक इस रहस्य को खोलने मे असमर्थ रहे हैं। खरतर गच्छ के प्राचीन ग्रन्थो के अवगाहन और इतर प्राचीन साहित्य का मनन करने से हमको प्रस्तुत प्रकरण का जो स्पष्ट दर्शन मिला है, उसे पाठक गण के ज्ञानार्थ नीचे उपस्थित करते हैं—

जिनवल्लभ वर्षो तक अभयदेव सूरि के शिष्यसमुदाय के साथ रहे थे, वे स्वयं विद्वान् एव क्रियारुचि आत्मा थे, वह समय अधिकाश

शिथिलाचारी साधुओ का था। उनका शैथिल्य देखकर जिनवल्लभ के हृदय मे दुःख होता था। अच्छे वक्ता होने के कारण वे शिथिलाचार के विरुद्ध बोला करते थे। देवभद्र आदि कतिपय अभयदेव सूरि के शिष्य भी उन्हे उभाड़ते और चैत्यवासियो के विरुद्ध बोलने को उत्तेजित किया करते थे। धीरे धीरे जिनवल्लभ गणी का हृदय निर्भीक होता गया और चैत्यवासियो के विरोध के प्रचार के साथ अपने वैहारिक साधुओ के पालने के नियम बनाने तथा अपने नये मन्दिर बनाने के प्रचार को खूब वढ़ाया, राज्य से अपने विधि चैत्य के लिए जमीन मागी गई। स्थानिक सघ के विरोध करने पर भी जमीन राज्य की तरफ से दे दी गई। बस फिर क्या था, जिनवल्लभ गणी तथा इनके पृष्ठपोषक साधु तथा गृहस्थो के दिमाग को गर्मी हद से ऊपर उठ गई और जिनवल्लभ तो खुल्ले आम अपनी सफलता और स्थानिक चैत्यवासियो की बुराइयो के ढोल पीटने लगे। कहावत है कि ज्यादा घिसने से चन्दन से भी आग प्रकट हो जाती है, पाटन मे ऐसा ही हुआ। जिनवल्लभ गणी के निरकुश लेक्चरो से स्थानिक जैन सघ क्षुब्ध हो उठा, सभी गच्छो के आचार्यों तथा गृहस्थो ने सघ की सभा बुलाई और जिनवल्लभ गणी को सघ से बहिष्कृत कर पाटन मे ढिढोरा पिटवाया कि—

"जिनवल्लभ के साथ कोई भी पाटणवासी आचार्य और श्रमण-सघ, किसी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खे, इस पर भी कोई साधु इसके साथ व्यवहार रखेगा तो वह भी जिनवल्लभ की तरह सघ से वहिष्कृत समझा जायगा।"

पाटण के जैन सघ की तरफ से उपर्युक्त जाहिर होने के बाद जिनवल्लभ गणिजी की तूती सर्वथा वन्द हो गई, उनके लेक्चर सुनने के लिए सभाओ का होना बन्द हो गया। उनके अनुयायियो ने उन्हे सलाह दी कि पाटण मे तो आपके व्याख्यानो से अब कोई लाभ न होगा, अब वाहर गावो मे प्रचार करना लाभदायक होगा। गणीजी पाटण छोड़कर उसके परिसर के गावो मे चले गए और प्रचार करने लगे, परन्तु उनके सघ-वाहर होने की वात उनके पहले ही पवन के साथ गाँवो मे पहुच

चुकी थी, वहाँ भी इनके व्याख्यानो मे आने से लोग हिचकिचाते थे। थोडे समय के बाद गणीजी वापस पाटण आए और अपने हितचिन्तकों से कहा—गुजरात मे फिरने से तो अब विशेष लाभ न होगा। गुजरात को छोड़कर अब किसी दूसरे देश मे विहार करने का निर्णय किया, उनके समर्थको ने बात का समर्थन किया, आचार्य देवभद्र ने जिनशेखर को, जो जिनवल्लभ का गुरु भाई था, जिनवल्लभ के साथ जाने की आज्ञा दी। परन्तु जिनशेखर ने सघ बाहर होने के भय मे जिनवल्लभ गणी के साथ जाने से इन्कार कर दिया, आचार्य देवभद्र जिनशेखर के इस व्यवहार से बहुत ही नाराज हुए तथापि जिनशेखर ने अपना निर्णय नही बदला और जिनवल्लभ गणी को गुजरात छोड़कर उत्तर की तरफ अकेले विहार करना पडा। मरुकोट होते हुए वे चातुर्मास्य आने के पहले चित्तौड़ पहुचे। यद्यपि बीच मे मारवाड जैसा लम्बा-चौडा देश था और कई बड़े २ नगर भी थे, परन्तु जिनवल्लभ गणी का पाटण में जो अपमान हुआ था, उसकी हवा सर्वत्र पहुंच चुकी थी। चित्तौड़ मे भी जैनो की पर्याप्त वस्ती थी और अनेक उपाश्रय भी थे, इसपर भी उन्हे चातुर्मास्य के योग्य कोई स्थान नही मिला। खरतरगच्छ के लेखक उपाश्रय आदि न मिलने का कारण चैत्यवासियो का प्रावल्य बताते हैं, जो कल्पना मात्र है। चैत्यवासी अपनी पौषधशालाओ मे रहते थे और चैत्यो की देखभाल अवश्य करते थे, फिर भी वैहारिक साधु वहाँ जाते तो उन्हे गृहस्थो के अतिरिक्त मकान उतरने के लिए मिल ही जाते थे। वर्धमान सूरि का समुदाय वैहारिक था और सर्वत्र विहार करता था फिर भी उसको उतरने के लिए मकान न मिलने की शिकायत नही थी, तब जिनवल्लभ गणी के लिए ही मकान न मिलने की नौबत कैसे आई? खरी बात तो यह है कि जिनवल्लभ गणी के पाटण मे संघ से वहिष्कृत होने की बात सर्वत्र प्रचलित हो चुकी थी, इसी कारण से उन्हे मकान देने तथा उनका व्याख्यान सुनने में लोग हिचकिचाते थे। इसीलिए जिनवल्लभ गणी को चित्तौड मे "चामुण्डा" के मठ मे रहना पडा था। यह सब कुछ होने पर भी जिन-वल्लभ गणी ने अपनी हिम्मत नही हारी। चित्तौड से प्रारम्भ कर बागड़ तथा उत्तर मारवाड़ के खास-खास स्थानो मे विहार कर अपना प्रचार

जारी रक्खा। भिन्न-भिन्न विषयो पर निबन्धो के रूप मे प्राकृत भाषा मे "कुलक" लिखकर अपने परिचित स्थानो मे उनके द्वारा धार्मिक प्रचार करते ही रहे। कुलको के पढने से ज्ञात होता है कि उस प्रदेश मे जाने के वाद जिनवल्लभ गणि ने अपने उपदेशो की भाषा साधारण रूप से बदल दी थी, पाटण मे चैत्यवासियों का खण्डन करने मे जो उग्रता थी, वह वदल चुकी थी। इतना ही नही "समय देखकर लिंगमात्र धारियो का भी सन्मान करने की सलाह देते थे"। विद्वत्ता तो थी ही, चारित्रमार्ग अच्छा पालते थे और उपदेशभक्ति भी अच्छी थी, परिणाम स्वरूप वागड आदि प्रदेशो मे आपने अनेक गृहस्थो को धर्ममार्ग मे जोडा।

उधर आचार्य देवभद्र और उनकी पार्टी के मन मे जिनवल्लभ का आचार्य बनाने की धुन लगी हुई थी। पाटण के जैन सघ मे भी पौर्णमिक तथा आचलिक गच्छो की उत्पत्ति तथा नई प्ररूपणाओ के कारण अव्यवस्था वढ गई थी, परिणाम स्वरूप आचार्य देवभद्र की जिनवल्लभ को चित्तौड जाकर आचार्य वनाने की इच्छा उग्र बनी। कतिपय साधुओ को, जो उनकी पार्टी मे शामिल थे, साथ मे लेकर मारवाड़ की तरफ विहार किया और जिनवल्लभ गणी, जो उस समय नागोर की तरफ विचर रहे थे, उन्हें चित्तौड आने की सूचना दी और स्वयं भी मारवाड मे होते हुए चित्तौड़ पहुचे और उन्हे आचार्य पद देकर आचार्य अभयदेव सूरि के पट्टधर होने की उदघोषणा की। इस प्रकार आचार्य देवभद्र की मण्डली ने अपनी चिरसचित अभिलाषा को पूर्ण किया।

श्री जिनवल्लभ गणी को आचार्य बनाकर अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर स्थापित करने का वृत्तान्त ऊपर दिया गया है। यह वृत्त खरतर गच्छ की पट्टावलियों के आधार से लिखा है। अब देखना यह है कि अभयदेव सूरिजी को स्वर्गवासी हुए अट्ठाईस वर्ष से भी अधिक समय हो चुका था, श्री अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर श्री वर्धमान सूरि, श्री हरिभद्र सूरि, श्री प्रसन्नचन्द्र सूरि और श्री देवभद्र सूरि नामक चार आचार्य वन चुके थे, फिर अट्ठाईस वर्ष के वाद जिनवल्लभ गणी को उनके पट्ट पर

स्थापित करने का क्या अर्थ हो सकता है ? इस पर पाठकगण स्वय विचार कर सकते है। शास्त्र के आधार से तो कोई भी आचार्य अपनी जीवित अवस्था मे ही अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियत कर देते थे। कदाचित् किसी आचार्य की अकस्मात् मृत्यु हो जाती तो उसकी जाहिरात होने के पहले ही गच्छ के गीतार्थ अपनी परीक्षानुसार किसी योग्य व्यक्ति को आचार्य के नाम से उद्घोषित करने के वाद मूल आचार्य के मरण को प्रकट करते थे। कभी कभी आचार्य द्वारा अपनी जीवित अवस्था मे नियत किये हुए उत्तराधिकारी के योग्यता प्राप्त करने के पहले ही मूल आचार्य स्वर्गवासी हो जाते तो गच्छ किसी अधिकारी योग्य गीतार्थ व्यक्ति को सौंपा जाता था। जिनवल्लभ गणी के पीछे न परिवार था न गच्छ की व्यवस्था, फिर इतने लम्वे समय के बाद उन्हे आचार्य वनाकर अभयदेव सूरिजी का पट्टधर क्यो उद्घोषित किया गया ? इसका खरा रहस्य तो आचार्य श्री देवभद्र जाने, परन्तु हमारा अनुमान तो यही है कि जिनवल्लभ गणी की पीठ थपथपाकर उनके द्वारा पाटण मे उत्तेजना फैलाकर वहा के सघ द्वारा गणिजी को सघ से वहिष्कृत करने का देवभद्र निमित्त बने थे, उसी के प्रायश्चित्त स्वरूप देवभद्र की यह प्रवृत्ति थी।

अव रही जिनवल्लभ गणी के खरतर-गच्छीय होने की वात, सो यह वात भी निराधार है। जिनवल्लभ के जीवन पर्यन्त "खरतर" यह नाम किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय के लिए प्रचलित नही हुआ था। आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि, उनके गुरु-भाई वुद्धिसागर सूरि तथा उनके शिष्य जिनचन्द्र सूरि तथा अभयदेव सूरि आदि की यथोपलब्ध कृतियाँ हमने पढी हैं। किसी ने भी अपनी कृतियो मे खरतर शब्द का प्रयोग नही किया। श्री जिनदत्त सूरि ने, जो जिनवल्लभ सूरि के पट्टधर माने जाते हैं, अपनी "गणधरसार्द्धशतक" नामक कृति मे पूर्ववर्ती तथा अपने समीपवर्ती आचार्यो की खुलकर प्रशसा की है, परन्तु किसी भी आचार्य को **खरतर पद** प्राप्त होने की सूचना तक नही की। जिनदत्त सूरि के "गणधर सार्द्ध-शतक" की वृहद्वृत्ति मे, जो विक्रम स० १२९५ मे श्री सुमति गणि द्वारा बनाई गई है, उसमे श्री वर्धमान सूरि से लेकर आचार्य श्री जिनदत्त

सूरि तक के विस्तृत चरित्र दिए हैं, परन्तु किसी आचार्य को "खरतर" विरुद प्राप्त होने की बात नही लिखी। सुमति गणिजी ने आचार्य जिनदत्त सूरि के वृत्तान्त मे ऐसा जरूर लिखा है कि जिनदत्त सूरि स्वभाव के वहुत कड़क थे, वे हर किसी को कड़ा जवाब दे दिया करते थे। इसलिए लोगों मे उनके स्वभाव की टीका-टिप्पणियाँ हुआ करती थी। लोग वहुधा उन्हे 'खरतर' अर्थात् कठोर स्वभाव का होने की शिकायत किया करते थे। परन्तु जिनदत्त जन-समाज की इन वातो पर कुछ भी ध्यान नही देते थे। धीरे धीरे जिनदत्त सूरिजी के लिए "खरतर" यह शब्द प्रचलित हुआ था, ऐसा सुमतिगणि कृत "गणधरसार्द्धशतक" की टीका पढ़ने वालो की मान्यता है❀ यद्यपि "खरतर" शब्द का खास सम्बन्ध जिनदत्त सूरिजी से था, फिर भी इन्होने स्वय अपने लिये किसी भी ग्रन्थ मे "खरतर" यह विशेषण नही लिखा। जिनदत्त सूरिजी तो क्या इनके पट्टधर श्री जिनचन्द्र, इनके शिष्य श्री जिनपति सूरि, जिनपति के पट्टधर जिनेश्वर सूरि और जिनेश्वर के पट्टधर जिनप्रवोध सूरि तक के किसी भी आचार्य ने "खरतर" शब्द का प्रयोग अपने नाम के साथ नही किया। वस्तुस्थिति यह है कि विक्रम की चउदहवी शती के प्रारम्भ से खरतर शब्द का प्रचार होने लगा था। शुरु शुरु मे वे अपने को "चन्द्र-गच्छीय" कहते थे, फिर इसके साथ "खरतर" शब्द भी जोड़ने लगे। इसके प्रमाण मे हम आवू देलवाड़ा के जैन मन्दिर का एक शिलालेख उद्धृत करते हैं।

❀ "The Kharatara sect then arose according to on old gatha in samavat 1204 Jinadatta was a proud man, and even in his pert answer to others mentioned by Sumatigani pride can be clearly datected. He was therefore, called Kharatara by the people, but he glaried in the new appellation and willingly accepted it"

"स० १३०८ वर्षे फाल्गुन वदि ११ शुक्रे श्री जावालिपुरवास्तव्य चन्द्र-गच्छीय खरतर सा० दूलह सुत सधीरण तत्सुत सा० वीजा तत्पुत्र सा० सलषणेन पितामही राजू, माता साऊ, भार्या माल्हणदेवि सहितेन श्री आदिनाथ सत्क सर्वांगाभरणस्य साउ० श्रेयोऽर्थं जार्णोद्धार. कृत. ॥"

उपर्युक्त लेख जालौर के एक सद्‌गृहस्थ का है, जिसका नाम सलखण था। वह अपने को चन्द्र-गच्छीय खरतर मानता था। उसने आबू पर के विमलवसहि के श्री आदिनाथजी को पहनाने के आभूषणों का जीर्णोद्धार स० १३०८ के फाल्गुन वदि एकादशी शुक्रवार के दिन करवाया था, जिसकी याद मे उपर्युक्त लेख खुदवाया था।

हमारे पढे हुए "खरतर" नाम के प्रयोग वाले लेखो में ऊपर का लेख सब से प्राचीन है।

उक्त लेख मे "खरतर" शब्द ही उल्लिखित है, परन्तु इसके वाद ५० वर्ष के उपरान्त "खरतर" शब्द के साथ "गच्छ" शब्द लिखने का भी प्रारम्भ हो गया था। श्री जिनप्रबोध सूरिजी के शिष्य श्री दिवाकराचार्य अपने परिवार के साथ आवू तीर्थ की यात्रार्थ गए। तब निम्न लेख अपनी यात्रा के स्मरणार्थ लिखवाकर गए थे, जो नीचे दिया जाता है—

"सवत् १३६० आषाढ वदि ४ श्री खरतर गच्छे श्री जिनेश्वर सूरि पट्टनायक श्री जिनप्रबोध सूरि शिष्य श्री दिवाकराचार्याः पडि० लक्ष्मीनिवास गणि—हेमतिलक गणि—मतिकलश मुनि—मुनि चन्द्रमुनि—अमररत्न गणि—यशकीर्ति मुनि—साधु-साध्वी चतुर्विध श्री विधिसघ-सहिता श्री आदिनाथ श्री नेमिनाथ देवाधिदेवौ नित्यं प्रणमति ॥"

सवत् १३०८ के लेख में एक गृहस्थ के नाम के आगे "चन्द्रगच्छीय खरतर" ये शब्द लिखे थे, परन्तु लगभग ५० वर्ष मे "चन्द्रकुल, चन्द्रगच्छ" जो पहले सार्वत्रिक रूप से लिखे जाते थे उनका प्रचार कम हुआ और "खरतर" शब्द के आगे "गच्छ" शब्द लिखा जाने लगा और आचार्य तथा श्रमणो के नामो के साथ उसका प्रयोग होने लगा।

संवत् १३७८ तक के जिनकुशल सूरिजी के किसी भी लेख मे 'खरतर' अथवा "खरतर गच्छ" शब्द दृष्टिगोचर नही होते । हमारे पास श्री जिनचन्द्र सूरि शिष्य श्री जिनकुशल सूरि द्वारा पाटण के श्री शान्तिनाथ–विधिचैत्य मे सवत् १३७० मे प्रतिष्ठित श्री महावीर तथा श्री पद्मप्रभ जिनबिम्बो प्रतिष्ठालेख उपस्थित हैं । परन्तु उनमें अथवा उनके पूर्ववर्ती श्री जिनकुशल सूरिजी के किसी भी शिला-लेख मे अपने नाम के साथ "खरतर गच्छ" शब्द का प्रयोग नही मिलता। परन्तु सं० १३८१ से आपने भी प्राचीन परिपाटी बदलकर अपने नाम के साथ "खरतर-गच्छीय" विशेषण लिखने की परिपाटी प्रचलित कर दी थी, जो शत्रुजय के एक शिललेख से ज्ञात होता है। वह शिलालेख नीचे उद्घृत किया है—

"संवत् १३८१ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ-वारे खरतर-गच्छीय श्री जिनकुशल सूरिभि. श्री नमिनाथबिंब प्रतिष्ठित······ ··कारितं········ देवकुल········श्री मद्देवगुर्वाज्ञाचिंतामणिविभूपितमस्तकेन········" ॥

ऊपर के शिलालेखों से सिद्ध होता है, कि "खरतर" शब्द प्रारम्भ मे केवल श्री जिनदत्त सूरिजी का विशेषण मात्र था, परन्तु धीरे धीरे उनके अनुयायियो ने भी उसे अपनाया। पहले वे अपने को "चन्द्रकुलीन" अथवा "चन्द्र-गच्छीय" मानते थे, परन्तु चन्द्रकुल, अथवा चन्द्रगच्छ, साधारण व्यापक नाम थे । लगभग सभी गच्छ वाले अपने को चन्द्रकुलीन कहते थे । उस समय विशेष महत्त्व गच्छ शब्द का था, कुल शब्द केवल दिग्बन्ध के समय याद किया जाता था । प्राचीन चैत्यवासी और पौर्णमिक, आंचलिक, नवीन सुधारक श्रमण सम्प्रदाय अपने अपने समूह को गच्छ के नाम से प्रसिद्ध करते थे । इस परिस्थिति मे श्री जिनदत्त सूरि के अनुयायियो ने भी अपने सम्प्रदाय को "खरतर-गच्छ" के नाम से प्रकाश मे लाना ठीक समझा और विक्रम के पन्द्रहवें शतक के अन्त तक "खरतर-गच्छ" नाम सर्वव्यापक हो गया ।

ऊपर के विवरण से पाठकगण समझ सकते हैं कि श्री जिनवल्लभ गणि के समय में "खरतर" शब्द व्यवहार मे भी नही आया था, तब तत्कालीन अपने पूर्वज आचार्यों को खरतर कहने वाले लेखक कहा तक सत्यवादी हो सकते हैं ?

अब रही जिनवल्लभ गणिजी के ग्रन्थो की वात, हमारे कतिपय विद्वान् लेखक शिकायत करते हैं कि जिनवल्लभ गणि ने कई वातो मे उत्सूत्र प्ररूपणा की है, परन्तु इस विषय मे हम सहमत नही हो सकते। यथोपलव्ध जिनवल्लभ गणि के ग्रन्थो को हमने पढा है, परन्तु उनमे उत्सूत्र प्ररूपणा जैसी कोई वात दृष्टिगोचर नही हुई। "सघपट्टक" मे जिनवल्लभ ने कटु शब्दो मे तत्कालीन पाटन के जैन सघ की आलोचना की है अवश्य। सघ वहिष्कृत होने के वाद इन्होने सर्वप्रथम "सघपट्टक" ही वनाया है और पट्टक के अन्तिम—

"सम्प्रत्यप्रतिमे कुसघवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक–
म्लेच्छातुच्छ वले दुरन्त दशमाश्चर्यं च विस्फूर्जति।
प्रौढि जग्मुषि मोहराजकटके लौकैस्तदाज्ञापरै–
रेकीभूय सदागमस्य कथयाऽपीत्थ कदर्थ्यामहे ॥४०॥

इस पद्य के चतुर्थ चरण मे विन्यस्त शब्द "कदर्थ्यामहे" उनको सघ वहिष्कृति द्वारा कदर्थित करने की सूचना करता है, और कदर्थित मनुष्य उत्तेजित होकर जो कुछ वोले-लिखे उसे क्षन्तव्य मानना चाहिए। "सघ-पट्टक" मे लिखी हुई अधिकांश वातें सत्य हैं, फिर भी पर्युषणा तिथि के सम्वन्ध मे उन्होंने जो अपना अभिप्राय व्यक्त किया है, वह उत्तेजना का फल मात्र है। उत्तेजित मनुष्य सत्य वातो के साथ कुछ अयोग्य वातें भी कह देता है। जिनवल्लभ गणि के सम्वन्ध में ऐसा ही हुआ है। जव तक वे पाटण मे थे और धार्मिक सस्थाओ मे होने वाली अविधियो तथा मठमति शिथिलाचारी साधुओ के शिथिलाचार की टीका-टिप्पणियां करते रहे, परन्तु जव उन्हे संघ से वहिष्कृत किया गया और गुजरात की सीमा तक छोड़नी पड़ी तव उन्होंने क्रोधावेश मे "संघ-पट्टक" मे कुछ

विरुद्ध वाते भी लिखी और चित्तौड़ मे जाकर महावीर के गर्भापहार की घटना को कल्याणक माना। चतुष्पट मुखवस्त्रिका रखने की कल्पना भी उसके वाद की है। फिर भी जिनवल्लभ ने विशेष प्रचलित परम्पराओ मे रद्दोबदल नही किया, यह वात उनके ग्रन्थो से जानी जा सकती है।

सघ-पट्टक, षडशीतिक प्रकरण जिसका दूसरा नाम "आगमिक वस्तुविचारसार" है और जिस पर सवत् ११७३ मे आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने एक वृत्ति लिखी है, जिसका श्लोकप्रमाण ८५० है। सार्द्धशतक अपरनाम "सूक्ष्मार्थ विचारसार" है इस पर भी स० ११७२ के वर्ष मे आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने एक वृत्ति वनाई है और उसका श्लोकपरिमाण भी ८५० है। सार्द्धशतक पर दूसरी टीका आचार्य धनेश्वर सूरि की है जिसका श्लोकपरिमाण ३७०० है और इसका निर्माण ११७१ मे हुआ है। द्वादश कुलक, भावारिवारणस्तोत्र आदि जिनवल्लभीय ग्रन्थो मे केवल "सघ-पट्टक" मे ही कुछ कटु और प्रचलित परम्परा का विरोध करने वाली वाते मिली हैं, शेष ग्रन्थो मे आगम-विरुद्ध कोई वात दृष्टिगोचर नही हुई। इनके एक प्रकरण मे "सहनन" की "सघयण सत्ति विसेसो" इन शब्दो मे जिनवल्लभ गणि ने व्याख्या की है, इसका कई विद्वान् विरोध करते है, कि यह व्याख्या शास्त्रविरुद्ध है, क्योकि शास्त्र मे "सहनन" को "अस्थि-रचनाविशेष" वताया है, शक्ति विशेष नही, यह वात हम मानते हैं कि शास्त्र मे अस्थिरचनाविशेष को ही "सहनन" लिखा है, परन्तु "जिनवल्लभ" का सहनन सम्वन्धी उल्लेख भी निराधार नही है।

प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्र सूरिजी ने भी अपने एक ग्रन्थ मे देवताओं को लक्ष्य करके सहनन का अर्थ "शक्तिविशेष" किया है। उनका कथन है कि भले ही देव अस्थिर स्नायु की अपेक्षा से असहननी हो, परन्तु शक्ति-रूप सहनन उनमे भी है। अन्यथा उनके शरीर से कोई भी प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? श्री जिनवल्लभ गणि ने श्री हरिभद्र सूरिजी के कथन का ही अनुसरण करके उपर्युक्त "सहनन" की व्याख्या की है, अत. इस उल्लेख से जिनवल्लभ गणि को उत्सूत्रभाषी नही कह सकते। वस्तुतः श्री जिनवल्लभ गणि ने प्रचलित जैन परम्पराओ मे इतनी तोडफोड़

नही की है जितनी कि आजकल के हमारे विद्वान् समझते है। जिनवल्लभ गणि पर पिछले खरतर-गच्छीय लेखको ने अनेक बाते थोपकर जितना अन्य-गच्छीय विद्वानो की दृष्टि से गिराया है उतना और किसी ने नही, इसलिए हम विद्वान् लेखको को सावधान कर देना चाहते हैं कि जिनवल्लभ सूरि को क्रान्तिकार समझ कर उनसे डरने की कोई आवश्यकता नही है। उनके ग्रन्थो पर अन्य-गच्छीय विद्वानो ने टीका-विवरण आदि लिखे हैं। इसका कारण भी यही है कि वे ऐसे नही थे जैसा कि आजकल हम लोग मान बैठे हैं ।

"**पिण्डविशुद्धि**" की अन्त्य गाथा मे जिनवल्लभजी ने अपने नाम के साथ गणि शब्द लिखा है, इसमे निश्चित है कि उनको देवभद्र की तरफ से आचार्य पदवी प्राप्त होने के पहले की यह कृति है ।

पिण्डविशुद्धि के टीकाकर्त्ता आचार्य श्री चन्द्र सूरि ने अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया है। निशीथ सूत्र के बीसवे उद्देशक की व्याख्या, सुबोधा-सामाचारी, निरयावलिकासूत्र की व्याख्या आदि आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अन्य ग्रन्थो की भाषा की अपेक्षा से इस टीका मे आपने कुछ सुगमता की तरफ लक्ष्य रखा है। इसी के परिणामस्वरूप आपकी टीका मे कई जगह देश्य शब्दो के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। टीका विषय का स्पष्टीकरण करने मे बहुत ही उपयोगी बनी है। ग्रन्थ का श्लोकप्रमाण ४४०० जितना विस्तृत है। कई स्थानो पर मौलिक दृष्टान्त भी दिए गए है । खास करके प्रसिद्ध आचार्य श्री पादलिप्त सूरि का वृत्तान्त प्राकृत भाषा मे दिया है, जो मौलिक वस्तु प्रतीत होती है ।

卐 卐

: ८ :

श्री श्रीपाल-कथा अवलोकन

लें० : पं० कल्याणविजय गणि

(१) कथाभूमिका और कथापीठ :

श्वेताम्बर जैन परम्परा मे "सिद्धचक्र" की आराधना का फलप्रदर्शक श्रीपाल राजा का कथानक सवसे प्राचीन है। यों तो श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्पराओ में सस्कृत मे तथा प्राचीन हिन्दी, गुजराती भाषाओ मे निर्मित अनेक श्रीपालचरित्र उपलव्ध होते है, परन्तु वे सभी सोलहवी शताब्दी के अथवा वाद के हैं। प्रस्तुत श्रीपाल-कथा विक्रम की पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भ मे वनी हुई प्राकृत-कथा है। इसमे कुल १३४२ गाथाएँ हैं। इसकी रचना नागोरी तपागच्छीय आचार्य श्री रत्नशेखर सूरिजी ने १४२५ के लगभग मे की है।

इस कथा का सर्वप्रथम उपदेश भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य श्री गौतम गणधर से करवाया है और कथा की समाप्ति के समय भगवान् महावीर राजगृह के निकटवर्ती किसी गाव से राजगृह के उद्यान मे पधार कर गौतम द्वारा उपदिष्ट "नवपदात्मक सिद्धचक्र" के स्वरूप को निश्चय नय के अनुसार प्रतिपादन करते है।

इस कथानक की भूमिका मे दो बाते विचारणीय है—एक तो जब कभी भगवान् महावीर राजगृह के परिसर मे पधारते, अपने संघ के परिवार के साथ ही पधारते। गौतम अथवा अन्य किसी गणधर को आगे भेजकर वाद मे स्वय जाना इसका उदाहरण इस कथा के अतिरिक्त अन्य किसी अर्वाचीन या प्राचीन चरित्रो तथा सूत्रो मे दृष्टिगोचर नही

होता। कथालेखक कहते हैं—लाभ विशेष जानकर भगवान् ने गौतम को आगे भेजा, परन्तु किस लाभ की दृष्टि से आगे भेजा, इसका तो सूचन तक भी नही करते। न सारा कथानक पढ लेने पर भी ऐसा कोई लाभ दृष्टिगोचर होता है, जो गौतम के आगे न जाने पर न होता। दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर जब कभी राजगृह पधारते, गुणशिलक चैत्य मे जो राजगृह के ईशान दिग्-विभाग मे था—ठहरते थे, तब इस कथा की भूमिका मे गुणशिलक का नाम-निर्देश नही है और राजगृह के परिसर मे विपुलाचल और वैभारगिरि नामक दो पर्वत होना लिखा है। इससे मैं अनुमान करता हूं कि कथा की प्रस्तावित भूमिका की पसन्दगी श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् को न होकर किसी दिगम्बर जैन विद्वान् की होने का विशेष सम्भव है क्योकि अनेक दिगम्बरीय ग्रन्थो मे भगवान् महावीर के वैभार अथवा विपुलाचल पर्वत पर रहते हुए उपदेश देने का वर्णन मिलता है, तब गुणशिलक वन मे समवसरण होने का उनमे वर्णन नही आता।

गौतम स्वामी को पहले भेजना और भगवान् के पीछे जाने की बात कहना, इसमे भी हमे तो एक रहस्य प्रतीत होता है। वह यह कि श्वेताम्बर-परम्परा के आगमो मे, मध्यकालीन इतर साहित्य मे और दिगम्बर परम्परा के प्राचीन साहित्य मे श्रीपाल कथा उपलब्ध नही होती, इससे कथानिर्माता ने यह कथानक आगमो मे न होने पर भी गणधरभाषित और तीर्थङ्करअनुमोदित है, ऐसा प्रमाणित करने के लिए इसका उपदेश गौतम गणधर के मुख से करवाया है।

कथापीठ मे लेखक ने मगध देश को जैनो के लिए विशेष तीर्थ-भूमि होना लिखा है। यह बात भी श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुकूल नही है, ऐसा मेरा मन्तव्य है। क्योकि श्वेताम्बर परम्परा के किसी भी प्राचीन साहित्य मे किसी भी देश को विशेष तीर्थ रूप मे नही माना है। यद्यपि भगवान् महावीर का अधिक विहार मगध देश मे हुआ है और अधिक वर्षाकाल भी इसी देश मे व्यतीत हुआ है, फिर भी श्वेताम्बरीय जैन परिभाषा के अनुसार मगध को विशेष तीर्थ कहना योग्य नही।

कथापीठ मे ही लेखक ने गौतम गणधर के मुख से दान शीलादि चतुर्विध धर्म तीर्थङ्करभाषित हैं, कहलाकर अन्त मे भाव-धर्म की प्रधानता बतलाई है और वे भाव को स्थिर रखने के लिए उसका आलम्बन "नवपदात्मक-सिद्धचक्र" को बताते हैं। कहते है—भाव का क्षेत्र मन है और मन दुर्जेय है, अत. उसको स्थिर करने के लिए ध्यान की आवश्यकता है। ध्यान के आलम्बन से मन को स्थिर करके भाव की वृद्धि करना चाहिए। यद्यपि जगत् मे ध्यान के आलम्बन अनेक हैं, तथापि तीर्थङ्कर भगवान् ने नवपदो को ध्यान का प्रधान आलम्बन बताया है। इस प्रकार लेखक कथापीठ बनाकर श्रीपाल कथा का आरम्भ करते है। कथा-भूमिका और कथापीठ के पढने से तो पाठक को यही आभास मिलता है कि लेखक किसी अच्छे आध्यात्मिक ग्रन्थ का प्रारम्भ कर रहे हैं, परन्तु कथा प्रारम्भ होने के बाद थोडे ही समय में उन्हें तथा श्रोताओं को ज्ञात हो जाता है कि ग्रन्थ आध्यात्मिक नही किन्तु कर्मसिद्धान्त का महत्त्व प्रतिपादन करने वाली एक आख्यायिका है। आरम्भिक वक्तव्य का उद्देश्य अन्त तक निभाना यह अच्छे लेखक का लक्षण है। इस कथा मे ऐसा प्रतिज्ञा-निर्वाह नही हुआ, इससे कथा का आदि लेखक अच्छा विद्वान् नही जान पड़ता।

(२) सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार :

कथानायिका मदनसुन्दरी और उसका पति श्रीपाल जैन उपाश्रय में धर्मश्रवणार्थ जाते हैं। धर्मकथा के अन्त मे उपदेशक श्री मुनिचन्द्र सूरि मदना को पहिचानते हैं और उसके पास बैठे हुए श्रीपाल के सम्बन्ध में पूछते हैं। गुरु का प्रश्न सुनकर मदना गद्गद कण्ठ से कहती है—भगवन् ! मुझे तो धर्म और कर्म पर विश्वास है, परन्तु अनजान लोग मेरे इन पति की प्राप्ति में जैन धर्म की निन्दा करते हैं। इस बात का मुझे बड़ा दु.ख है। कुष्ठ-रोगग्रस्त श्रीपाल को देखकर आचार्य मदना के मनोभाव को समझ गए और बोले—बहन ! मन्त्र तन्त्र तथा औषध-भैषज्य करना कराना जैन श्रमण के आचार से विरुद्ध है, इसलिए मैं तुम्हें एक निर्दोष यन्त्र बताता हूं, जो इस लोक तथा परलोक के सुखो का मूल है। जो अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान,

सम्यक्-चरित्र और सम्यक्-तप इन नवपदो से बनता है। इन नवपदों से बने हुए यन्त्र को पूर्वाचार्य "सिद्ध-चक्र" कहते हैं—

"एएहिं नवपएहिं, सिद्ध सिरिसिद्धचक्कमेय ज ।
तस्सुद्धारो एसो, पुव्वायरिएहिं निद्दिट्ठो ॥९५॥"

उपर्युक्त गाथा मे कथालेखक मुनिचन्द्र सूरि के मुख से कहलाते है—मैं तुझे जो यन्त्र दे रहा हू, इसका उद्धार पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार किया है—

मुनिचन्द्र सूरि जो श्रीपाल तथा मदना के समय विद्यमान थे, पूर्वाचार्यों द्वारा यन्त्रोद्धार होना बताते हैं। कथालेखक कथा के अन्त मे श्रीपाल का आयुष्य ९०० वर्ष से अधिक होना बताते है, इससे ज्ञात होता है कि श्रीपाल आयुष्य के लिहाज से श्री नेमिनाथ तीर्थङ्कर के बाद के होने चाहिए, जब कि "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि" के सम्पादक इन्हे ११ लाख वर्ष पहले के मानते हैं। यहाँ पर यह कहना प्रासगिक होगा कि ११ लाख वर्ष पहले अथवा नेमिनाथ के तीर्थकाल मे भारतवर्ष मे यन्त्र-मन्त्र की चर्चा तक नही थी। उस समय तो क्या, भगवान् महावीर के शासन मे भी, जैनो मे आज से १५०० वर्ष पहले मन्त्र-तन्त्रादि की चर्चा नही थी। यद्यपि बौद्ध सम्प्रदाय मे विक्रम की चौथी पाँचवी शती मे तान्त्रिक मान्यताओ का प्रचार चल पडा था, तथापि जैन समाज उससे सैकडो वर्षो तक बचा रहा। जैन सूत्रो मे से केवल "महानिशीथ" मे कुछ देवताओ के यन्त्रों के सकेत मिलते है, परन्तु महानिशीथ विक्रम की नवमी अथवा दशवी शताब्दी का सन्दर्भ है। जैन-श्रमणो मे इसी समय के बाद धीरे धीरे मन्त्रवाद का प्रचार हुआ है। इस स्थिति मे श्रीपाल के समकालीन मुनिचन्द्र मुनि के मुख से पूर्वाचार्यों द्वारा यन्त्रोद्धार होने की बात कहलाना कहां तक ठीक हैं, इसका निर्णय मैं अपने पाठको पर छोडता हूं।

१—"सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार" बताते हुए कथाकार कहते हैं—"सर्व-प्रथम वलय मे बीजाक्षरो के साथ 'अर्हं' पद का न्यास कर उसका ध्यान करो, यह सिद्धचक्र यन्त्र का पीठ है। इसको परिवेष्टित करते हुए द्वितीय वलय में पूर्वादि दिशाओ मे सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन चार पदो

को और आग्नेयादि चार विदिशाओ मे सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तप इन चार पदो का विन्यास करो और इसी द्वितीय वलय मे अष्टवर्गात्मक वर्णमातृका को लिखो और आठो स्थानो मे 'अनाहतो' का आलेख कर इन आठ पदो का भी ध्यान करो। द्वितीय वलय के बाहर तीसरा वृत्त खीचो और उसमें ४८ (अडतालीस) लब्धियो के नाम लिखकर उनका चिन्तन करो। उन लब्धि-पदो के आदि में "ॐ अर्हं नमो चिनेभ्य." ऐसा लिखना चाहिए और लब्धियो के नाम गुरुगम से जानने योग्य है। तीसरे वलय को ह्रीकार से त्रिवेष्टित कर उसकी परिधि के बाहर गुरूपादुकाओ को नमन करो।

(२)—चक्र को रेखाद्वय मे कलशाकृति बनाकर अमृत मडल की भावना से स्मरण करो, और इसके बाद विजया जम्भादि आठ देवियो तथा विमलेश्वर प्रमुख अधिष्ठायक सकल देवो का विन्यास कर ध्यान करो। उसको १६ विद्या-देवियो, शासन-देवियो द्वारा सेवित पार्श्वद्वय बताकर मूल भाग मे नवग्रहो का, कठ भाग में नवनिधियो का विन्यास करके चार प्रतिहारो तथा चार वीरो से युक्त तथा दिक्पाल क्षेत्रपालादि से सेवित दिखाकर माहेन्द्र मण्डल पर प्रतिष्ठित बनाओ। यह सिद्धचक्र यन्त्र विद्याप्रवाद पूर्व का सार है। इसके जानने से महती सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस श्वेत उज्जवल वर्णमय सिद्धचक्र यन्त्र का जो भाव से ध्यान करता हैं, वह विपुल कर्म निर्जरा को प्राप्त करता है।"

(३)—कथाकार ने "सिद्धचक्र यन्त्र" के तीन वलयो का निरूपण कर यन्त्र को हीकार के ईकार द्वारा त्रिवेष्टित करके समाप्त कर दिया है, क्योकि 'यन्त्र' के 'ह्रीकार वेष्टित' हो जाने के बाद उसके बाहर कोई भी वलय लगाया नही जाता। कही-कही चार कोणो मे चार गुरू पादुकाएँ तो कही-कही चारे महेन्द्रादि मंडल आलेखे हुए अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इनके लिए वलय नही बनाया जाता। कथालेखक ने भी गुरूपादुकादि के बाहर वृत्त खीचने का नही लिखा। इस स्थिति मे कथालेखक ने यन्त्र बाहर जयाजम्भादि, रोहिणी-प्रज्ञप्त्यादि, विमलेश्वरादि अधिष्ठायकशासन देव-देवी, द्वारपाल वीर क्षेत्रपाल दिक्पाल ग्रह आदि देवो का सम्मेलन क्यो

किया, यह एक अज्ञेय समस्या है। सिद्धचक्र का स्थान-स्थान पर ध्यान करने का लिखा है। कथा की भूमिका मे भी गौतम स्वामी के मुख से सिद्धचक्र का ध्यान करने का उपदेश दिलाया है। इस परिस्थिति मे "सिद्धचक्र" यन्त्र के साथ देव-देवियो का जमघट कितना असगत और अप्रस्तावित है, इस बात को पाठक स्वयं समझ सकेंगे।

"सिद्धचक्र-यन्त्र" के सम्बन्ध मे हमारा तो मन्तव्य यह है कि कथाकार श्री रत्नशेखर सूरि को किसी दिगम्बर विद्वान् की यन्त्रोद्धार-विषयक कृति हाथ लगी है कि जिसके आधार से उक्त यन्त्रोद्धार विधि और आगे दी जाने वाली, उद्यापन विधि अपनी कथा मे दाखिल कर गुडगोवर कर दिया है, क्योंकि यन्त्र मे निदिष्ट अड़तालीस लब्धियाँ श्वेताम्बर जैनों की नही, किन्तु दिगम्बरो के घर की चीज हैं। चार द्वारपाल तथा कपिल और पिंगल ये वीर भी श्वेताम्बर जैन-शास्त्र में कही भी दृष्टिगोचर नही होते।

(३) सिद्धचक्राराधन-तप का उद्यापन :

कथालेखक श्री रत्नशेखर सूरि श्रीपाल को पैत्रिक राज्य प्राप्त हो जाने के वाद फिर नवपद का तपोविधान करवा के साढे चार वर्ष मे तप पूरा होने पर अपने वैभव के अनुसार विस्तार पूर्वक तप का उद्यापन करवाते हैं, जिसका साक्षिप्त सार निम्नलिखित है—

"उसके वाद राजा ने अपनी राज्य-शक्ति और वैभव के अनुसार विस्तार पूर्वक तप-उद्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। एक विस्तीर्ण भूमि भाग वाले जिनमन्दिर मे तीन वेदिकायुक्त विशाल पीठ वनवाया, उस पीठ पर मन्त्रपविमिश्रित शालिप्रमुख पंचवर्ण वाले धान्यो से "सिद्धचक्र" का मण्डल निर्माण कराया और सामान्य रूप से अरिहन्तादि नवपदो के स्थान पर घृत खांड युक्त नारियल के नव गोले रखें। फिर राजा श्रीपाल ने अपने वैभव के अनुरूप उन स्थानो पर विशेष प्रकार से गोलक चढ़ाये, जिन में अरिहन्त के पद पर चन्दन कपूर से विलिप्त आठ कर्केतन रत्न तथा,

३४ हीरक सहित गोला चढाया। सिद्ध के पद पर केसर रंग से रजित तथा ८ माणिक्य और ३४ प्रवालो से जड़ित गोला स्थापित किया। आचार्य के पद पर केसर–चन्दन से विलिप्त और ५ गोमेद तथा ३६ सुवर्ण-पुष्पों के साथ गोलक चढाया। चौथे उपाध्याय पद पर नागवल्लीपत्र के समान नीलवर्ण का गोला, चार इन्द्रनील मणियो और २५ मरकत मणियो के साथ स्थापित किया। पाचवे श्याम रंग के साधु पद पर कस्तूरी-रञ्जित गोलक पाँच राज-पट्ट रत्न और २७ अरिष्ट रत्नों के साथ स्थापित किया। शेष दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप इन चार श्वेत पदो पर चन्दन-विलिप्त गोलक क्रमश. सडसठ, इक्कावन, सत्तर और पचास मौक्तिको के साथ स्थापित किये। इसके अतिरिक्त नवपद के उद्देश्य से पदो के वर्णानुसार मेरु सहित माला वस्त्रादि वहाँ चढाये। सोलह अनाहितो मे एक-एक खडी-शाकर के अनेक रत्नो से युक्त लिङ्ग रखे। आठ वर्गों के ऊपर एक-एक सोने की कचोली रखकर उनमें क्रमश. छ तक १६-१६ और सातवे आठवे वर्ग की कचोली मे ३२-३२ सुन्दर द्राक्षाओं को रखा और वर्गान्तरगत आठ परमेष्ठी पदों पर खारको का एक-एक पुंज किया, और आठ गुरुपादुकाओ पर अनार चढ़ाये। जया जम्भादि आठ देवियो के स्थानो पर नारंगियाँ चढाई। सिद्धचक्र के चार अधिष्ठायको के पद पर कूष्माड फल चढाये। १६ विद्या देवियो, २४ यक्षो, और यक्षिणियो को सुपारियाँ चढाई। चार द्वारपालो के पदों पर पीतवर्ण के नैवेद्य के ढेर किये और चार वीरो के पदो पर चार कृष्णवर्ण नैवेद्य के ढेर किये। नव निधियो के स्थानो पर विचित्र रत्नो से परिपूर्ण सुवर्णमय नव कलश धरे और नवग्रह, दिक्पालादि को उनके वर्णानुसार फल पुष्पादि चढ़ाये।

उक्त प्रकार से उद्यापन की स्थापना कराने के उपरान्त राजा ने स्नान-महोत्सव प्रारम्भ किया। स्नानविलेपनादि अष्टप्रकार की पूजा-विधि पूरी करके आरात्रिक-मंगल के अवसर पर संघ ने श्रीपाल को मगल-तिलक किया और माला पहिनाई। इसके बाद श्रीपाल ने " जो धुरि—सिरि—अरिहन्त इत्यादि चैत्यवन्दन कर नवपद का स्तवन किया।

ऊपर मैं ने श्रीपालकथा मे लिखे हुए नवपद आराधन तप के उद्यापन का प्राय. शब्दश. साराश दिया है। घी खाण्ड के साथ नारियल के गोंलो का चढ़ाना अथवा भिन्न-भिन्न मणिरत्न मोतियो के साथ गोलो का चढाना श्वेताम्वर परम्परा की मान्यता के अनुरूप है या नही, इसका निश्चित निर्णय तो नही दिया जा सकता परन्तु जहाँ तक मैंने श्वेताम्वर सम्प्रदायमान्य विविध तपो के विधानो और उनके उद्यापनो की विधियाँ पढी है उनमें उक्त उद्यापन के समान अन्य किसी तप की उद्यापनविधि में घी खाड तथा विविध रत्नो के चढाने का पाठ नही पढा। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण उद्यापन मे रखे जाते है। इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक उपकरण रत्नत्रयी की वृद्धि के लिए रखे जाते हैं। फल-मेवा नैवेद्य पूजोत्सव मे रखे जाते हैं, उद्यापन मे नही। विविध मणिरत्नो का तो क्या, रुपया पैसा भी तीर्थंकरो की पूजा-प्रतिष्ठा मे चढ़ाने का हमारे प्राचीन ग्रन्थकारो ने विधान नही किया, सुगन्धी गन्धो पुष्पो, धूपो, दीपो, नैवेद्यो, अक्षतो, और जल पदार्थों से ही परमेष्ठी पदो की पूजा-भक्ति करने का हमारा प्राचीन साहित्य प्रतिपादन करता है। पूजा-प्रतिष्ठा उद्यापनो में कीमती धातुओ के पदार्थ अथवा रुपया पैसा चढाने की पद्धति शास्त्रीय अथवा सविग्न गीतार्थाचरित नही, किन्तु चैत्यो की व्यवस्था करने वाले शिथिलाचारी साधुओ, परिग्रह धारी श्री-पूज्यो, यतियो तथा दिगम्बर भट्टारको की है। 'आचारदिनकर' ग्रन्थ, जो दिगम्बर भट्टारको तथा चैत्यवासी श्वेताम्बर शिथिल साधुओ की मान्यताओ का विक्रमीय १५ वी सदी का सग्रह है, इसमे प्रतिष्ठा तथा अन्य विधानीय स्थापन पूजन मे मुद्रा अर्थात् रुपया—पैसा चढाने का सर्व प्रथम विधान मिलता है। इसके पूर्ववर्ती किसी भी प्रतिष्ठा-विधि मे पूजा-पदार्थों के साथ मुद्रा चढाने का उल्लेख देखा नही जाता। इससे प्रमाणित होता है कि "सिरिसिरिवाल कथा" मे लिखी हुई नवपद-पूजा विधि तथा उद्यापन विधि विक्रम की १५ वी शती के पूर्व की नही है। या तो रत्न-शेखर सूरि को किसी दिगम्वर भट्टारकजी का "सिद्धचक्रपूजा" विषयक कोई विधान हाथ लगा है, जिसके सहारे से कुछ दिगम्बरीयता और कुछ श्वेताम्बरीयता प्रतिपादक बातो का सम्मिश्रण करके यन्त्रोद्धार तथा उद्यापनविधि की यह

खोचड़ी पकाली है क्योकि इसमें से बहुत सी बाते दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य नही हैं। तब कुछ बातें श्वेताम्बर मान्यता से भी विरुद्ध पड़ती हैं। सिद्धचक्र के अधिष्ठायको को कूष्माण्ड फल चढ़ाने की बात पौराणिक पद्धति मे ली गई है, जो दोनो परम्पराओ को मान्य होने में शंका है।

उद्यापन की समाप्ति मे श्रीपालकथा-लेखक श्रीपाल द्वारा सार्धमिक वात्सल्य तथा सघपूजा करवाते हैं। वे लिखते हैं—

"वज्जंतएहिं मंगल-तूरेहिं सासणं पभावंतो ।
साहम्मियवच्छल्लं, करेइ वरसंघपूयं च ॥ १२११ ॥"

उपर्युक्त गाथोक्त वादित्रवादन सार्धमिकवात्सल्य सघपूजा १४-१५ वी शताब्दी के विशेष प्रसिद्ध कर्तव्य हैं। इससे जाना-जाता है कि इस कथा का मूल आधार ग्रन्थ दो सम्प्रदायो मे से किसी एक सम्प्रदाय का रहा भी हो तो भी वह अर्वाचीन था, प्राचीन नही।

लेखक राजा श्रीपाल की राज्यऋद्धि का विस्तार बताते हुए कहते है—

"गय-रह-सहस्सनवगं नव लक्खाइं च जच्चतुरयाणं।
पत्तीणं नव कोडी, तस्स नरिंदस्स रज्जंमि ॥ १२१४ ॥"

अर्थात्—राजा श्रीपाल की सेना मे ९००० हाथी, ९००० रथ, नव लाख जात्य घोडे और नव करोड़ पैदल सैनिक थे।

उपर्युक्त कथन मे कितनी अतिशयोक्ति है इसके सम्बन्ध मे मैं अपना अभिप्राय न देकर इतना ही कहूंगा कि श्रीपाल को लेखक ने अग देश का राजा बताया है। उसने अपना राज्य प्राप्त करने के उपरान्त अन्य किसी भी देश अथवा मंडल पर चढ़ाई कर विजय करने का लेखक ने नही लिखा। इस दशा में श्रीपाल के पत्ति-सैन्य की संख्या नव करोड थी तो उसके देश अग मे कुल जनसंख्या कितनी थी, यह भी कथा-लेखक ने बता दिया होता तो इस कथा की वास्तविक सत्यता पर बहुत अच्छा प्रकाश पड जाता।

कथाकार ने श्रीपाल का राजत्व-काल सम्पूर्ण ९०० वर्ष का बताया है। उक्त समय के उपरान्त श्रीपाल अपनी प्रथम रानी मदनसुन्दरी की कोख से

जन्मे त्रिभुवनपाल नामक अपने पुत्र को राज्यासन पर बैठाकर स्वयं "सिद्धचक्र" की स्तवना मे लीन हुआ। लेखक ने "सिद्धचक्र" के प्रत्येक पद की नव-नव गाथाओ मे स्तवना कराई है। उसके बाद नव पद के ही ध्यान मे लीन होकर आयुष्य पूर्ण कर श्रीपाल नवम देवलोक मे देवगति को प्राप्त हुआ। राज्यप्राप्ति के समय श्रीपाल की कितनी उम्र हुई थी और राज्य-त्याग के उपरान्त वह कितने वर्षो तक जीवित रहा, इसका कुछ भी सूचन नही किया। वर्तमान चतुर्विंशति तीर्थङ्करो मे से किस तीर्थङ्कर के धर्म-शासन-काल मे यह राजा हुआ इस विषय मे भी कथालेखक ने कही भी निर्देश नही किया। इन बातो से स्पष्ट हो जाता है कि "श्रीपालकथा" तपोमाहात्म्यसूचक औपदेशिक कथा है, चरित्र नही।

कथाकार ने श्रीपाल के मुख से उद्यापन के देव-वन्दन के प्रसग पर जो नवपद की स्तवना कराई, राज्यत्याग के बाद प्रत्येक पद की नव-नव गाथाओ से जो स्तवना कराई और भगवान् महावीर के मुख से नवपद का जो स्वरूप प्रतिपादन कराया, उन सभी गाथाओ को सामने रखकर उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने नवपद की पूजा का अपने समय की भाषा मे निर्माण किया है, जो श्वेताम्बर परम्परा मे अति प्रसिद्ध है।

श्रीश्रीपाल-कथा को पढकर उसके सम्बन्ध मे कुछ लिखने योग्य बाते ऊपर के अवलोकन मे लिखी है। हमारी इच्छा "सिद्धचक्र" की पूजा तथा नव पद की तपस्या मे विशुद्धता आए ऐसी है, न कि इसको किसी प्रकार की हानि पहुचाने की। आजकल इस कथा के नाम को आगे रखकर "सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार पूजन विधि" जैसे नये नये अनुष्ठानो की सृष्टि हो रही है, जो सिद्धचक्र के पवित्र पूजन तथा तद्विषयक तप को कलकित करने वाली है। आशा की जाती है कि इस अवलोकन को पढकर नवीन पूजन विधियो का प्रचार करने वाले सज्जन इनका वास्तविक स्वरूप समझेंगे और इसके प्रचार को रोकेंगे।

"सिरिवज्जसेण गणहर-पट्टप्पहु हेमतिलयसूरीणं।
सीसेहि रयणसेहर-सूरीहि इमा हु सकलिया ॥ १३४० ॥
तस्सीसहेमचदेण, साहुणाविक्कमस्स वरिसंमि।
चउदस अट्ठावीसे लिहिया गुरु-भत्तिकलिएण ॥ १३४१ ॥"

"सिद्धचक्र महापूजा"

"अर्थात्"

सिद्धचक्रयन्त्रोद्धार पूजन-विधि

(एक अवलोकन)

ले० पं० कल्याणविजय गणी

पिछले कितनेक वर्षों से हमारे श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय मे एक नया पूजन–विधान प्रचलित हुआ है, जिसे साधारण जनता "सिद्धचक्र महापूजा" इस नाम से पहिचानती है। इस विधान को बतलाने वाली पुस्तक की अब तक दो आवृत्तियाँ निकल चुकी है। प्रथमावृत्ति वाली पुस्तक की पट्टडियो पर "श्रीसिद्धचक्र-बृहत्-पूजन-विधि" इस प्रकार नाम छपा है और पुस्तक के टाइट्टिल पेज पर "श्रीसिद्धचक्र–यन्त्रोद्धार–पूजन विधि" यह नाम मुद्रित है। दूसरी आवृत्ति वाली पुस्तक की पट्टडियो पर "श्रीसिद्धचक्र–यन्त्रोद्धार पूजन विधि:" यह नाम मुद्रित है, और टाइटिल पेज पर भी यही नाम कायम रखा है। इस प्रकार ग्रन्थ के नाम-परिवर्तन से यह मालूम होता है कि ग्रन्थ का नाम प्राचीन नही बल्कि नव-निर्मित है। यह पूजन-विधि का ग्रन्थ सम्पादको को यथार्थ रूप मे प्राप्त नही हुआ है, प्रकाशकीय निवेदन से भी इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि इस का प्रथम–पत्र प्रथमावृत्ति के समय उपलब्ध नही हुआ था। इसी कारण से प्रथमावृत्ति मे प्रथम चतुर्विंशति के प्रथम के कतिपय श्लोक नही छप सके है, द्वितीयावृत्ति मे प्रथम चतुर्विंशतिका पूरी मुद्रित है, परन्तु इसका स्पष्टीकरण नही मिलता कि ये प्राथमिक श्लोक पुस्तक के प्रथम पत्र के उपलब्ध होने से मिले है, अथवा सशोधक ने इन्हे बनाकर पूर्ति की है ?

उपर्युक्त असगतियो के उपरान्त इसमें कुछ ऐसे भी उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं, जो प्रस्तुत पूजन विधि के मूल लेखक के न होकर इस विधि

के सम्पादको द्वारा प्रक्षिप्त किये गए हैं। इस पूजा विधान को ध्यान पूर्वक पढने मे मुझे जो विचार स्फुरित हुए वे नीचे दिए जाते हैं—

(१) मेरी दृष्टि मे यह पूजा–विधि सर्वांश मे न श्वेताम्बर जैन परम्परा की है न दिगम्बर जैन परम्परा की, किन्तु इसमे श्वेताम्बर दिगम्बर जैन मान्यताओ के अतिरिक्त पौराणिक पद्धति का भी पुट लगा हुआ है, इस बात की सत्यता सिद्ध करने के लिए नीचे कतिपय प्रमाणो का उल्लेख किया जाता है।

ग्रन्थ को श्वेताम्बर साबित करने वाले उल्लेख—

१ पूजन विधि के प्रारम्भ में दिया हुआ "अर्हन्तो भगवन्त इन्द्र-महिताः" इत्यादि पद्य इस पूजन विधि का न होकर एक खरतर गच्छ के आचार्य द्वारा निर्मित मगल स्तुति है।

२ "आश्विनस्य सिताष्टम्या, निर्दोषाया यथाविधि।
कृत्वा श्रीसिद्धचक्रार्चामाद्याचाम्लो विधीयते ॥ २॥

इस श्लोक मे सिद्धचक्र की तपस्या का आरम्भ आश्विन शुक्ला अष्टमी से प्रारम्भ करने का विधान किया है और पूर्णिमा के बाद नवम आयम्बिल करने का विधान किया है और इसके बाद के दो श्लोको मे साढे चार वर्षो मे इक्कासी आयम्बिल पूरे करके तप का उद्यापन करने का उपदेश किया है, तथा उद्यापन मे जमीन पर पाच रग के धान्यो से "सिद्धचक्र" के मण्डल के आलेखन की बात कही है।

उपर्युक्त विधान "सिरि सिरिवालकहा" का सस्कृत रूपान्तर मात्र है, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे आज कल प्रचलित "सिद्धचक्र तपो-विधान" से हूबहू मिलता है। फरक इतना ही है कि आज कल "सिद्धचक्र आयम्बिल" तप आश्विन शुक्ला सप्तमी से शुरू होते हैं। उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा प्रारब्ध और यशोविजयजी द्वारा पूरित "सिद्धचक्र रास" निर्माण के समय मे अर्थात् विक्रम की १८ वी शताब्दी के द्वितीय चरण मे सप्तमी का दिन आयबिल तप मे सम्मिलित हो चुका था। इन बातों से ज्ञात होता है कि इस पूजन विधि की प्राथमिक तीन पद्य चतुर्विशतियाँ किसी श्वेता–

म्बर जैन विद्वान् की कृतियाँ हैं। जो "सिरि सिरि वालकहा" की प्राकृत गाथाओ के आधार मे बनाई गई हैं।

वीरविजयजी कृत "स्नात्र-पूजा" पढ़ाने की सूचना आदि ये सभी प्रमाण निश्चित रूप से इस विधान की आधुनिकता और श्वेताम्बरीयता प्रमाणित करते हैं।

३. तृतीय चतुर्विंशतिका के पद्य १५ वे तथा १६ वे मे क्रमशः "सिद्ध-चक्र" के प्रथम तथा द्वितीय पद के आराधको के नामोल्लेख किये हैं। वे नाम भी "सिरि सिरिवाल कहा" की मान्यता के ही अनुरूप है, इससे चतुर्विंशतियो के श्वेताम्बर प्रणीत होने की हमारी मान्यता विशेष दृढ हो जाती है।

४. पूजा के बाद दी हुई देववन्दन विधि आधुनिक श्वेताम्बरीय विधि है, और देव वन्दन के प्रारम्भ में चैत्य वन्दन के स्थान पर बोलने के लिए "जो धुरि सिरि अरिहन्त मूल दढ पीठ पइट्ठियु०" एक अपभ्रंश भाषा का पद्य लिखा है, वह भी "सिरि सिरिवाल कहा" का ही है।

५. "सिद्धचक्र महापूजा" मे दिया हुआ पूजा-विधान विक्रम की १६ वी सदी के पहले का नहीं, अष्टप्रकारी पूजा के जो अष्टप्रकार बताये हैं वे निश्चित रूप से सोलहवी शती के हैं, क्यो कि इसके पूर्ववर्ती काल मे अष्ट-प्रकारी पूजा में जल-पूजा का नम्बर आठवा था, तब प्रस्तुत पूजन में जल-पूजा को सर्व प्रथम रखा है, इससे स्पष्ट हो जाता है, कि यह पूजा-विधान १७ वी सदी के पहले का नही हो सकता।

६. "ॐ असि आ उ सा द ज्ञा चा ते भ्यो नमः" विधान लेखक ने इसको "सिद्धचक्र" का मूल-मन्त्र बतलाया है, कोई ४००-५०० वर्षों से पंच परमेष्ठी के नामों के आद्याक्षरो को लेकर श्वेताम्वर तथा दिगम्बर शिथिलाचारी आचार्यों ने "असि आ उ स य नम" इस प्रकार का मन्त्र बनाकर लोगो को दिया था तब "सिद्धचक्रमहापूजा" विधान लेखक ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शब्दो के आद्याक्षरों को उक्त सक्षिप्त मंत्र के पीछे जोडकर "सिद्धचक्र"

का मूल मन्त्र बना डाला, मैं समझता हूं कि लेखक इस प्रकार के कार्य मे अपना समय लगाने के बदले किसी उपयोगी कार्य मे लगाता तो विशेष लाभ के भागी होते ।

७. "सिद्धचक्र" के मण्डल की रचना में जो पञ्चवर्णधान्य का उल्लेख है, यह भी इस विधान की अर्वाचीनता को ही सिद्ध करता है, धान्यो द्वारा "सिद्धचक्र" का मण्डल बनाने की पद्धति "सिरि सिरि वालकहा" के सिवाय पूर्वकालीन किसी भी ग्रन्थ मे नही मिलती, प्रतिष्ठा-कल्पो मे भी उपाध्याय सकलचन्द्रजी गणी का "प्रतिष्ठा-कल्प" जो विक्रम की १७ वी शती की कृति है, प्रतिष्ठा मे "सिद्धचक्र" का पूजा-विधान बताया है। इसके अतिरिक्त, किसी प्राचीन प्रतिष्ठा विधि मे "सिद्धचक्र" का पूजा-विधान नही बताया। उस समय केवल नन्द्यावर्त के अन्तर्गत ही सिद्धचक्र के पदो का पूजन होता था।

८. पूजन विधि मे दिये स्तोत्रो मे "वज्रपञ्जर-स्तोत्र" निश्चित रूप से श्वेताम्बरीय है और "शान्ति-दण्डक" के अन्त मे दिए हुए "शिवमस्तु सर्व-जगत" इत्यादि दो पद्य भी निश्चित रूप से श्वेताम्बर जैन परम्परा के है।

९ विधान के प्रारम्भ मे "वज्रपञ्जर" करने का जो विधान बताया है, वह निश्चित रूप से आधुनिक श्वेताम्बरीय विधान है। "वज्रपञ्जर" के बाद दिग्-बन्धन का "किरिटी किरिटी" इत्यादि जो मन्त्र दिया है, वह पादलिप्त "प्रतिष्ठा-पद्धति" का है, जो प्रतिष्ठा पद्धति श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठा पद्धतियो मे सब से प्राचीन पद्धति है।

१०. यन्त्रोद्धार के छठवे सातवें वलय की जया, जम्भादि आठ और रोहिणी-प्रज्ञप्ति आदि सोलह देविया भी "पादलिप्त–प्रतिष्ठा-पद्धति" के नन्द्यावर्त के दो वलयो की देवियाँ है, जो श्वेताम्बरीय पद्धति का प्रतिपादन करती है।

(२)–अब "पूजा-विधि" की दिगम्बरीयता सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण दिए जाते हैं—

१. प्रथम चतुर्विंशतिका के प्रारम्भ में ही दूसरे वलय मे वर्गों को "अना-हत" के साथ स्थापन करने की बात लिखी है, तृतीय वलय मे आठ "अना-हत" स्थापन की बात है।

"सिद्धचक्र-स्तोत्र" मे भी कोई तीन बार "अनाहत" शब्द आता है। चतुर्थ वलय के पादुका-पूजन के चतुर्थ वलय में "अनाहत" शब्द का प्रयोग हुआ है। देव वन्दन के अन्त मे बोले जाने वाले स्तवन मे भी अनाहत शब्द का प्रयोग हुआ है। अष्ट प्रकार की पूजा के आठो पद्यों मे "श्रीसिद्धचक्र" को अनाहत कहकर-उसका यजन करने का कहा है। चैत्यवन्दन का स्तवन पूरा होने के बाद प्रार्थनात्मक एक स्तोत्र दिया है, जिसमे चार जगह 'अनाहत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रार्थना स्तोत्र के बाद आनेवाले "शान्तिदण्डक" मे भी 'अनाहत' शब्द का दो बार उल्लेख आया है।

इस प्रकार बार-बार अनाहत शब्द के प्रयोगो से प्रस्तुत अनुष्ठान थोडी वार के लिए "शैव सम्प्रदाय के योगियो का अनुष्ठान" सा भासता है, क्यो कि "अनाहत" शब्द शैव योगियो का परिभाषिक शब्द है, जैन परिभाषा का नही, प्रचीन जैन सूत्रो तथा मध्यकालीन जैन प्रकरण-ग्रन्थो तथा चरित्रों मे इस शब्द की कहीं चर्चा नही। आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिजी ने अपने योग-शास्त्र के अन्तिम प्रकाश मे सिर्फ एक स्थान पर 'अनाहत' शब्द का प्रयोग देव के रूप मे किया है, जो योगियो की परिभाषा है, लगभग १४वी सदी में योगियो के अनाहत-शब्द को "तान्त्रिको" ने अपने मन्त्रो तथा स्तोत्रों में प्रयुक्त करना शुरू किया, रहते-रहते जैन साधुओं ने भी इसे अपना लिया। "सिरि सिरि वाल कहा" मे भी ,अनाहत' शब्द अनेक स्थान पर आया है, जैनों में भी श्वेताम्बरों से दिगम्बर भट्टारक इस विषय मे अग्रेसर थे, अनाहत शब्द को ही नही, अन्य भी अनेक श्रौत-स्मार्त तथा पौराणिक पद्धतियों को लेकर अपने ग्रन्थ के ग्रन्थ भर दिये थे, कुछ बाते श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने भी अपनायी अवश्य हैं, इस परिस्थिति पर विचार करने से हमे यही प्रतीत होता है कि अनाहत शब्दो की भर मार वाला यह "सिद्धचक्र-पूजन-विधान" मूल मे दिगम्बर कृति होनी चाहिए जिसके आधार पर "सिरि सिरिवाल कहा" तथा प्रस्तुत पूजा-विधान तय्यार किया गया है।

२. यन्त्र-निर्माण की विधि में लब्धियों की चर्चा करने वाला निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

"अष्टावनाहता स्थाप्यास्तृतीये वलये क्रमात् ।
मध्येऽनाहतमष्टाढ्याश्चत्वारिंशच्च लब्धय' ॥७॥

उपर्युक्त श्लोक मे ४८ लब्धियों का सूचन है, ये ४८ लब्धियाँ भी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थो की चीज है, श्वेताम्बर आगमो तथा प्रामाणिक ग्रन्थो मे २८ लब्धियो का निरूपण है, अडतालीस का नही ।

इसमे दिया हुआ लब्धि-प्राप्त महर्षियों का स्तोत्र भी किसी दिगम्बर विद्वान् की कृति है, क्योकि इसका निरूपण शब्दश श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता से नही मिलता ।

३ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की १५वी शताब्दी के प्रथम चरण मे निर्मित "सिरि सिरिवाल कहा" मे "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार" निर्माण की वात तथा पांच धान्यो से "सिद्धचक्र" के मण्डल की स्थापना करने की वात अवश्य है, परन्तु ये दोनो वाते दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ से ली हुई मालूम पड़ती है, क्योकि श्वेताम्बर जैन परम्परा के प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थ भाण्डागारो की सूचियो मे इस विधि का नामोल्लेख नही मिलता। श्वेताम्बर परपरा मे १७ वी १८वी सदी के मध्यभाग मे होने वाले प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशो-विजयजी द्वारा निर्मित "सिद्धचक्र-पूजा" नामक एक छोटी लोक भापा मे वनाई हुई पूजा मिलती है जो "नवपद-पूजा' इस नाम से विशेप प्रसिद्ध है। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा मे सोलहवी तथा सत्तरहवी शताब्दी के अनेक विद्वान् भट्टारको, ब्रह्मचारियो ने लगभग "लघु-सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजा" "सिद्धचक्र बृहत्पूजा" और "सिद्धचक्र-महापूजा" आदि सिद्धचक्र के पूजा विधान बनाये थे, ऐसा दिगम्बरीय साहित्य पढने से ज्ञात होता है ।

४ "लघु-सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजा" के कर्ता भट्टारकजी का नाम याद नही है, परन्तु वे सत्रहवी सदी के विद्वान् निश्चित थे "सिद्धचक्रयन्त्र" और "वृहत्सिद्धचक्रपूजा पाठ" के कर्ता बुध वीरु (वीर) हुए है, इन्होंने विक्रम सवत् १५८६ मे इस पूजा-पाठ की रचना की थी । ये गृहस्थ विद्वान् थे । "सिद्धचक्र-महापूजा" इसके कर्त्ता ब्रह्मचारी "श्रुतसागर सूरि" थे । श्रुतसागर

भट्टारक विद्यानन्दी के देशविरति शिष्य थे। श्रुतसागर उस समय के अच्छे विद्वान् थे इन्होने कोई आठ ग्रन्थो पर टीकाएँ लिखी थी। इसके अतिरिक्त अनेक प्राकृत, संस्कृत भाषा के ग्रन्थो का निर्माण किया था। उन्ही मे से "सिद्धचक्र महापूजा" एक अनुष्ठान ग्रन्थ था, इसका दूसरा नाम सिद्धचक्राष्टक वृत्ति" भी लिखा है। इससे मालूम होता है, इन्होने "सिद्धचक्र" की पूजा पर आठ पद्य लिखकर उनके विवरण रूप मे यह "पूजा-विधान" तय्यार किया होगा। श्रुतसागर का सत्ता-समय विक्रमीय १६ वी सदी का उत्तरार्ध और १७ वी का प्रारम्भ था। इनके अनेक-ग्रन्थ-आज भी उपलब्ध होते हैं, परन्तु "सिद्धचक्र महापूजा" कही मिलती है या नही, यह कहना कठिन है। भट्टारक विद्यानन्दी श्रुतसागर आदि का विहार दक्षिण गुजरात मे होता था भट्टारक विद्यानन्दी सूरत की गद्दी के आचार्य थे। खम्भात के निकटवर्ती गन्धार बन्दर मे रहकर श्रुतसागर ने एक ग्रन्थ का निर्माण किया था, इससे यह भी पाया जाता है कि विद्यानन्दी भट्टारक तथा उनके शिष्य श्रुतसागर सूरि खासकर दक्षिण गुजरात मे विचरते थे। अहमदावाद मे आचार्य श्री नीति-सूरिजी के भण्डार मे से प्रस्तुत "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार-पूजन विधि" की प्रति मिलने की बात प्रस्तावना मे कही गई है, इससे सम्भव है, विधि की यह पुस्तक आचार्य श्रुतसागर की उक्त "सिद्धचक्र-महापूजा" को ही किसी श्वेताम्बरीय विद्वान् द्वारा विकृत करके श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मानी हुई प्रति होगी। कुछ भी हो, "पूजन विधि" का मूलकर्त्ता कोई दिगम्बर विद्वान् था, इसमे विशेष शका नही है।

५. यन्त्र के पचम वलय मे दिये हुए "सिद्ध चक्र" के अधिष्ठायको के नामों मे अनेक नामोवाले-देवो को श्वेताम्बर परम्परा "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायक नही मानती; जैसे—"विमलवाहन" श्वेताम्बर परम्परा मे "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायक होने की मान्यता नही है, "धरणेन्द्र", भी भगवान् पार्श्वनाथ का भक्त माना गया है। "सिद्धचक्र" का नही, "कपर्दियक्ष" शत्रुञ्जय तीर्थ का रक्षक होने की श्वेताम्बरीय मान्यता है, सिद्धचक्राधिष्ठायक होने की नही। "शारदा", यह नाम सरस्वती के पर्यायो मे प्रयुक्त अवश्य हुआ है, परन्तु "सिद्धचक्र"; के साथ इसका क्या सम्बन्ध है; इसका कोई पता नही।

"शान्ति देवता" का भी सिद्धचक्र से सम्बन्ध है ऐसा श्वेताम्बर परम्परा को विदित नही है।

"त्रिभुवनस्वामिनी, ज्वालामालिनी, श्रीदेवता, वैरोट्या, कुरुकुल्ला, कुवेरदेवता, कुलदेवता" इन नामो मे से त्रिभुवनस्वामिनी और श्रीदेवता ये दो देविया सूरि मन्त्र की अधिष्ठायिकायें है; न कि "सिद्धचक्र" की, ऐसा श्वेताम्वर परम्परा मानती है।

"ज्वाल मालिनी" चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर की यक्षिणी है, और "वैरोट्या" तीर्थङ्कर-मल्लिनाथ-की यक्षिणी है। "कुरुकुल्ला" देवी-जैन-देवता के रूप मे नहीं मानी-गई, तान्त्रिक- वौद्धो की देवी है। यदि किसी श्वेताम्वर विद्वान ने इसके स्तोत्र बनाये हैं तो इसका कारण मात्र यही है कि यह देवी सर्पो से रक्षा करने वाली है, "कुवेर-देवता" "कुल देवता" कुवेरा देवी मथुरा के देव निर्मित-स्तूप की रक्षिका थी, इस कारण से जैन शान्तिक विधानो मे इसका स्मरण किया गया है, न कि सिद्धचक्राधिष्ठायिका के नाते। इसमे दिया हुआ "कुलदेवता" किसी देव-देवी का विशेष नाम नही है, 'कुल' शव्द से किस व्यक्ति-विशेष का 'कुल' इसका भी स्पष्टीकरण नही है। इस प्रकार इस अधिष्ठायक वलय के देव-देवियो के नामो से पता चलता है कि विधान-लेखक ने "कही की ईंट कही का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोडा'; इस कहावत के अनुसार इधर उधर से देव-देवियो के नाम उठाकर सिद्धचक्राधिष्ठायको का वलय भर दिया है, वस्तुतः "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायको के रूप मे "विमले-श्वर" देव और "चक्रेश्वरी" देवी जिसका नामान्तर "अप्रतिचक्रा" भी है, श्वेताम्वर संप्रदाय मे प्रख्यात है, दूसरा कोई देव देवी नही।

६. स्नानीय जल भरने के नव कलशो को अधिवासित करने का मन्त्र निम्न प्रकार से दिया है,—

"ॐ ह्रीं श्री धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी शान्ति तुष्टि पुष्टयः एतेषु नव कलशेषु कृताधिवासा भवन्तु-भवन्तु स्वाहा।"

उपर्युक्त मन्त्र मे भी कृति को श्वेताम्वरीय वनाने वाले लेखक ने भद्दी भूल की है, ॐकार के बाद "ह्री" श्री इन अक्षरो को बीजाक्षर बनाकर कलशो का अधिवासन करने वाली नव देवियो में से दो को कमकर दिया है,

इसका पता तक नही लगा कि नव कलशो का सात देवियो से अधिवासन कैसे हो सकेगा, इस करतूत से तो यही मालूम होता है कि इस कृति मे उलट-फेर करने वाला कोई अच्छा विद्वान् नही था। वास्तव मे ॐ कार के वाद के दो अक्षर वीजाक्षर नही, किन्तु "द्रहनिवासिनी दो देवियो के नाम है" और इनके आगे के चार नाम भी द्रह-देवियो के हैं। इनका सच्चा क्रम "ॐ, श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी" इस प्रकार से है। ये छ द्रहनिवासिनी देवियाँ हैं ये छ. देवियाँ दिगंवर तथा श्वेताम्बर दोनो परंपरा वालो को मान्य हैं, शान्ति देवी का नाम श्वेताम्वरीय प्रतिष्ठा-कल्पो मे आता है, परन्तु "तुष्टि" "पुष्टि" को श्वेताम्बर सप्रदाय के किसी भी ग्रन्थ में देवियों के स्वरूप मे नही माना। वास्तव मे "शान्ति, तुष्टि, पुष्टि" ये तीनो पौराणिक-मातृका-देवियाँ हैं, जिन्हे "सिद्धचक्र महापूजा" के मूल लेखक ने द्रह-देवियों के साथ इनको जोड़कर नव-देवियाँ वना ली हैं। इससे यह वात विल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि इस पूजा-विधान का मूल लेखक कोई दिगम्वर विद्वान् था।

७ चतुर्विंशति जिन यक्षो मे वारहवे यक्ष का नाम "असुर-कुमार" लिखा है, जो वास्तव में अश्वेताम्वरीय है, श्वेताम्वर परम्परा वारहवें तीर्थकर के यक्ष का नाम "कुमार" मानती है, न कि 'असुरकुमार, ।

८. श्वेताम्वर परम्परा चौवीसवें यक्ष का नाम 'मातङ्ग, मानती है, न कि 'ब्रह्मशान्ति। 'ब्रह्मशान्ति. देव महावीर का भक्त अवश्य था, परन्तु उसे उनका शासन.यक्ष मान लेना श्वेताम्वर संप्रदाय की मान्यता के विरुद्ध है।

९ कुमुद अजन वामन पुष्पदन्त इन चार दिग्गजो को 'सिद्धचक्र, के द्वारपाल बनाने मे केवल कल्पना विहार किया है, क्यो कि जैन प्रामाणिक ग्रन्थों मे "सिद्धचक्र" के तो क्या तीर्थङ्करों के समवसरण के द्वारपालो मे भी इनके नाम परिगणित नही है. "सिरि सिरिवाल कहा" मे ये चार नाम दृष्टि गोचर होते हैं. परन्तु यह अश्वेताम्वरीय प्रक्षेप हैं।

१०. नवम वलय मे चार वीरो की पूजा करना वताया है वीरों के नाम मणिभद्र पूर्णभद्र कपिल पिंगल लिखे हैं इनमे से प्रथम के दो नाम श्वेताम्वर

परम्परा मे प्रसिद्ध है श्वेताम्बरो के प्रामाणिक सूत्र व्याख्या प्रज्ञप्ति-(भगवती सूत्र) के पन्द्रहवे शतक मे ये नाम आते हैं, वहाँ पर ये वीर किस के भक्त हैं, यह तो नही लिखा। केवल इन्हे यक्ष के नाम से निर्दिष्ट किया है, परन्तु कपिल तथा पिंगल नाम श्वेताम्बरीय साहित्य मे "सिरि सिरिवाल कहा" के अतिरिक्त किसी ग्रन्थ मे हमारे दृष्टिगोचर नही हुए, दिगम्बर जैन साहित्य मे ये नाम आये हो तो असम्भव नही है।

११. "ॐ ह्री श्री अप्रसिद्ध सिद्ध चक्राधिष्ठायकाय स्वाहा' इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि विमलेश्वर देव के अतिरिक्त और भी कोई सिद्धचक्र का अधिष्ठायक है, पर उसका नाम यन्त्र लेखक को ज्ञात नही हुआ, परन्तु लेखक की यह भ्रान्ति मात्र है। "सिद्धचक्र" के साथ विमलेश्वर देव और चक्रेश्वरी देवी के सिवाय और किसी देव-देवी का अधिष्ठायक के रूप मे सान्निध्य नही, यो भले ही अच्छी चीज होने से कोई भी देव उस तरफ आकृष्ट हो सकता है, तीर्थङ्कर महाराज के समवसरण मे करोडो देव आते हैं और उनमे से अधिकाश तीर्थङ्कर के अतिशय से तथा उनकी पुण्य प्रकृति से आकृष्ट होकर भक्त से वन जाते हैं। फिर भी वे सभी उन तीर्थङ्करो के परम भक्त है, यह नही कह सकते। यही कारण है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन-भक्त यक्ष यक्षिणी का एक एक ही युगल माना गया है, पार्श्वनाथ-का धरेणन्द्र नागराज परम भक्त होने पर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे उसे पार्श्वनाथ का यक्ष अथवा अधिष्ठायक नही माना गया, इसी प्रकार आबू पर्वत से लेकर सांचोर तक के महावीर के चैत्यो की परम सतर्कता से "ब्रह्मशान्ति" यक्ष रक्षा करता था, फिर भी उसे पूर्वाचार्यों मे महावीर के शासन देव की उपाधि नही दी, इसी तरह विमलेश्वर के अतिरिक्त 'सिद्धचक्र" के अप्रसिद्ध अधिष्ठायक मानने की "सिद्धचक्र मण्डल" निर्माता की कल्पना मात्र है, जिसका प्रयोजन मण्डल के वलय का एक कोठा पूरा करने के अतिरिक्त कुछ नही है।

प्रस्तुत पूजन विधि के अन्त मे प्राकृत भाषामय ३५ गाथाओ का "सिद्धचक्र महिमा" गर्भित एक स्तव दिया है, जिसके प्रारम्भिक भाग मे

माहेन्द्र, वारुण, वायव्य और आग्नेय मण्डलो का सविस्तार वर्णन किया है। यह मण्डल पद्धति भी दिगम्बर परम्परा मे विशेष प्रचलित है। श्वेताम्बर परम्परा की प्रतिष्ठा-पद्धतियो मे से केवल पादलिप्त सूरि कृत "प्रतिष्ठा पद्धति" मे ही उक्त चार मण्डलो का वर्णन दृष्टिगोचर हुआ है, तव दिगम्वरीय प्रतिष्ठा पाठो मे शायद ही ऐसा कोई प्रतिष्ठा पाठ मिलेगा, जिसमे कि उक्त चार मण्डलो का वर्णन न किया हो।

ऊपर हमने "सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार पूजन" को जैन श्वेताम्वरीय और दिगम्वरीय प्रमाणित करने वाले दो प्रकार के जो प्रमाण उपस्थित किये हैं वे उदाहरण मात्र हैं। इनके उपरान्त भी अनेक ऐसे आन्तर प्रमाण हैं, जो उपस्थित किये जा सकते हैं, परन्तु लेख विस्तार के भय से छोटी-छोटी वातो की तरफ ध्यान देना ठीक नही समझा।

(३) सिद्ध-चक्र-यन्त्र और नवपद मण्डल एक नहीं :

आजकल श्वेताम्बर जैन समाज मे "सिद्ध-चक्र" के पूजन काल में नवपद के पूजन का प्रचार सर्वाधिक रूप से हो गया है। इसके आराधन के उद्देश्य मे गुजरात आदि देशो मे नवपद मण्डलो की नियुक्तियाँ तक हुई हैं, और चैत्र तथा आश्विन महीनों की शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक आयम्बिल ती तपस्या तथा नवपद की पूजा की जाती है। हमारे समाज मे "सिद्ध-चक्र" का नाम विक्रम की वारहवी सदी से प्रचलित है। प्रसिद्ध आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिजी ने अपने शव्दानुशासन की वृहद्वृत्ति मे उल्लेख किया है और "अर्हं" शव्द को "सिद्धचक्र" का वीज वताया है, परन्तु वहाँ पर "सिद्धचक्र" को पच परमेष्ठी का चक्र कहा है; कि नवपद का। 'नवपद-शव्द' सिद्धचक्र का पर्याय कब वना, यह कहना कठिन है। आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती किसी जैनाचार्य ने "सिद्धचक्र" का नामोल्लेख किया हो ऐसा हमारे जानने मे नही आया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सव से प्राचीन प्रतिष्ठा कल्प **"पादलिप्त प्रतिष्ठा पद्धति"** के नन्द्यावर्त मे आज-कल के 'नवपद' आते अवश्य हैं, परन्तु इनको वहा पर "सिद्धचक्र" अथवा तो 'नवपद' का नाम न देकर 'नन्द्यावर्त' का मध्य भाग माना है। सर्व

के मध्य मे "अरिहन्त" इसके पूर्व मे "सिद्ध", दक्षिण में "आचार्य", पश्चिम मे "उपाध्याय" और उत्तर दिशा विभाग मे सर्व साधुओं को स्थान दिया है, इसके बाद ईशान, अग्नि, नैऋर्त और वायव्य कोणों मे क्रमशः दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप पदो का विन्यास किया गया है। तव आजकल के हमारे "सिद्धचक्र यन्त्रो" मे पाच पदो के अतिरिक्त विदिशाओ के दर्शन आदि चार पदो का आग्नेय कोण से प्रारम्भ कर के ईशान तक स्थापन किया जाता है। यह परिवर्तन कव और किसने किया, यह कहना कठिन है। फिर भी इतना तो निश्चित सा है कि यह परिवर्तन किसी श्वेताम्बर आचार्य के द्वारा हुआ है।

"सिद्धचक्र" की चर्चा श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे ही नही, अपितु दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मे भी प्राचीन काल से प्रचलित है, दिगम्बर भट्टारक श्री देवसेन सूरि ने अपने "भाव सग्रह' नामक ग्रन्थ मे लगभग ४० गाथाओ मे "सिद्धचक्र" के यन्त्र की और उसके पूजन की चर्चा की है। श्री देवसेन प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार से आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि के पूर्ववर्ती हैं वह तो निश्चित है ही, पर "सिद्धचक्र की पूजा" वनाने वाले अन्य दिगम्बर विद्वानों से भी देवसेन प्राचीन हैं। इन्होने भी अपने "सिद्धचक्रयन्त्र" मे पचपरमेष्ठी के पूजन का ही निरूपण किया है, "नवपदी की पूजा का नही"। इन सब बातो का विचार करने से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल मे "सिद्धचक्र" का पर्याय पंचपरमेष्ठी होता था, 'नवपद' नही, लगभग विक्रम की पन्द्रहवी शती के पूर्व में और वारहवीं सदी के वाद मे "सिद्धचक्र" का स्थान "नवपद मण्डल" ने लिया होगा, इसका प्रारम्भ किसने किया, यह कहना तो कठिन ही है।

(४) ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्धचक्र पूजन विधि :

वर्तमान काल मे प्रायः सभी जैन मन्दिरो मे छोटे छोटे "सिद्धचक्र" के मण्डल धातु के गोल पतरे पर मिलते हैं और पूजे जाते है, लेकिन ये सभी "सिद्धचक्र" के मण्डल अधिकांश मे २० वी सदी के ही दृष्टिगोचर होते हैं। सच वात तो यह है कि पन्द्रहवी शताब्दी की प्राकृत 'श्री

श्रीपाल कथा" के निर्माण होने के वाद सस्कृत मे तथा लोक भाषा मे अनेक 'श्रीपाल कथाओ" का निर्माण श्वेताम्बर तथा दिगवर परपरा के विद्वानो ने किया और उनके श्रवण से जैन समाज मे नवपद-तप का प्रचार वढ़ा। इस समय के पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ मे न "सिद्धचक्र" के पूजन की चर्चा हैं, न नवपद की ओली का तपोविधान। पूर्व मे आश्विन तथा चैत्री अष्टमी से लगाकर पूर्णिमा तक लौकिक उत्सव होते थे, हिंसा भी होती थी, आठ दिन तक खाने-पीने तथा नाचरंग मे जन समाज लवलीन रहता था, इस परिस्थिति को देखकर जैनाचार्यो ने जैन-गृहस्थो को "इन लौकिक प्रवृत्ति प्रधान दिवसों में जैनों को तप का आदर करना चाहिए' ऐसा उपदेश किया। परिणामस्वरूप जैन समाज मे अष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त अष्टाह्निका मे आयंविल तप करने की प्रवृत्ति वढ़ी, पूर्णिमाओं के वाद की प्रतिपदाएँ यद्यपि उत्सव के अन्तर्गत नही थी, फिर भी उन दिनो मे खान-पान के आरभ विशेष रूप से होते थे। अतः जैनाचार्यो ने इन दिनो मे अनध्याय तथा जैन-गृहस्थो ने आयविल-तप रखने का उचित समझा। वारहवी शती के आचार्य श्री जिनदत्त सूरि ने अपने अनुयायियो से कहा कि अष्टमी की तरह शुक्ल सप्तमी भी देवी-देवताओ के प्रचार की तिथि है। अत इसे भी उत्सव के अन्तर्गत ले लेना चाहिए, जिससे अन्तिम आयंविल अपर्व तिथि प्रतिपदा में न आकर पूर्णिमा में आ जाय और उस दिन विशेष जिनभक्ति की जा सके। जिनदत्त सूरि के अनुयायियों ने अपने आचार्य की आज्ञा का पालन किया होगा या नही यह कहना कठिन है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि प्राकृत "श्रीपाल कथा" के निर्माण समय तक अन्य गच्छ वालो ने सप्तमी को अष्टाह्निका के अन्तर्गत नहीं किया था। वाद मे धीरे धीरे आयंबिल तप के भीतर सप्तमी का समावेश हो गया, फलत अठारहवी शती की सभी "श्रीपाल कथाओ" में शुक्ल सप्तमी से आयविल आरंभ करने का विधान मिलता है।

श्वेताम्वर जैन परंपरा मे लाखो वर्षों से "सिद्धचक्र" का पूजन और तन्निमित्तक आयंविल-तप चला आ रहा है, ऐसी मान्यता प्रचलित है और इसके प्रथम आराधक राजा "श्री पाल" और उनकी रानी

"मदन सुन्दरी" को वतलाया जाता है, ठीक है, यह इस तप के महिमा पर एक माहत्म्य-दर्शक आख्यान है, ऐतिहासिक वस्तु नही। ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण करने पर "सिद्धचक्र" यह नाम आचार्य श्री हेमचन्द्र के व्याकरण की बृहद् वृत्ति मे मिलता है। चतुर्दश शताव्दी के पूर्वतन किसी भी "आगम-शास्त्र" मे, प्रकरण-विशेष मे अथवा चरित्र मे "सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार" की वात अथवा "श्रीपाल" तथा मदना के तपो-विधान की वात हमारे दृष्टिगोचर नही हुई।

इस परिस्थिति मे "सिद्धचक्र-यन्त्र" का पूर्वश्रुत से श्री मुनिचन्द्र सूरिजी ने उद्धार किया, यह कथन मात्र श्रद्धा-गम्य रह जाता है, इतिहास के रूप मे नही।

प्रारम्भ मे "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि" श्वेताम्वरीय है, या दिगम्वरीय, इस प्रश्न को लक्ष्य मे रखकर अतरग वहिरग निरूपणो को जाचा, तो हमे प्रतीत हुआ कि यह पूजन विधि न पूरी श्वेताम्वरीय है न दिगम्वरीय, किन्तु दोनो परम्पराओ की मान्यताओं के मिश्रण से वनी हुई एक खीचडा-पद्धति है।

उपसंहार :

"सिद्धचक्र-महापूजा" के विपय मे वहुत समय से कतिपय प्रतिष्ठा-विधि कारको का कुछ प्रकाश डालने का अनुरोव था, फलस्वरूप इस पूजा के सम्वन्ध मे ऊहापोह किया है।

मेरी राय मे प्रस्तुत "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि" जैन सिद्धान्त से मेल न खाने वाली एक अगीतार्थ प्रणीत अनुष्ठान पद्धति है। इसकी कई वाते जैन सिद्धान्त-प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त के मूल में कुठारा-घात करने वाली है। नमूने के रूप मे निम्नोद्धृत श्लोक पढिए—

"एवं श्री सिद्धचक्रस्याराधको विधि-साधकः।
सिद्धाख्योऽसौ महामन्त्र-यन्त्र. प्राप्नोति वाञ्छितम् ॥१॥

धनार्थी धनमाप्नोति, पदार्थी लभते पदम् ।
भार्यार्थी लभते भार्यां, पुत्रार्थी लभते सुतान् ॥२॥

सौभाग्यार्थी च सौभाग्यं, गौरवार्थी च गौरवम् ।
राज्यार्थी च महाराज्य, लभतेऽस्यैव तुष्टितः ॥३॥

× × × × ×

एतत्तपो विधायिन्यो, योषितोऽपि विशेषत. ।
वन्ध्या-निन्द्यादि-दोषाणा, प्रयच्छन्ति जलाञ्जलिम् ॥८॥"

अर्थात्—

इस प्रकार श्री "सिद्धचक्र" का आराधक, विधि पूर्वक सार्वना करता हुआ, सिद्ध नाम धारण करके महामन्त्र-यन्त्रमय वन कर मनोवाछित फल को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

धन का इच्छुक धन को, स्त्री का अभिलाषी स्त्री को, पदाधिकार का इच्छुक पदाधिकार को, पुत्र-कामी पुत्रो को प्राप्त करता है ॥ २ ॥

सिद्धचक्र की कृपा से सौभाग्यार्थी सौभाग्य को, महत्त्वाकाक्षी महत्त्व को और राज्य का अभिलाषी महाराज्य को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

× × × × ×

इस सिद्धचक्र के तप का आराधन करने वाली स्त्रियाँ भी खास कर वन्ध्यात्व (वाँझपन), मृतवत्सात्व आदि दोषो को जलाञ्जलि देती हैं ॥ ८ ॥

ऊपर के श्लोको मे वर्णित जिनादि पदो के आराधक पुरुषों को तथा तन्निमित्तक तप करने वाली स्त्रियों को पौद्गलिक तुच्छ फलो का प्रलोभन देकर परमेष्ठी पदो की तथा तप पद की आराधना का उपहास किया है। क्या "सिद्धचक्र" का आराधन तथा तपश्चर्या इन्ही क्षुद्र फलों के निमित्त करने का शास्त्र ने लिखा है, कभी नही ।

यह उपर्युक्त कथन शास्त्र-विरुद्ध ही नही, मिथ्यात्व का वर्द्धक भी है। जैन शास्त्रो मे तो जिनदेव आदि का पूजन विनय आदि सम्यक् शुद्धि के लिये करना वतलाया है। तव तपोविधान पूर्ववद्ध अशुभ कर्मो की निर्जरा के लिए, उक्त प्रकार के अल्पज्ञ और अगीतार्थं साधुओ द्वारा प्रचारित अयोग्य अनुष्ठानो तथा आचारो के प्रताप से आज का जैन धर्म अपना लोकोत्तरत्व छोडकर लौकिक धर्म वनता जा रहा है। आशा करना तो व्यर्थ है, फिर भी सव्र न होने से कहना पडता है कि हमारे श्रमण-गण उक्त पक्तियो को पढकर उक्त प्रकार के निस्सार अनुष्ठानो तथा आचारो को समाज मे फैलने से रोके, ताकि जैन धर्म अपना स्वत्व वचा सके।

卐 卐

: १० :

श्री नमस्कार माहात्म्य

श्री सिद्धसेनाचार्य-विरचित

❖

नमस्कार माहात्म्य नाम के आज दिन तक २ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। एक के कर्त्ता है आचार्य "देवेन्द्र सूरि" तव दूसरे के कर्त्ता हैं "सिद्ध-सेन सूरि"। यहाँ हम सिद्धसेन कृत 'नमस्कार माहात्म्य' का अवलोकन लिख रहे हैं।

इस माहात्म्य की वर्णन-शैली साधारण और अर्वाचीन है, इसमे आने वाले देव-देवियों के नाम वताते है कि यह कृति १५वी शती के पूर्व की नही, इसका कर्त्ता "सिद्धसेन" सम्भवत. १४३३ मे होने वाले "नाणक गच्छीय सिद्धसेन" हैं जो चैत्यवासी थे। यह ग्रन्थ "सिरि सिरिवालकहा" जो १५वी शताव्दी के प्रथम चरण में वनी है, उसके वाद का है। इसके अन्तर्गत अनेक विधानो पर दिगम्वरीय भट्टारको का असर है। कही कही तो श्वेताम्वर असम्मत वातों का प्रतिपादन भी इसमें दृष्टिगोचर होता है, जैसे—११ रुद्रविपयक मन्तव्य, लक्ष नवकार जाप से तीर्थङ्कर नाम कर्म का निर्माण होने को वात विक्रम की सोलहवी शती से पूर्व-कालीन किसी भी ग्रन्थ मे हमारे देखने मे नही आई। इसमे दिए हुए अधिकांश देवियो के नाम १५वी शताव्दी की तथा उसके वाद की प्रतिष्ठा विधियो मे मिलते हैं "अष्टौ कोट्य" इत्यादि श्लोक मे जाप सम्वन्धी जो वात कही है वह शान्ति घोषणा की एक गाथा का अनुवाद मात्र है, जो शान्ति घोपणा पन्द्रहवी शती के अनन्तर की है। पाच नमस्कार उच्चारण के समय जो विधि और मुद्रा वताई है, वह अनागमिक है। जाप किसी भी मुद्रा से होता है, इस वात का लेखक को ज्ञान नही था, इसी से यह ऊटपटाङ्ग विधि लिख बैठे हैं। इन सव वातो पर विचार

करने से यही ज्ञात होता है कि ८–६ सिद्धसेनो मे से १४३३ में होने वाले अथवा १५६३ वर्ष वाले सिद्धसेन इन दो मे से कोई एक हो सकते हैं, ये दोनों आचार्य चैत्यवासी थे और इनका गच्छ "नाणकीय" अथवा "नाणावाल" कहलाता था। अन्तिम श्लोक मे "नमस्कार-माहात्म्य" की रचना सिद्धपुर नगर मे होने का उल्लेख किया है, इसके अतिरिक्त अपने समय का अथवा गच्छ का कोई परिचय नही दिया।

卐 卐

: ११ :

विजयदेव माहात्म्य

पाठक श्री श्रीवल्लभ विरचित

❖

विजयदेव से मतलव तपागच्छ की मुख्य शाखा के आचार्य श्री हीरसूरिजी के पट्टधर आचार्य श्री विजयसेन सूरि के पट्ट प्रतिष्ठित आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी से है। आचार्य विजयदेव सूरिजी के समय मे उपाध्याय श्री धर्मसागरजी की परम्परा के कतिपय साधु धर्मसागर-रचित "सर्वज्ञ-शतक" आदि ग्रन्थ जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से विरोधी वातो के लिखने के कारण आचार्य श्री विजयदान सूरिजी तथा विजय-हीर सूरिजी ने लेखक को "गच्छ वाहर" कर दिया था, परन्तु कुछ समय के वाद धर्मसागरजी ने उन शास्त्र-विरुद्ध वातो का सशोधन किये विना इन ग्रन्थो का प्रचार नही करने की प्रतिज्ञा करने और जो प्ररूपणा की उसके वदले में "मिथ्यादुष्कृत" कर देने पर फिर उन्हे गच्छ मे ले लिया गया था। परन्तु सागरजी अपने वचनो पर दृढ प्रतिज्ञ नही रहे और उन ग्रन्थों का गुप्त रीति से प्रचार करते रहे, परिणामस्वरूप उन्हे फिर भी गच्छ वाहर की शिक्षा हुई। हीरसूरिजी महाराज स्वर्गवासी हो चुके थे और तत्कालीन गच्छपति श्री विजयसेन सूरिजी भी वृद्धावस्था को पहुचे हुए थे। उन्होंने अपने पट्टधर के रूप मे विक्रम स० १६५६ मे उपाध्याय विद्याविजयजी को आचार्य पद देकर अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया और "विजयदेव सूरिजी" के नाम से उद्घोषित किया। इसके दो वर्ष के वाद ही उन्हें "गच्छानुज्ञा" भी कर दी।

कहा जाता हैं कि उपाध्यायजी धर्मसागरजी विजयदेव सूरिजी के सांसारिक मामा लगते थे। इस सम्वन्ध से उपाध्याय धर्मसागरजी की

तरफ से विजयदेव सूरिजी को एक पत्र लिखा गया था जिसमे "अपन को गच्छ मे लिवाने की सिफारिश की थी। उस पत्र के उत्तर में विजयदेव सूरिजी ने लिखा था कि "जव तक गुरु-महाराज विद्यमान है तव तक मैं इस विपय मे कुछ नही कर सकता" देवसूरिजी का यह पत्र किसी सागर-विरोधी के हाथ लगा और आगे से आगे यह पत्र आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के पास पहुचा। आचार्य ने अपने गच्छ के खास खास गीतार्थ उपाध्यायो, पन्यासो को इकट्ठा करके देवसूरि के इस पत्र की उनके सामने चर्चा की और इसका वास्तविक भाव पूछा। इस पर सागरो के विरोधी उपाध्यायो, पन्यासो आदि ने वाल की खाल निकालते हुए कहा—"विजयदेव सूरि सागरो के पक्ष मे हैं, भले ही आपके जीवन काल मे ये कुछ न करे, परन्तु उनको सार्वभौम सत्ता मिलते ही सागरो का खुल्लमखुला पक्ष लेंगे और गच्छ मे दो दल पड़कर सागर-विशेष निरकुश वन जायेगे"। इन वातो को सुनकर श्री विजयसेन सूरिजी महाराज ने अपने गच्छ के सव विद्वान् साधुओ की राय माँगी कि अव इसके लिए क्या किया जाय? गीतार्थो का एक मत तो नही हुआ, परन्तु उपाध्याय सोमविजयजी आदि अधिक गीतार्थ नया आचार्य पट्टधर वनाकर विजयदेव सूरिजी तथा सागरो की शान ठिकाने लाने के पक्ष मे रहे, तव कतिपय गीतार्थ साधुओ ने श्री विजयदेव सूरि पर विश्वास रखने का अभिप्राय भी व्यक्त किया। आखिर वहुमत की चली और एक साधु को आचार्य पद देकर उनको "विजयतिलक सूरि" के नाम से जाहिर किया। तत्काल भले ही सागरो के विरुद्ध वहुमत होने से नया आचार्य स्थापित हो गया और गच्छ के कुछ भाग ने उनकी आज्ञा में रहना भी स्वीकार कर दिया, पर पिछली घटाओ से मालूम होता है कि गच्छ के इस भेद ने धीरे धीरे उग्र रूप धारण किया। विजयदेव सूरिजी के सम्वन्ध में जो अविश्वास की वात सोची गई थी, वह वास्तविक नही थी। परन्तु सागरो के विरोधियो ने सागरो के साथ साथ इस तपस्वी आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी को भी वदनाम करने मे उठा नही रखा।

भविष्य मे जिस गच्छ-भेद की आशका की थी, वह तुरन्त उनके समय मे ही सच्ची पड़ गई। जहाँ तक हमारा ख्याल है, यह घटना

विक्रम स० १६५८ के वाद और १६७१ के पहले की होनी चाहिए, क्योकि विजयदेव सूरिजी १६५८ मे गच्छ के नेता वनाए गए थे और विक्रम सं० १६७१ मे आचार्य श्री विजयसेन सूरि स्वर्गवासी हुए थे। इन दो घटनाओ के वीच के १३ वषो मे किस समय यह घटना घटी होगी यह कहना तो कठिन है, परन्तु प्रस्तुत "माहात्म्य" के एक सर्ग मे विजयदेव सूरिजी की तपस्याओं का वर्णन किया है। वहाँ लिखा है कि आचार्य देवसूरिजी ने यह तप करना विक्रम स० १६६१ के वर्ष से शुरू किया था। इससे अनुमान होता है कि गच्छ-भेद इसके पहले हो गया होगा और इस समय वे अपने गुरू से जुदे विचरते होगे।

देवसूरिजी के तप और त्यःग ने उनके मित्र का काम किया :

आचार्य विजयदेव सूरिजी ने जो तपस्या शुरू की थी, उसने गृहस्थ-वर्ग के मनो पर ही नही, गच्छ के श्रमरण-वर्ग पर भी अपूर्व प्रभाव डाला, जो श्रमरण गच्छ भेद के समय मे उनकी आज्ञा के विरुद्ध नये आचार्य की आज्ञा मे चलने लगे थे। उनमे से भी अधिकाँश विद्वान् साधु धीरे धीरे विजयदेव सूरिजी की आज्ञा मे आते रहते थे। इस वात को एक उदाहरण ले समझाया जा सकता है, जव विजयदेव सूरि के विरुद्ध नया आचार्य वनाया गया था, तब उपाध्याय श्री विनयविजयजी नये आचार्य के पक्ष मे थे, जो सवत् १६९६ तक उसी पार्टी मे वने रहे। परन्तु विनयविजयजी ने वाद मे वनाये हुए अपने ग्रन्थो मे विजयदेव सूरिजी को गच्छ-पति के रूप मे याद किया है। इसी प्रकार दूसरे भी अनेक विद्वान् श्रमरण धीरे धीरे विजयदेव सूरिजी को अपना आचार्य मानने लगे थे। यह सव उनके तप का फल था, ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा।

विजयदेव सूरिजी का विशेष विहार मारवाड, मेवाड, दक्षिरण तथा सौराष्ट्र की तरफ हुआ है। अधिकाश प्रतिष्ठाएँ, दीक्षाएँ, तीर्थ-यात्राएँ इसी प्रदेश से निकली हैं। जालोर के दीवान जयमलजी मुरणोयत इनके अनन्य भक्त थे, इनकी वात विजयदेव सूरिजी ने कभी अमान्य नही की।

नगर जालोर मे इनके हाथ से अथवा इनके आज्ञाकारी जयसागर गणी के हाथ से जयमलजी द्वारा कोई ४ अजन-शलाकाएँ हुई थी। इनके पट्टधर आचार्य विजयसिंह सूरि को स० १६८४ मे गच्छानुज्ञा भी जयमलजी ने ही करवाई थी। इतना ही नही तीन वर्षा-चातुर्मास्य विजयदेव सूरिजी ने जालोर मे किये थे। इसी प्रकार मेड़ता, पाली, जोधपुर, सिरोही आदि नगरो मे आपके चातुर्मास्य हुए और प्रतिष्ठादि अनेक धर्म-कार्य हुए थे। यह सब होते हुए भी गच्छ-भेद होने के बाद आपने गुजरात, सौराष्ट्र, मेवाड वगैरह अनेक देशो मे विहार कर अनेक राजाओ तथा राजकर्मचारियो को अपना अनुयायी बनाया था।

गच्छ-भेद होने के उपरान्त आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के साथ श्री विजयदेव सूरिजी के विहार की बात नही आती। इससे ज्ञात होता है कि आप को गच्छानुज्ञा होने के बाद अपने गुरू आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी से जुदा विहार करने का प्रसग आया होगा, क्योकि "विजयदेव माहात्म्य" मे आप अपने गुरू के साथ स० १६५८ के बाद कही दिखाई नही देते। इसका कारण यही हो सकता है, कि आपको गच्छनायक बना लेने के बाद थोडे ही समय मे गच्छ मे बखेड़ा खड़ा हुआ और गुरू शिष्य का विहार जुदा पड़ा। कुछ भी हो, हमारी राय मे विजयदेव सूरिजी ने विपरीत प्ररूपणा करने वाले सागरो का कभी पक्ष नही लिया। यही नही, जहाँ कही प्रसग आया है, वहाँ आप सागरो के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए भी तय्यार हुए हैं। अहमदाबाद के नगर सेठ श्री शान्तिदास जो सागरो के पक्के भक्त थे और दोनो पार्टियो के नेताओ को मिलाकर शास्त्रार्थ द्वारा इस मतभेद का निराकरण कराना चाहते थे, उन्होंने अपनी तरफ से कतिपय सद्गृहस्थो को अपना पत्र देकर श्री विजयदेव सूरिजी के पास मेड़ता नगर भेजा और आपसी दो पक्षो का निर्णय करने के लिये जालोर तक पधारने की प्रार्थना की। उधर सागर-गच्छ के उस समय के मुख्य विद्वान् मुक्तिसागरजी को भी विजयदेव सूरिजी के साथ चर्चा कर गच्छ मे शान्ति स्थापित करने की प्रार्थना की। आचार्य विजयदेव सूरिजी ने सेठ शान्तिदास की विनती को मान देकर

प्रसन्नता पूर्वक जालोर आने का निश्चय कर विहार किया और जालोर पहुच भी गए।

उधर शान्तिदास सेठ ने सर्व प्रथम अपने गुरु से देवसूरिजी के साथ शास्त्रार्थ करने की वात कही, तव उन्होने स्वीकार किया था, कि विजयदेव सूरिजी अपने स्थान से शास्त्रार्थ करने के भाव से थोडे वहुत इधर आ जाएँगे तो मैं भी उनके पास जाकर शास्त्रार्थ कर लूंगा। विजयदेव सूरिजी को बुलाने जाने वाले शान्तिदास के मनुष्यों ने अहमदावाद जाकर सेठ को कहा—श्री विजयदेव सूरिजी शास्त्रार्थ करने के लिए जालोर आ पहुचे हैं और आपकी प्रतीक्षा कर रहे है। अतः आप श्री मुक्तिसागरजी को साथ में लेकर जालोर पधारिये। सेठ शान्तिदास ने अपने गुरू श्री मुक्तिसागरजी को शास्त्रार्थ करने के लिये आने को लिखा, पर उन्होने उसका कोई उत्तर नही दिया और न अपने स्थान से कही गए। इस वृत्तान्त से सेठ शान्तिदास तथा अन्य विरुद्ध-प्ररूपक सागरों के भक्त निराश हुए और धीरे धीरे उनका साथ छोड़ कर देवसूरिजी की आज्ञा मानने वाले सागर साधुओ का गुरू के रूप मे अपनाया।

उपाध्याय श्री धर्मसागरजी के अप्रामाणिक ग्रन्थों का प्रचार करने के कारण उपाध्यायजी के परवर्ति शिष्य-प्रशिष्यादि ने अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा स्थापित कर ली थी। यद्यपि उनमें कोई आचार्य नही था। धर्मसागरजी की तरह उनके शिष्य भी उपाध्याय ही कहलाते रहे, परन्तु विजय-परम्परा मे विजयदेव सूरि, विजय आनन्द सूरि के नाम से दो परम्पराएँ प्रचलित हुई। उसी समय मे सागरों ने भी अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा उद्घोषित की और उसका सवन्ध विजयसेन सूरिजी से जोड़ा। विजयसेन सूरिजी के समय में वास्तव में सागर-नामक कोई आचार्य ही न था, उपाध्याय परम्परा ही चल रही थी। परन्तु विजयशाखा के आपसी कलह के कारण पिछले सागरों ने अपनी आचार्य परम्परा प्रचलित कर स्वतन्त्र वना ली।

विजयसेन सूरिजी के बाद राजसागर सूरिजी, उनके पट्टधर वृद्धिसागर सूरिजी आदि के नाम कल्पित करके सागरो ने अपनी शाखा सदा के लिए कायम कर ली। इस शाखा मे प्रारम्भ मे धर्मसागर के ग्रन्थों को प्रामाणिक मानने वाले सागरो की ही टोली थी। अधिकाश सागर-शाखा के साधु विजयहीर सूरि, विजयसेन सूरि, विजयदेव सूरि आदि आचार्यों की आज्ञा मे रहने वाले थे। उ० धर्मसागरजी की परम्परा के अधिकाश साधु विजय-शाखा के आचार्यों की आज्ञा के बाहर थे। अहमदावाद मे नगर सेठ शान्तिदास का कुटुम्ब तथा अन्य कतिपय गृहस्थ इनकी परम्परा को मान देते थे, परन्तु विजयदेव सूरि से शास्त्रार्थ करने मे पीछे हटने से इन सागरो पर से अधिकाश भक्तों की श्रद्धा हट गई। परिणामस्वरूप धर्मसागरजी के ग्रन्थो के अनुसार अनागमिक प्ररूपणा करना बन्द हो गया। बाद मे अन्य शाखाओ की भाँति सागर शाखा भी चलती रही, परन्तु प्ररूपणा मे कोई भेद नही रहा। आज विजय-शाखा मे सविज्ञ पाक्षिक साधुओ की परम्परा विस्तृत रूप मे फैली हुई है। आचार्यों द्वारा चलाई जाने वाली विजयदेव तथा विजयआनन्द सूरि की मूल परम्पराएँ अस्तित्व मे नही हैं, इसी प्रकार धर्मसागरजी उपाध्याय की शिष्य परम्परा ने चलाई हुई सागर परम्परा भी आज विद्यमान नही है। आज सागर नाम के साधुओ की जो शाखा चल रही है, वह भी क्रियोद्धारक-सविज्ञ-पाक्षिक साधुओ की है। इस प्रकार विजयान्त नाम वाले साधुओ की मूल दो परम्पराएँ और सागर की मूल परम्परा कभी की विच्छिन्न हो चुकी हैं।

उपाध्याय धर्मसागरजी जिन ग्रन्थो के प्रचार के अपराध मे गच्छ बाहर हुए थे और उनकी परम्परा के सागर साधुओ को भी उन्ही ग्रन्थो के प्रचार करने के अपराध मे तपागच्छ के आचार्यों की आज्ञा के बाहर ठहराया गया था, उन्ही ग्रन्थो का आज संविज्ञ शाखा के कतिपय सागर नामधारी प्रचार कर रहे हैं। परन्तु हमारी सविज्ञ शाखा के कहलाने वाले आचार्यों द्वारा इसका कोई प्रतीकार नही होता,

प्रसन्नता पूर्वक जालोर आने का निश्चय कर विहार किया और जालोर पहुंच भी गए।

उधर शान्तिदास सेठ ने सर्व प्रथम अपने गुरु से देवसूरिजी के साथ शास्त्रार्थ करने की बात कही, तव उन्होने स्वीकार किया था, कि विजयदेव सूरिजी अपने स्थान से शास्त्रार्थ करने के भाव से थोडे बहुत इधर आ जाएँगे तो मैं भी उनके पास जाकर शास्त्रार्थ कर लूंगा। विजयदेव सूरिजी को बुलाने जाने वाले शान्तिदास के मनुष्यों ने अहमदावाद जाकर सेठ को कहा—श्री विजयदेव सूरिजी शास्त्रार्थ करने के लिए जालोर आ पहुचे हैं और आपकी प्रतीक्षा कर रहे है। अतः आप श्री मुक्तिसागरजी को साथ मे लेकर जालोर पधारिये। सेठ शान्तिदास ने अपने गुरू श्री मुक्तिसागरजी को शास्त्रार्थ करने के लिये आने को लिखा, पर उन्होंने उसका कोई उत्तर नही दिया और न अपने स्थान से कही गए। इस वृत्तान्त से सेठ शान्तिदास तथा अन्य विरुद्ध-प्ररूपक सागरों के भक्त निराश हुए और धीरे धीरे उनका साथ छोड कर देवसूरिजी की आज्ञा मानने वाले सागर साधुओ को गुरू के रूप मे अपनाया।

उपाध्याय श्री धर्मसागरजी के अप्रामाणिक ग्रन्थों का प्रचार करने के कारण उपाध्यायजी के परवर्ति शिष्य-प्रशिष्यादि ने अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा स्थापित कर ली थी। यद्यपि उनमें कोई आचार्य नही था। धर्मसागरजी की तरह उनके शिष्य भी उपाध्याय ही कहलाते रहे, परन्तु विजय-परम्परा मे विजयदेव सूरि, विजय आनन्द सूरि के नाम से दो परम्पराएँ प्रचलित हुईं। उसी समय में सागरो ने भी अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा उद्घोषित की और उसका सबन्ध विजयसेन सूरिजी से जोड़ा। विजयसेन सूरिजी के समय मे वास्तव में सागर-नामक कोई आचार्य ही न था, उपाध्याय परम्परा ही चल रही थी। परन्तु विजयशाखा के आपसी कलह के कारण पिछले सागरों ने अपनी आचार्य परम्परा प्रचलित कर स्वतन्त्र वना ली।

अहमदावाद के उपनगर श्री शकन्दर में श्रावक लहुआ पारिक के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसग पर स० १६५५ के मार्गशीर्ष शुक्ला ५ के दिन आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के हाथ से हुआ था ।

विजयदेव सूरिजी का आचार्य पद खभात मे हुआ । खभात-वासी श्रीमल्ल नामक श्रावक की विज्ञप्ति स्वीकार कर आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी खभात पधारे । श्रीमल्ल ने वड़ा उत्सव किया, देश-देश आमन्त्रण-पत्रिकाएँ भेज कर संघ को बुलाया । आचार्य विजयसेन सूरिजी ने विक्रम स० १६५७ के वैशाख शुक्ला चतुर्थी के दिन पण्डित विद्याविजयजी को सूरि मन्त्र प्रदान पूर्वक आचार्य पद दिया और सघ समक्ष उन्हे "विजयदेव सूरि" इस नाम से प्रसिद्ध किया ।

विजयदेव सूरि को गच्छानुज्ञा दिलाने के लिए पाटण निवासी श्रावक सहस्रवीर ने वहुत धन खर्च कर "वदनोत्सव" इस नाम से वडा भारी उत्सव किया । इसी उत्सव मे आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी ने आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी को स० १६५८ के पोष कृष्णा ६ गुरु के दिन "गच्छानुज्ञा" कर उन्हे वन्दन किया ।

पाटण से गुरु शिष्य दोनो आचार्य अपने परिवार तथा श्रावकों के साथ श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा के लिए गए और उसके वाद मारवाड़ की तरफ विहार किया ।

"विजयदेव माहात्म्य" के लेखक उपाध्याय श्रीवल्लभ :

प्रस्तुत "विजयदेव माहात्म्य" के कर्ता कवि श्री श्रीवल्लभ उपाध्याय वृहद् खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनराज सूरि सन्तानीय पाठक श्री ज्ञानविमलजी के शिष्य थे । आपका तपागच्छाधिराज श्री विजयहीर सूरिजी तथा उनके शिष्य श्री विजयसेन सूरिजी तथा श्री विजयदेव सूरिजी पर वडा गुणानुराग था । यही कारण है कि उपाध्याय श्रीवल्लभ जैसे विद्वान् ने तपागच्छ तथा इस गच्छ के आचार्यों की यह जीवनी लिखी है ।

यह आज के हमारे आचार्यों की कमजोरी का प्रमाण है। यदि इसी प्रकार हमारी सविज्ञ शाखा के आचार्य तथा श्रमण-गण प्रतिदिन निर्बल बनते जायेंगे, तो पूर्वकालीन "श्री पूज्य" नाम से पहचाने जाने वाले आचार्यों और "यति" नाम से परिचित हुए साधुओं की जो दशा हुई थी वही दशा आज के आचार्यों तथा साधुओं की होगी, इसमे कोई शका नही है।

विजयदेव सूरिजी का उपदेश :

"विजयदेव-माहात्म्य" के पढने से ज्ञात होता है, कि विजयदेव सूरिजी के समय मे धर्मोपदेश का मुख्य विषय जैन-मन्दिरो का निर्माण प्राचीन जैन-मन्दिरो के जीर्णोद्धार करवाना, जन-मूर्तियो का बनवाना और तीर्थयात्राओ के लिए सघ निकलवाना इत्यादि मुख्य था। यद्यपि मुनि-धर्म, गृहस्थ-धर्म आदि के उपदेश भी होते रहते थे, फिर भी उपर्युक्त तीनो विषयो का उपदेश विशेष रहता था। आज के उपधानो, उद्यापनो, अष्टोत्तरी तथा शान्तिस्नात्र आदि के उपदेश महत्त्व नही रखते थे। ये कार्य भी होते अवश्य थे, परन्तु बहुत ही अल्प प्रमाण मे। विजयदेव सूरिजी ने अपने जीवन मे हजारो प्रतिमाओ का अजन-विधान करके उन्हे पूजनीय बनाया। सैकड़ो प्रतिमाओ को जिनालयो मे प्रतिष्ठित करवाया, अनेक रंगो द्वारा भिन्न-भिन्न तीर्थों की यात्राएँ की। परन्तु सारे ग्रन्थ मे "इपधान" का नाम एक ही बार आया है, तब उद्यापन कराने का प्रसग कही भी दृष्टिगोचर नही हुआ।

विजयदेव सूरिजी का जन्म-स्थान ईडर नगर था। इनके पिता का नाम सेठ "स्थिरा" और माता का नाम "रूपा" था। इनका खुद का गृहस्थावस्था का नाम "वासकुमार" था। इनकी दीक्षा शहर अहमदाबाद मे हाजा पटेल की पोल मे श्री विजयसेन सूरिजी के हाथ से वि० स० १६४३ के माघ शुक्ला १० के दिन हुई थी और दीक्षा नाम 'विद्याविजय' रखा गया था। इनकी माता रूपाँ की दीक्षा भी इसी दिन इनके साथ ही हुई थी। विद्याविजयजी का 'पण्डित-पद'

"एधता श्री तपागच्छो, दीप्यता सवितेव च ।
तेजसा सूरिमन्त्रस्य, त्वदीयस्य च सर्वदा ॥१५॥
महीयान् श्री तपागच्छ, सर्वगच्छेसु सर्वदा ।
सर्वदा सर्वदाता च, पर्वतात्सर्ववाञ्छितम् ॥१६॥
राजान इव विद्यन्ते, श्रावका यत्र सर्वदा ।
नन्दताच्छ्रीतपागच्छ' सतत स ततक्षण· ॥१७॥
यत्र त्वमीदृश सूरि वर्तसे गच्छनायकः ।
स्तूयते चेति विद्वद्भि, पातिसाह्यादिभिर्नृपैं ॥१८॥"

अर्थ—

श्री तपागच्छ वृद्धिगत हो और तुम्हारे (विजयदेव सूरि) सूरि मन्त्र के तेज से सूर्य की तरह सदा देदीप्यमान रहो। श्री तपागच्छ सर्व गच्छो मे सदा महान् है और वह सदा सर्व पदार्थों को देने वाला है। जैसे पर्वत से सर्ववाञ्छित प्राप्त होते हैं, जिसमे श्रावक राजाओ के जैसे समृद्धिमन्त है और जिस गच्छ मे निरन्तर उत्सव होते रहते है, ऐसा तपागच्छ सदा समृद्धिमन्त हो, जिसमे तुम्हारे जैसे गच्छनायक हैं, जो विद्वानो द्वारा तथा वादशाह आदि राजाओ द्वारा सदा स्तुति गोचर किये जाते हैं। १५–१८ ।

विजयदेव सूरिजी के समय में प्रचलित कुछ रीतियाँ :

१· कवि श्रीवल्लभ ने श्री वासकुमार के जन्म के दशवे दिन उनके पिता सेठ स्थिरा द्वारा अपने मित्र सम्वन्धियो को आमन्त्रित कर भोज देकर पुत्र का नामकरण करवाया है। इतना ही नही, किन्तु नवजात बालक को दर्शनार्थ देवमन्दिर ले जाने की वात भी कही है। इससे मालूम होता है कि उस समय जैनो मे दसवे दिन पुत्र जन्म-सम्बन्धी सूतक पूरा हो जाता था।

२· आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी त्यागी और त्यागियो के गुरू होते हुए भी नगर-प्रवेश के समय रेशमी अथवा सूती वस्त्र जो भक्तो द्वारा मार्ग मे विछाये जाते थे, उन पर चलते थे।

कवि इस विषय में स्वयं कहते हैं—

"यदन्यगच्छप्रभवः कविः किं, मुक्त्वा स्वसूरिं तपगच्छसूरेः ।
कथं चरित्रं कुरुते पवित्रं, शकेयमार्यैर्न कदापि कार्या ॥२००॥

आत्मार्थसिद्धि. किल कस्य नेष्टा, सा तु स्तुतेरेव महात्मना स्यात् ।
आभाणकोऽपि प्रथितोऽस्ति लोके, गगा हि कस्यापि न पैतृकीयम् ॥२०१॥

तस्मान्मया केवलमर्थसिद्धयै, जिह्वा पवित्रीकरणाय यद्वा ।
इति स्तुत. श्री विजयादिदेव., सूरिस्समं श्री विजयादिसिंहैः ॥२०२॥

आचन्द्र-सूर्यं तपगच्छधुर्यो, वृतो परेणापि परिच्छदेन ।
जीयाच्चिरं स्तान्मम सौख्यलक्ष्म्यै, श्री वल्लभ. पाठक इत्यपाठीत् ॥२०३॥"

अर्थात्—

अन्यगच्छीय कवि अपने आचार्य को छोड़कर, तपागच्छ के आचार्य का पवित्र चरित्र क्यो बनाता है, इस प्रकार की शका सज्जन पुरुषो को कदापि नही करनी चाहिए। आत्मार्थ-सिद्धि सभी को इष्ट होती है और वह महात्माओ की स्तुति से ही प्राप्त होती है। लोगो मे कहावत प्रसिद्ध है कि "गगा किसी के बाप की नही है", इसीलिए मैंने केवल अपनी अर्थ सिद्धि के लिए अथवा जिह्वा को पवित्र करने के लिए आचार्य श्री विजय-सिंह सूरि के साथ श्री विजयदेव सूरि की ऊपर मुजब स्तुति की है। चन्द्र सूर्य की स्थिति पर्यन्त तपागच्छ के धुरन्धर आचार्य श्री (विजयदेव सूरि) अपने परिवार से परिवृत्त होकर विजयी हों और मेरे लिए सुख लक्ष्मी के देने वाले हो ऐसा पाठक श्रीवल्लभ का कहना है। २००-२०३।

कवि श्रीवल्लभ पाठक विजयदेव सूरि को चिरविजयी रहने की आशसा करते हैं और इस काव्य की रचना द्वारा जिह्वा पवित्र करने के अतिरिक्त गुणी के गुणगान करने से जो आत्मिक लाभ होता है, उसी की वे प्रार्थना करते हैं। कवि ने तपागच्छ के आचार्यों की ही स्तुति नही गाई किन्तु तपागच्छ की भी दिल खोलकर प्रशंसा की है। वे लिखते हैं—

"विजया १, सुन्दरा २ (सुन्दरी), वल्लभा ३, हंसा ४, विमला ५, चन्द्रा ६, कुशला ७, रुचि ८, सागरा ९, सौभाग्या १०, हर्षा ११, सकला १२, उदया १३, आनन्दा १४। उक्त शाखाओ के अतिरिक्त 'सोमा' आदि अन्य शाखाएँ भी प्रचलित थी। कवि ने इनका सामान्य अर्थ भी निरुक्त के रूप मे दिया है, परन्तु इसकी चर्चा कर हम विषय को वढ़ाना नही चाहते।

ग्रन्थ के कवि श्री श्रीवल्लभ उपाध्याय की योग्यता :

अपने गच्छ के आचार्यो की प्रशस्तिया तो सभी लिखते है, परन्तु अन्य गच्छ तथा उसके आचार्यों की प्रशस्ति लिखने वाले श्रीवल्लभ पाठक जैसे शायद ही कोई विद्वान् हुए होंगे। श्रीवल्लभ की इस अन्य गच्छ-भक्ति से इतना तो निर्विवाद है कि ये गुणानुरागी पुरुष थे, इसमे कोई शका नही।

कवि श्रीवल्लभ ने अपनी इस कृति को "महाकाव्य" के नाम से उल्लिखित किया है, यह ठीक नही जँचता। क्योकि इसमे रस, रीति, अलंकार आदि काव्य लक्षण दृष्टिगोचर नही होते। इतना ही नही, अनेक स्थानों पर छन्दोभग आदि साहित्यिक अशुद्धियाँ भी प्रचुर मात्रा मे दृष्टिपथ मे आती हैं। इस परिस्थिति मे लेखक इसको "महाकाव्य" न कहकर "चरित्र" कहते तो अच्छा होता।

पाठक श्रीवल्लभ कवि की इस कृति से यह भी मालूम हुआ कि उनका आगमिक ज्ञान वहुत कच्चा होना चाहिए। वासकुमार की केवल नौ वर्ष की अवस्था में कवि उनके यौवन तथा परिणयन की वातें करता है। "वर्तमान चतुर्विंशति के २३ तीर्थङ्करो ने भी विवाह करने के उपरान्त दीक्षा ली थी, तो तुम्हे भी पहले गृहस्थाश्रम स्वीकार कर पिछले जीवन मे प्रव्रज्या लेना चाहिए" ऐसा उनके माता-पिताओं के मुख से कहलाता है। काव्य के मूल शब्द निम्नोद्धृत हैं—

"त्रयोविंशतिरर्हन्तः, परिणीतवरस्त्रियः।
संजातानेकपुत्राश्च, प्रान्ते प्रापुः शिवश्रियम् ॥३०॥

३. उस समय आचार्यो को भक्त गृहस्थो अथवा संघ के आगेवानो का वड़ा लिहाज रखना पड़ता था। जहाँ वे चातुर्मास्य मे अथवा शेषकाल मे स्थिरता करते थे, वहाँ से विहार करने के पहले खास भक्त अथवा सघ की आज्ञा मानते। जव तक वे आज्ञा नही देते, तव तक वे वहाँ से विहार नही करते थे। एव वार विजयदेव सूरिजी जालोर मे थे, तव मेड़ता से अमुक गृहस्थ सघ के आगेवानो के साथ मेडता मे जिन-प्रतिष्ठा करने के लिए आचार्य को मेडता पधारने की विनती करने आए, परन्तु उन्हे विश्वास था कि जव तक जयमल्लजी मुणोत जो सूरिजी के परम भक्त थे, आचार्य को विहार की आज्ञा नही देगे, तव तक आचार्य जालोर नही छोडेगे। इसीलिए वे प्रथम जयमल्लजी से मिले और उनसे प्रार्थना की जो निम्न श्लोक से ज्ञात होगी—

"मन्त्रिणं जयमल्ल ते, मिलित्वा चावदन्निदम्।
सूरीन्द्र मुञ्च धर्मात्मन्नेति यत् त्वद्वचो विना ॥४२॥" (दशम सर्ग)

अर्थात्—

'मेडता के सघ के आने वाले अग्रेसर मन्त्री जयमल्लजी को मिलकर यह वोले—हे धर्मात्मन् जयमल्लजी! आचार्य विजयदेव सूरिजी को हमारे वहाँ भेजो, क्योकि आपके कहे विना वे नही आयेगे।

४. उस समय आचार्य सोने रूपे से अपनी नवाग पूजा करवाते थे, जो रीति चैत्यवासियो के द्वारा प्रचलित हुई थी। परन्तु इसकी उत्पत्ति का पूरा ज्ञान न होने के कारण इस प्रकार की पूजा कोई कोई सुविहित साधुओ के लिए भी विहित मानते हैं, यह बात योग्य नही कही जा सकती। क्योकि आगमो की पचागी मे इसका कोई विधान नही मिलता।

"विजयदेव माहात्म्य" के अन्तिम उन्नीसवें सर्ग मे उपाध्याय श्रीवल्लभ कवि ने तपागच्छ की तत्कालीन कुछ शाखाओ का उल्लेख किया है, जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं—

'वासकुमार' की दीक्षा के साथ भगवान् महावीर के इस विहार का क्या सम्बन्ध और साम्य, यह बात पाठक श्रीवल्लभ ही समझ सकते हैं।

श्रीवल्लभ पाठक ने 'विजयदेव-माहात्म्य" मे कोई दस-बारह स्थान पर वर्ष सूचक शब्द प्रयोग किए हैं। वे सब के सब भ्रान्तिकारक हैं। वे प्रत्येक सवत्सर निवेदन के अवसर पर 'सोलहवे शतक के अमुक वर्ष मे' इस प्रकार का शब्द प्रयोग किया है, जो ठीक नही। आचार्य श्री विजयदेव सूरि सोलहवे शतक के व्यक्ति नही किन्तु सत्रहवी सदी के थे। अतः सोलहवें के स्थान पर सर्वत्र सत्रहवे ऐसा शब्द प्रयोग करना चाहिए था। आपके काल-सूचक शब्द प्रयोगो के एक दो उदाहरण नीचे देकर इस विषय को स्पष्ट करेंगे—

"चतुस्त्रिशत्तमे वर्षे, षोडशस्य शतस्य हि।
पौषे मासे सिते पक्षे, त्रयोदश्या दिने रवौ ॥१८॥

नक्षत्रे रोहिणी नाम्नि, सम्यग्योगसमन्विते।
सर्वास्वाशासु सौम्यासु, निष्पन्नान्नावनीषु च ॥॥१९॥

स्थिरे वरे वृषे लग्ने, शोभमाने शुभैर्ग्रहैः।
उच्च-स्थानस्थितै सर्वै, स्व-स्वस्वामिभिरीक्षितै ॥२०॥

परिपूर्णे तथा सार्धं, नवमासावधौ शुभे।
पुत्रं प्रासूत सा पूत-जाग्रज्ज्योतिस्तनूदयम् ॥२१॥" (प्रथम सर्ग)

ऊपर के चार श्लोको में स्थिरा सेठ के पुत्र 'वासकुमार' के जन्म के लग्न और लग्न स्थित ग्रहो की स्थिति का वर्णन करने के साथ जन्म का निरूपण किया है। इसमे "षौडशस्य शतस्य चतुस्त्रिशत्तमे वर्षे" यह कथन भ्रान्तिकारक है, क्योकि षष्ठयन्त षोडश शत के साथ चतुस्त्रिशत्तमे वर्षे का सम्बन्ध जोड़ने से इसका सीधा अर्थ "पन्द्रह सौ चौत्रीस" होगा

वर्धमानजिन पूर्वं; विजहारतरां निशि ।
प्रागदीक्षितसच्छिष्यः, शिष्यसन्ततिहेतवे ॥३१॥" (द्वितीय सर्ग)

अर्थात्—

तेईस जिन उत्तम स्त्रियो का पाणिग्रहण कर अनेक पुत्रों के पिता वनकर अन्त मे मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त हुए । पूर्वकाल मे वर्धमान जिन ने सत् शिष्य नही किये थे, इसलिये शिष्य-सन्तति के लिए रात्रि में विहार किया । ३०–३१ ।

पाठक श्रीवल्लभजी को जैन शास्त्रानुसार यह लिखना चाहिए था कि वर्तमान चौवीसी के २२ तीर्थङ्करो ने गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के उपरान्त दीक्षा ग्रहण की थी । क्योकि जैन शास्त्र के इस विषय के दो मतो मे से एक भी मत श्रीवल्लभ के उक्त मत का समर्थन नही करता । "समवायांग-सूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति" के कथनानुसार १९ तीर्थङ्कर गृहस्थाश्रम से प्रव्रजित हुए थे और वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान ये पाच तीर्थङ्कर कुवारे ही दीक्षित हुए थे । तव "दशाश्रुत-स्कन्ध" के कल्पाध्ययन के अनुसार २२ तीर्थङ्कर गृहस्थाश्रम से प्रव्रजित हुए थे और मल्लिनाथ तथा नेमिनाथ ये दो जिन ब्रह्मचारी अवस्था से ही दीक्षित हुए थे, परन्तु श्रीवल्लभ पाठक के कथनानुसार तेईस तीर्थङ्करो ने गृहस्थाश्रम से दीक्षित होने का कोई शास्त्रीय प्रमाण नही मिलता । मालूम होता है, श्री पाठकजी की यह अनाभोगजनित स्खलना मात्र है ।

तीर्थङ्कर वर्धमान के पहले शिष्य न करने और वाद मे शिष्य-सन्तति के लिए रात्रि मे विहार करने का कथन 'वासकुमार' के प्रसंग के साथ किसी प्रकार की सगति नही रखता । 'वासकुमार' दीक्षा ग्रहणार्थ परिणयन का निषेध करते हैं, तव तीर्थङ्कर वर्धमान ज्ञान-प्राप्ति के वाद रात्रि के समय चलकर मध्यमा नगरी के महासेन वन पहुंचते हैं । इसका कारण शिष्य-सन्तति का लोभ नही, किन्तु उपकार का सम्भव जानकर तीर्थङ्कर नाम कर्म खपाने की भावना से विहार कर वहाँ पहुचते है ।

वताया है। इस सम्वन्ध में जीत-कल्प तथा व्यवहार-सूत्र के आधार से दो तीन यंन्त्रक भी दे दिये है। छेद सूत्र पढने के पहले यह उल्लास पढ़ा जाय तो छेद सूत्रो की दुर्गमता कुछ सुगम हो सकती है। इस उल्लास मे आपने ३४३ गाथाओ मे प्रायश्चितो का निरूपण किया है।

३. "गुरुतत्व विनिश्चय" के तृतीय उल्लास मे आपने सुविहित साधुओ की पहिचान कराने के साथ पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, ससक्त और यथाच्छन्द नामो से शास्त्र मे प्रसिद्ध पाच्र प्रकार के कुगुरुओ का निरूपण करके उनसे दूर रहने की सलाह दी है। इस उल्लास मे आपने १८८ गाथाएँ रोकी है।

४. "गुरुतत्व विनिश्चय" का चतुर्थ उल्लास जैन सिद्धान्तोक्त पांच प्रकार के निर्गन्थो के वर्णन मे रोका है। पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक नामक पांच निर्ग्रन्थो के निरूपण के साथ इनके साथ सम्वन्ध धराने वाली वहुत सी वातो का स्पष्टीकरण किया है। इस उल्लास मे १६६ गाथाएँ वनाकर आपने इस ग्रन्थ की समाप्ति की है।

उपाध्यायजी ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक उल्लास के अन्त मे अपने प्रगुरू, गुरु, गुरूभाई आदि का स्मरण किया है, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इतने वड़े ग्रन्थ के अन्त मे कोई प्रशस्ति नही दी और न अपने गच्छ के आचार्य का नामोल्लेख ही किया है। मालूम होता है कि विजयसेन सूरिजी के पट्ट पर विजयदेव सूरिजी के विरोध मे नया आचार्य स्थापित करने से तपागच्छ की परम्परा मे जो गच्छभेद हुआ था उस समय की यह कृति है। उस समय तपागच्छ के अधिकाश गीतार्थ श्रमण वर्ग नये आचार्य के पक्ष मे उतर गया था, परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी तथा इनके गुरु आदि अन्त तक आचार्य विजयदेव सूरिजी के ही अनुयायी रहे। सम्भव है ऐसे मतभेद के समय में अपनी कृति मे किसी आचार्य का उल्लेख कर खुल्ला न पड़ने की भावना से आपने ग्रन्थ के अन्त मे प्रशस्ति भी नही लिखी।

卐 卐

जो आपत्तिजनक है। पाठकजी को यहाँ "पोडशस्य शतस्य" के स्थान "सप्तदश शतस्य" ऐसा लिखना चाहिए था, जिससे यथार्थ अर्थ उपस्थित हो जाता। "षोडश" यह शब्द पूर्ण प्रत्यान्त है, इसलिए इसके साथ "चतुर्स्त्रिश" शब्द जोडने से सोलह सौ चौत्रीस के स्थान पन्द्रह सौ चौत्रीस ऐसा अर्थ होगा, १६३४ नही। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ सवत्सर दिखाने का प्रसंग आया, वहाँ सभी जगह "षोडशस्य शतस्य" यही शब्द प्रयोग किया है, जो पाठकजी के अनाभोग का परिणाम ही कहा जा सकता है।

पाठक श्रीवल्लभ कवि ने अपनी इस कृति का निर्माण समय नही दिया। इससे निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि "विजयदेव-माहात्म्य" निर्माण का समय क्या है, परन्तु कवि के अन्तिम सर्ग के कई श्लोको से यह ध्वनित अवश्य होता है, कि पाठकजी ने इस ग्रन्थ का निर्माण श्री विजयदेव सूरिजी की विद्यमान अवस्था मे ही नही, किन्तु इनकी जीवनी के पूर्व-भाग मे ही इस ग्रन्थ का निर्माण हो चुका होगा। विजयदेव सूरिजी अठारहवी सदी के प्रथम चरण तक विद्यमान थे। तव श्रीवल्लभ ने अपने इस ग्रन्थ मे अठारहवी सदी का एक भी प्रसग नही लिखा। इससे निश्चित है कि सत्रहवी सदी के चतुर्थ चरण मे ही इस ग्रन्थ की समाप्ति हो चुकी थी। मुद्रित "विजयदेव-माहात्म्य' की आधार भूत प्रति के अन्त मे लेखक की पुष्पिका निम्न प्रकार की मिलती है—

"लिखितोऽय ग्रन्थः श्री ५ श्रीरगसोमगणि-शिष्य-मुनिसोमगणिना। स० १७०९ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी तिथौ बुधौ (धे) लिखित। श्री राजनगरे तपागच्छाधिराज भ० श्री विजयदेवसूरीश्वरविजयराज्ये।"

ऊपर की पुष्पिका से इतना निश्चित हो जाता है कि स० १७०९ के वर्ष तक विजयदेव सूरि तपागच्छ के गच्छपति के रूप में विद्यमान थे। तव 'विजयदेव-माहात्म्य" इसके पूर्व लगभग वीस से पच्चीस वर्ष पहले वन चुका था और इससे यह भी जान लेना चाहिए, कि "विजयदेव-माहात्म्य" मे आचार्य श्री विजयदेव सूरि का पूरा जीवन चरित्र नही है।

"विजयदेव-माहात्म्य" में जिस प्रकार ग्रन्थ-कर्ता की अनेक स्खलनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, इससे भी अधिक भूले इसके सम्पादक मुनि जिनविजयजी के अनाभोग अथवा अज्ञान की इसमे दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थ के सम्पादन मे सम्पादकीय भूलों का रहना बहुत ही अखरता है। यदि इस ग्रन्थ का शुद्धि-पत्रक बनाया जाय तो लगभग एक फॉर्म का मेटर बन सकता है, परन्तु ऐसा करने का यह योग्य स्थल नही है।

卐 卐

: १२ :

गुरुतत्त्व-विनिश्चय

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी विरचित

❖

उपाध्याय श्री यशोविजयजी विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के प्रखर विद्वान् थे। आपने छोटे वडे १०८ न्याय के ग्रन्थ बनाये, तब काशी के विद्वानो ने आपको "न्यायाचार्य" का पद दिया था। आप नैयायिक होने के अतिरिक्त कवि और जैन सिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता भी थे। "वैराग्य कल्पलता" जो "सिद्धर्षि" की "उपमित भव प्रपचा" कथा का पद्य रूप है, आपके प्रौढ कवित्व का प्रमाण देती है। "यतिलक्षण-समुच्चय" आदि आपके अनेक ग्रन्थ आपको जैन-सिद्धान्तज्ञ के रूप में प्रमाणित करते है। इस प्रकार के सैद्धान्तिक ग्रन्थो मे आपकी "गुरुत्व-विनिश्चय" नामक कृति सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है।

"गुरुतत्व विनिश्चय" ग्रन्थ की रचना प्राकृत गाथाओ मे की गई है, जिनकी गाथा संख्या ९०५ है। इस बृहद् ग्रन्थ पर आपने एक टीका भी बनाई है, जिसका श्लोक प्रमाण ८००० के लगभग होगा। इस ग्रन्थ को आपने चार 'उल्लासो' मे विभक्त किया है। प्रत्येक उल्लास मे क्या-क्या विषय है, जिसका आभास नीचे की पंक्तियो से हो सकेगा—

१. प्रथम उल्लास मे निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से गुरुत्तत्व का निरूपण २०८ गाथाओ मे किया है।

२. द्वितीय उल्लास मे उपाध्यायजी ने "व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ, महानिशीथ, जीतकल्प" आदि छेद सूत्रों के आधार से श्रमण-श्रमणियो को दिये जाने वाले प्रायश्चितों का संग्रह और उनके देने का व्यवहार भी

की मण्डली से सतर्क रहने की प्रेरणा करने लगे। दिगम्बर सम्प्रदाय में आज जो तेरह पन्थी कहलाते है उन्हे इन्हो आध्यात्मियों के अवशेष समझने चाहिए।

इन आध्यात्मियो का मुख्य सिद्धान्त साधु को जरूरी वस्त्र पात्र रखना, केवली का कवलाहार करना और स्त्री का उसी भव मे मोक्ष जाना, इन तीन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से विरोध करना था। उपाध्यायजी ने इन तीनो बातों का समर्थन किया है। प्रारम्भ में आध्यात्म की व्याख्या करके उक्त बनारसीदास को नाम अध्यात्मी माना है और अनेक तार्किक युक्तियों से जैन श्रमणों को आवश्यक सयम के उपकरण रखने पर भी मोक्ष प्राप्ति होना बताया है। केवली का परमौदारिक शरीर मानने पर भी कवल आहार के बिना वह शरीर टिक नही सकता यह बात प्रमाणित की है। ग्रन्थ के अन्त भाग में श्वेताम्बरो की मान्यतानुसार स्त्री को चारित्र पालने से उसी भव मे मुक्ति प्राप्त हो सकती हैं इसमे कोई बाधक नही है।

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तो का सविस्तार प्रतिपादन करके उपाध्यायजी ने अपने ग्रन्थ को समाप्त किया है।

卐 卐

: १३ :

अध्यात्म-मत-परीक्षा

उपाध्याय श्री यशोविजयजी कृत
स्वोपज्ञ टीका सहित

"अध्यात्म-मत-परीक्षा" उपाध्याय यशोविजयजी की एक प्रौढ कृति है। ग्रन्थ की मूल गाथाएँ एक सौ चौरासी हैं और इन पर उपाध्यायजी की स्वोपज्ञ विस्तृत टीका है, जो लगभग चार हजार से अधिक श्लोको के परिमाण की होगी।

ग्रन्थ का नाम "अध्यात्म-मत-परीक्षा" रखने का खास कारण यह है कि उपाध्यायजी के समय मे (विक्रम की १७वी सदी मे) दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार आदि ग्रन्थो के पढ़ने से अध्यात्म मार्ग की तरफ झुक कर कुछ श्वेताम्वर और कुछ दिगम्वर श्रावको ने एक मण्डल कायम किया था, जो "आध्यात्मिक-मण्डल" के नाम से प्रसिद्ध हुआ था और इस मण्डल के प्रमुख "श्री वनारसीदासजी" एवं "कुमारपाल" आदि श्वेताम्वर सम्प्रदाय के श्रावक थे। इस मण्डल मे अन्य भी श्वेताम्वर श्रावक मिले थे, इसलिये उपाध्याय यशोविजयजी, उपाध्याय मेघविजयजी आदि तत्कालीन श्वेताम्वर विद्वानो ने इस मत के खण्डन मे प्रवृत्ति की थी। उपाध्यायजी की "अध्यात्म-मत-परीक्षा" और उपाध्याय मेघविजयजी का "युक्ति प्रवोघ" इसी मत के खण्डन मे लिखे गए है। दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वानो की तरफ से इस विषय का कोई ऊहापोह हुआ हो, ऐसा ज्ञात नही होता। इसका कारण यही है कि इस मण्डल ने जो कुछ प्रचार किया, उसका मूलाधार दिगम्वर ग्रन्थ थे। अत. दिगम्बरो को आपत्ति उठाने का कोई कारण नही था। जब इस मण्डल की प्रवृत्तियो से तत्कालीन दिगम्वर भट्टारको की टीका-टिप्पणियाँ होना शुरू हुआ तो दिगम्बर भट्टारक चौकन्ने हो गये। अपने भक्तो को इन आध्यात्मियों

के अनुयायी श्वेताम्बर सम्प्रदाय-प्रसिद्ध चौरासी बातो का खण्डन करते थे, उनमें से कुछ तो उनके अज्ञान से उत्पन्न हुई बाते थी, जैसे-"मुनिसुव्रत भगवान् के घोडा गणधर होने की, बाहुबलीजी के मुसलमान होने की बात" इत्यादि कई बाते श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे प्रचलित नही हैं. उन्हे होना बताकर लोगों को बहकाते थे, जिनका उपाध्यायजी ने सप्रमाण खण्डन करके वनारसी के अनुयायियो को निरुत्तर किया है।

टीका की समाप्ति मे आपने एक प्रशस्ति दी है, जिसमे आचार्य विजय-हीरसूरिजी, विजयसेनसूरिजी, विजयदेवसूरिजी और विजयसिंहसूरिजी का गुणगान किया है। इससे इतना ज्ञात होता है कि उपाध्यायजी की यह कृति विक्रम स० १६८८ के पहले की है, क्योकि आचार्य श्री विजयसिंहसूरिजी को गच्छानुज्ञा १६८४ मे हुई थी और उसके बाद आप ४ वर्ष मे ही स्वर्गवासी हो चुके थे, इससे निश्चित होता है कि यह ग्रन्थ विजयसिंहसूरिजी के जीवन-काल मे ही बना था।

उपाध्याय यशोविजयजी की "आध्यात्म-मत-परीक्षा" मे वनारसीदास-जी और उनके अनुयायी "कुमारपाल" का नाम निर्देश किया गया है, तब उपाध्याय मेघविजयजी ने इस विषय मे विशेष प्रकाश डाला है। आपने वनारसीदास के मत की उत्पत्ति का स्थान, उनका समय और उनके अनुया-यियो के नाम लिखकर इन नवीन सम्प्रदाय वालो का विशेष परिचय कराया है। इनके कथनानुसार वनारसीदास "आगरा" के रहने वाले थे, ये जातिके दशा श्रीमाली थे, और सम्प्रदाय की दृष्टि से प्रतिक्रमण, पौषधादि धार्मिक क्रिया करने वाले खरतरगच्छ से श्रावक थे। एक बार चऊविहार उपवास के साथ पौषध लिये धर्मशाला मे रहे हुए थे, रात्रि के समय उनके मन मे खाने-पीने की इच्छा के सताने के कारण मानसिक कल्पना उत्पन्न हुई कि तपस्या वगैरह धार्मिक विधान करते हुए श्रावक के मन मे खाने-पीने की इच्छा हो जाय तो उसको तपोनुष्ठान का फल मिल सकता है या नही। इस मानसिक शका को वनारसीदासजी ने दूसरे दिन अपने गुरुजी से पूछा, तो भविष्य वश गुरु के मुख से निकला कि मन के परिणाम वदलने से अनुष्ठान का फल नही मिलता। मानसिक भावनाए तो हर हालत मे शुद्ध रहनी चाहिए, वस

: १४ :

युक्ति-प्रबोध

(वाणारसीय-दिगम्बर मत खण्डन)

❖

महामहोपाध्याय मेघविजयजी कृत स्वोपज्ञवृत्तियुत ।

उपाध्याय यशोविजयजी के "अध्यात्म-मत-परीक्षा खण्डन" ग्रन्थ के बाद बनारसीय मत खण्डन मे लिखा हुआ उपाध्याय मेघविजयजी का यह "युक्ति-प्रबोध" ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ के लेखक ने अपनी इस कृति को नाटक का नाम दिया है, परन्तु ग्रन्थ मे नाटक का कोई भी लक्षण नही है । मालूम होता है, उपाध्यायजी ने दिगम्बराचार्य अमृतचन्द्र ने जिस प्रकार अपनी टीका मे "कुन्दकुन्द के प्राभृतो" को नाटकीय रूप देकर सटीक ग्रन्थ का नाम नाटक दिया है, उसी प्रकार बनारसीदासजी ने अपनी हिन्दी कृति "समयसार" का नाटक नाम रखा है, उसी प्रकार उनकी देखादेखी उपा० मेघविजयजी ने भी अपने "युक्ति-प्रबोध" को नाटक के नाम से प्रसिद्ध किया है, परन्तु उक्त सभी ग्रन्थो के नामो के साथ "नाटक" शब्द देखकर किसी को भ्रम मे नही पडना चाहिये, वास्तव मे ये सभी ग्रन्थ खण्डन-मण्डन के हैं, थियेटर मे खेलने के नाटक नही ।

उपाध्याय मेघविजयजी ने तीन विषयो पर मुख्य चर्चा की है, (१) स्त्रीनिर्वाण की, (२) केवली कवलाहार की और (३) वस्त्रधारी श्रमण के मोक्ष की । आपने युक्तियो और शास्त्र प्रमाणों मे विषय का निरूपण किया है और आप इसमे सफल भी हुए है । कुन्दकुन्द के "प्राभृत" नेमिचन्द्र के "गोम्मटसार" तथा अन्यान्य दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों का प्रमाण देकर विषयो का सफलता पूर्वक प्रतिपादन किया है । इसके अतिरिक्त जिन-जिन श्वेताम्बर मान्य बातो का बनारसीदास के अनुयायी विरोध करते थे उन सभी बातो का उपाध्यायजी ने सप्रमाण उत्तर दिया है, बनारसीदास

विजयरत्नसूरिजी का आचार्य पद विक्रम स० १७३२ मे होने के बाद की है, एक स्थान पर ग्रन्थकार लिखते हैं—"यह ग्रन्थ साधु कल्याणविजय के बोधार्थ बनाया," यह कल्याणविजय इनकी शिष्यपरम्परा में नही थे, किन्ही दूसरे के शिष्य होगे और उनकी श्रद्धा स्थिर करने के लिए उपा० मेघविजयजी ने इस ग्रन्थ को बनाया होगा ।

卐 卐

बनारसीदासजी को निश्चय मार्ग पकड़ने का सहारा मिल गया-"उन्होने निश्चय किया कि आत्मिक भावनाओ की शुद्धि से ही आत्मा शुद्ध होता है, बाह्य क्रिया-अनुष्ठानों से नही" आपने इस निर्णय को अपने धर्म-मित्रो के सामने प्रकट किया, परिणाम स्वरूप बनारसीदासजी का साथ देने वाले कुछ गृहस्थ मिल गए, जिनके नाम-रूपचन्द्र पण्डित, चतुर्भुज, भगवतीदास, कुमारपाल और धर्मदास। इन पाचो ने बाह्यक्रिया-वगैरह का त्याग कर धार्मिक ग्रन्थो का पठन-पाठन करने और उनमे से जो बात अपने दिल मे न जँचे उनका खण्डन करने का काम प्रारम्भ किया। परिणाम स्वरूप दिगम्बर भट्टारको के पास रहने वाले धार्मिक उपकरण मोरपिच्छी, कमण्डलु, पुस्तक रखने का भी विरोध किया और श्वेताम्बर सम्प्रदाय की हजारो बातो में से चौरासी बाते ऐसी निकली जिसका वे खण्डन किया करते थे।

बनारसीदास का प्रस्तुत अध्यात्म-मत विक्रम स० १६८० मे चला। इसके प्रचार के लिए बनारसीदास ने हिन्दी कवित्त मे अमृतचन्द्राचार्य कृत "समयसार" की टीका के आधार पर "समयसार" नाटक की रचना की, जो विक्रम स० १६९३ मे समाप्त हुई थी।

बनारसीदासजी स्वयं निस्सतान थे, अत. उनकी मृत्यु के बाद उनके मत की वागडोर कुमारपाल ने ग्रहण की और इस मत के अनुयायियो को अपने मत मे स्थिर रखने के लिए इस मत का प्रचार करता रहा।

उपाध्याय श्री मेघविजयजी

उपाध्याय मेघविजयजी पूर्वावस्था मे लुकागच्छ के आचार्य श्री मेघजी ऋषि के प्रशिष्य थे। आपकी दीक्षा आचार्य श्री विजयसेनसूरिजी के हाथ से विक्रम सं० १६५९ मे हुई थी, आपके गुरु का नाम श्री कृपाविजयजी था, आप अच्छे विद्वान और ग्रन्थकार थे, आपने इस युक्ति-प्रबोध का निर्माण-समय नही बताया, परन्तु प्रशस्ति मे आपने लिखा है—यह "युक्तिप्रबोध" की रचना आचार्य श्री विजयप्रभसूरि और उनके पट्टधर आचार्य श्री विजय-रत्नसूरि के शासनकाल में हुई। इससे ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ

सूत्रों, श्रमण प्रतिक्रमण सूत्रो को सस्कृत व्याख्या के साथ "धर्मसंग्रह" के अन्तर्गत किया है, जिस की कोई आवश्यकता नही थी, आपने इन सब सूत्रो को ग्रन्थ के अन्तर्गत ही नही किया किन्तु इन पर अवचूरि तक लिख डाली है। ग्रन्थ का कलेवर बढने का यह भी एक कारण है।

"धर्मसंग्रह" मे कुल चार अधिकार हैं—(१) सामान्य गृहि-धर्म (२) विशेष गृहिधर्म (३) सापेक्ष यतिधर्म (४) निरपेक्ष यतिधर्म। "धर्मसंग्रह" के इन चार अधिकारो मे से अन्तिम अधिकार केवल १३ पेजो में पूरा हुआ है, यह अधिकार यदि तीसरे अधिकार के अन्तर्गत कर दिया जाता तो विशेप उचित होता।

उपाध्यायजी ने विस्तार का लोभ न कर विषयो का निरूपण करते समय ग्रन्थ को सुगम बनाने का ध्यान रखा होता तो पढने वालो के लिए विशेष उपयोगी होता, आज इसका एक भी अन्तर्गत विषय ऐसा नही है जो इसके पढने वालो को इस ग्रन्थ के आधार से समझकर उसे क्रियान्वित कर सके, उदाहरण स्वरूप "संस्तारक पौरुषो" को ही लीजिये। इनके समय मे सथाग पौरुषी का क्या स्वरूप था, इसको कोई जानना चाहे तो जान नही सकता। इसी प्रकार अधिकाश बाते विस्तार के आटोप के अंधकार मे आवृत हो गई हैं, जो सामान्य पढने वाला चिन्तित सफल कार्य मे प्रवृत्त नही हो सकता।

ग्रन्थ मे उपाध्याय श्री यशोविजयजी के परिष्कार कही-कही दिये गए हैं। इन परिष्कारो की इसके अन्तर्गत करने की आवश्यकता थी ऐसा कोई कारण प्रतीत नही होता, क्योकि ऐसा एक भी परिष्कार हमारे दृष्टिगोचर नही हुआ कि जिसके न देने पर ग्रन्थ का वह स्थल अशुद्ध अथवा तो अस्पष्ट रहता, न्यायाचार्यजी के सशोधन के उपरान्त भी ग्रन्थ के कोई-कोई शब्द जो खास परिभाषिक हैं उनका अर्थ यथार्थ नही हुआ, यह दु.ख का विषय है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने मैत्र्यादि चार भावनाओ का जो अपने परिष्कार मे अर्थ किया है, वह हमारी राय मे वास्तविक नही है, क्योकि मैत्र्यादि भावना-चतुष्टय मूल मे जैनो के घर की चीजे नही हैं, किन्तु ये चारो भावनाएँ परिव्राजको और बौद्धो के घर की थाती है, आचार्य श्री

: १५ :

श्री-धर्म-संग्रह

❖

उपाध्याय मानविजयजी कृत स्वोपज्ञ टीका, उ० यशोविजयजी कृत संस्कृत-टिप्पणी युक्त।

"धर्मसग्रह" एक सग्रह-ग्रन्थ है, इसमे अनेक ग्रन्थो के आधार से गृहस्थधर्म और साधुधर्म का निरूपण किया है। ग्रन्थकार ने प्रारम्भ से ही ग्रन्थ को एक सग्रह का रूप देकर इसकी रचना की है। परिणाम यह हुआ कि सग्रह का जितना कलेवर बढा है, उतना विपय का स्पष्टीकरण नही हुआ। उपाध्यायजी ने अपनी शैली ही ऐसी रखी है कि विषय का सरल निरूपण करने के स्थान पर अपना स्वतन्त्र निरूपण न करके आधार भूत ग्रन्थो के आधारो का सस्कृत मे अक्षरानुवाद किया है और बाद मे जिनके आधार से आपने सस्कृत मे विषय का निरूपण किया है, उन्ही आधार प्रमाणो के, चाहे वे पद्य हो, गद्य हो सस्कृत हो या प्राकृत, ज्यो के त्यो उद्धरण दे दिये हैं, इससे ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ गया है। ग्रन्थकार स्वयं ग्रन्थ के अन्त मे कहते हैं—"धर्मसग्रह" अनुष्टुप श्लोको के परिमाण से चौदह हजार छः सौ दो (१४६०२) सख्यात्मक हो गया है। उपाध्यायजो की शैली और इच्छा ग्रन्थ का शरीर बढाने की थी, अन्यथा "धर्मसग्रह" मे जितने विपयो का स्वरूप निरूपण किया है वह इससे आधे मेटर मे भी प्रतिपादित हो सकता था। प्रसिद्ध सर्वमान्य बातो के वर्णन मे प्रमाण देना आवश्यक नही होता, जो विषय विवादास्पद होता है उसी के लिए शास्त्रीय प्रमाणो के उद्धरण जरूरी होते हैं, परन्तु "धर्मसग्रह" के कर्त्ता ने इस बात पर तनिक भी विचार नही किया। यही कारण है कि आपका ग्रन्थ जितना बढ़ा है, उतना विषय नही बढ़ा। इसके अतिरिक्त चैत्यवन्दन सूत्रो, श्राद्धप्रतिक्रमण

घोष" में "पइट्ठा" अगर "पतिट्ठा" शब्द ही आते है, "पसिद्धा" नही, उपाध्यायजी महाराज के दिमाग मे कुछ ऐसी वाते जच गई है कि सिद्ध आदि की प्रतिष्ठा शाश्वत है, जिसकी उपमा अशाश्वत प्रतिष्ठा को नही दी जा सकती, परन्तु उपाध्यायजी का उक्त संशोधन वास्तव मे सशोधन नही वल्कि "शुद्ध को" "अशुद्ध करने वाला पाठ" है "पादलिप्त प्रतिष्ठापद्धति" "प्रतिष्ठापचाशक" जैसे प्राचीन प्रतिष्ठा-विधान ग्रन्थो मे भी सिद्ध, मेरु पर्वत, जम्बूद्वीप, लवण समुद्र आदि शाश्वत पदार्थों की स्थिति को भी प्रतिष्ठाही कहा है, यहां पर प्रतिष्ठा का अर्थ स्थापन करना नही पर "स्थिति" ऐसा मानना चाहिए। श्रीमान् उपाध्यायजी महाराज प्रतिष्ठा का परिचय जानते होते तो यह शुद्धि के नाम से अशुद्धि का प्रक्षेप नही करते।

उपाध्याय मानविजयजी ने "धर्मसग्रह" मे सैद्धान्तिक निरूपणो के साथ कई स्थानों पर तो अपने समय की अनेक वातो का वर्णन किया है, जिनकी सैद्धान्तिक वातों के साथ सङ्गति नही होती। आपके इस प्रकार के निरूपणो से "धर्मसग्रह" न सैद्धान्तिक ग्रन्थ कहा जा सकता है न सामाचारी और न औपदेशिक। आपने स्थान-स्थान पर भाष्यो, चूर्णियो और मूल सूत्रो के अवतरण देकर अपने ग्रन्थ को सैद्धान्तिक वनाने की चेष्टा की है, परन्तु आपकी उपदेशप्रियता के कारण ग्रन्थ कोरा सैद्धान्तिक न रहकर सिद्धान्त, उपदेश और सामाचारी की वातो का सग्रह वन गया है। कुछ भी हो परन्तु उपाध्याय मानविजयजी के इस ग्रन्थ निर्माण सम्वन्धी परिश्रम की प्रशसा किये विना नही रह सकते, यद्यपि कही-कही पारिभाषिक शब्दो का अर्थ करने मे आप सफल नही हुए, फिर भी कार्य की गुरुता देखते ऐसी वातो पर अधिक विचार करना आवश्यक नही है।

ग्रन्थकर्ता-उपाध्याय मानविजयजी

उपाध्याय मानविजयजी ने ग्रन्थ के अन्त मे एक वड़ी प्रशस्ति दी है, जिसमे अपनी-आचार्य परम्परा तथा गुरुपरम्परा का वर्णन किया है, आपकी आचार्यपरम्परा आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी से प्रथक् होती है, विजयसेन सूरिजी के पट्टपर विजयतिलकसूरि, तिलकसूरि के पट्टपर विजय आनन्दसूरि और आनन्द सूरि

हरिभद्रसूरिजी के समय मे इन भावनाओ की तरफ लोकमानस अधिक झुका था, इसलिए पूज्य हरिभद्रसूरिजी ने भी इन भावनाओं की व्यवस्था जैन सिद्धान्त के अनुरूप करके अपने ग्रन्थो मे स्थान दिया। आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि आदि पिछले लेखकों ने भी अपने ग्रन्थो मे इन भावनाओ की चर्चा की है, परन्तु श्री यशोविजयजी महाराज ने इन भावनाओ की व्याख्या की है, वह किसी ग्रन्थ से मेल नही खाती, उदाहरण स्वरूप आचार्य श्री हेमचन्द्र मैत्री-भवना की व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं:—

"मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दु.खित:।
मुच्यता जगदप्येषा, मति-र्मैत्री निगद्यते।"

अर्थात्—कोई भी पाप न करे, कोई भी दु खी न हो, सारा जगत कर्मों से मुक्त हो, इस प्रकार की बुद्धि को "मैत्री भावना" कहते हैं।

अब उपाध्यायजी की मैत्री भावना की भी व्याख्या पढिये.

"तत्र समस्तसत्वविषय. स्नेहपरिणामो मैत्री"

अर्थात्.—"उन भावनाओ मे मैत्री भावना का लक्षण-है तमाम प्राणीविषयक स्नेह-परिणाम।"

पाठक गण देखेगे कि श्री हेमचन्द्राचार्य कृत मैत्री की व्याख्या मे और उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराज कृत मैत्री की व्याख्या मे दिन रात जितना अन्तर है। उपाध्यायजी मैत्री भावना को "स्नेह" रूप बताते हैं, जो जैन सिद्धान्त मे मेल नही खाता, इसी प्रकार दूसरी भावनाओ के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिए।

विशेष गृही धर्माधिकार के अन्त मे ग्रन्थकार ने "जिन बिम्बप्रतिष्ठा का प्रकरण" दिया है, उसकी समाप्ति मे जो मगल गाथाएँ दी हैं वहा भी उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने "सिद्धाण पइट्ठा" इस पर अपना सशोधन कर "पइट्ठा" के स्थान पर "पसिद्धा" यह शब्द रखा है जो ठीक नही, प्रत्येक "प्रतिष्ठा-कल्प" में प्रतिष्ठा के अन्त मे किये जाने वाले "मगल

: १६ :

उपदेश-प्रासाद

❖

श्री लक्ष्मी-सूरि

उपदेशप्रासाद अपने नाम के अनुसार औपदेशिक ग्रन्थ है। इसके कर्ता आचार्य श्री विजयलक्ष्मी सूरिजी आनन्दसूरीय परम्परा के उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध के आचार्य हैं, इन्होने अपना यह ग्रन्थ वि० सं० १८४३ के कार्तिक शुक्ला पंचमी को खभात मे समाप्त किया है। कर्ता के कथनानुसार अपने शिष्य प्रेमविजयजी के लिए इसे रचा है। सचमुच यह ग्रन्थ लेखक के कथनानुसार सामान्य साधुओ के लिए ही उपयोगी हो सकता है। विद्वान् वाचको के लिए इसका विशेष उपयोग नही हो सकता, इसकी रचना भी शिथिल और व्याकरण के दोषो से रहित नही है। विषय के निरूपण मे भी अनेक पुनरुक्तिया हुई है। कर्त्ता ने ग्रन्थ का नाम "प्रासाद" और उसके अध्यायों का नाम "स्तम्भ" रखा है। प्रत्येक स्तम्भ के पन्द्रह पन्द्रह व्याख्यानो को स्तम्भ की "अस्रिया" होना लिखा है, इस कथन से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि ग्रन्थ कर्त्ता श्री विजयलक्ष्मी सूरि शिल्प-शास्त्र का एकड़ा तक नही जानते थे। अगर ऐसा न होता तो प्रत्येक स्तम्भ की पंचदश अस्रिया नही बताते, क्योकि प्रासाद के स्तम्भ चतुरस्र, अष्टास्र, षोडशास्र और वृत्त होते है, विषम अस्रिवाला कोई स्तम्भ नही होता।

उपदेशप्रासाद ग्रन्थ का आधार जैन शास्त्र मे प्रचलित कथाएँ है। पूर्वार्ध मे विशेषत. गृहस्थोपयोगी बातें हैं—जैसे कि सम्यक्त्व, द्वादश व्रत, उन प्रत्येक के साथ दृष्टान्त हैं। उत्तरार्ध मे कुछ साधु-धर्म की भी चर्चा की है। गृहस्थो के योग्य प्रायश्चित्तादि बातें दी हैं। अन्त मे ग्रन्थकार ने ही "हीर सौभाग्य" के अन्त की गुर्वावली और दूसरी गुर्वावलियो के

पट्टपर विजयराजसूरि विद्यमान थे, तब विक्रम स० १७३१ की साल में "धर्मसग्रह" को समाप्त किया था। आपने अपनी गुरुपरम्परा निम्न प्रकार की बताई है—श्री विजयानन्दसूरि के विद्वान शिष्य शान्तिविजयजी हुए, जो बडे विद्वान् विनीत और अपने गच्छ की व्यवस्था करने वाले थे, उन शान्तिविजयजी के शिष्य उपाध्याय मानविजयजी ने "धर्मसग्रह" ग्रन्थ का निर्माण किया। इसमे जो कुछ भूल रही हो उसे सुधारने की ग्रन्थकार की विद्वानो को प्रार्थना है।

卐 卐

: १७ :

कृत्रिम कृतियाँ

यो तो सभी ग्रथ किसी न किसी द्वारा निर्मित होने से कृत्रिम ही होते है, परन्तु यहाँ कृत्रिम शब्द का अर्थ कुछ और है। कोई ग्रथ-सन्दर्भ वनाकर किसी प्रसिद्ध विद्वान् के नाम पर चढा देना अथवा अन्य की कृति को अपने नाम से प्रसिद्ध करना उसका नाम हमने "कृत्रिम कृति" रखा है। इसके अतिरिक्त जिस पर कर्ता का नाम नही और उसका विषय कल्पित है अथवा आपत्तिजनक है, वह भी हमारी राय मे "कृत्रिम कृति" ही है। इस प्रकार की "कृत्रिम-कृतियाँ" आज तक हमारी दृष्टि मे अनेक आई हैं, उनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) महानिशीथ :

कृत्रिम कृतियो मे विशेष ध्यान देने योग्य वर्तमान "महानिशीथ-सूत्र" है। यद्यपि "नन्दी-सूत्र" तथा "पाक्षिक-सूत्र" मे महानिशीथ का नामोल्लेख मिलता है, तथापि "नन्दी-सूत्र" के निर्माण काल मे मौलिक "महानिशीथ' विद्यमान होने का कोई प्रमाण नही मिलता। "नन्दि-सूत्र" मे अन्य भी अकेक सूत्रो, अध्ययनो के नाम लिखे गए है, जो "नन्दि-सूत्र" के रचना समय के पहले ही विच्छेद हो चुके थे। विद्यमान "महानिशीथ" विक्रम की नवम शताब्दी मे चैत्यवासियो द्वारा निर्मित नया सूत्र सन्दर्भ है। इमका विषय वहुधा जैन आगमो से विरुद्ध पड़ता है। हमने इसे तीन वार पढा है और दो वार इसका नोट भी लिया है। ज्यो ज्यो इसके विपय की विचारणा की गहराई मे उतरे त्यो त्यो इसकी कृत्रिमता हमारे

(३) श्री शत्रुञ्जय-माहात्म्य :

वर्तमान "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" के उपोद्‌घात मे राजगच्छ-विभूषण श्री धनेश्वर सूरि के मुख से कहलाया है कि "वल्लभी के राजा शिलादित्य के आग्रह से आचार्य धनेश्वर सूरि ने पूर्व ग्रन्थ के आधार से विक्रम सं० ४७७ मे इस सक्षिप्त "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" की रचना की।

"शत्रुञ्जय-माहात्म्य" के उपर्युक्त कथनो पर हमे कुछ विचार करना पड़ेगा। प्रथम तो विक्रम सवत् ४७७ मे राजगच्छ का अस्तित्व होने मे कोई प्रमाण नही है, दूसरा उस समय मे धनेश्वर सूरि नामक आचार्य हुए थे ऐसा किसी भी ग्रन्थान्तर से प्रमाणित नही होता। इस दशा मे "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" के उक्त कथनो पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है? इस बात का निर्णय पाठक स्वय करले, इसके अतिरिक्त उस समय मे शीलादित्य के जैन होने मे कोई प्रमाण नही मिलता। वल्लभी के उपलब्ध ताम्रपत्रो और शिलालेखो के पढ़ने से वल्लभी के शासक कुल तीन शीलादित्यो का पता चलता है, जो सभी जैनेतर धर्मों के अनुयायी थे। इस दशा मे शीलादित्य के अनुरोध से धनेश्वर सूरि द्वारा "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" की रचना होने की वात कहाँ तक ठीक हो सकती है, इस बात पर भी पाठक-गण विचार करेंगे तो असलियत समझ मे आजाएगी।

प्रस्तुत "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" मे इसके उद्धार करने वालो की नामावलि दी गई है, जिसमे अन्तिम नाम "समराशाह" का मिलता है। समराशाह का सत्ता समय विक्रम की १४वी शताब्दी है, तब विक्रम की पाँचवी शताब्दी के माने जाने वाले धनेश्वर सूरि की कृति "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" मे यह नाम आना इस ग्रन्थ की नवीनता प्रमाणित करता है या नही, इस वात पर भी विचारक सोचेंगे तो समस्या पर अवश्य प्रकाश पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसमे अनेक आन्तर प्रमाण ऐसे मिलते है, जिनसे पर्याप्त रूप मे यह वात सिद्ध हो जाती है कि प्रस्तुत "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" किसी चैत्यवासी विद्वान् की कृति है, जो शिथिलाचारी श्रमणों की तरफदारी करके उनके पालन-पोषण का समर्थन करता है। यदि यह कृति किसी सुविहित आचार्य की होती तो इसमे लिंगावशेष यतियो का इतना पक्षपात नही किया जाता।

सामने मूर्तिमती हो गई। इसका विशेष विवरण प्रमाणो के साथ एक स्वतन्त्र लेख मे दिया है। पाठक "महानिशीथ की परीक्षा" प्रवन्ध पढे।

(२) संबोध-प्रकरण :

"सवोध-प्रकरण" एक सग्रह ग्रन्थ है। यह प्रकरण हरिभद्र सूरि कृत माना जाता है। इसका सम्पादन प्रकाशन करने वालो ने भी इसे हरिभद्र सूरि की कृति माना है, पर वास्तव मे यह वात नही है। "सवोध-प्रकरण" प्राचीन मध्यकालीन तथा अर्वाचीन अनेक ग्रन्थो की गाथाओ का एक "वृहत्सग्रह" है। सग्रहकार ने अनेक गाथाएँ तो दो दो वार लिखकर ग्रन्थ का कलेवर वढाया है। "धर्मरत्न, चैत्यवन्दन महाभाष्य" आदि मध्य-कालीन ग्रन्थों की गाथाओ की इसमे खासी भरमार है। अर्वाचीनत्व की दृष्टि से लुकामत की उत्पत्ति के वाद की अर्थात् विक्रम की सोलहवी शती तक की गाथाये इसमे उपलव्ध होती हैं। इन वातो के सोचने से इतना तो निश्चय हो जाता है कि इस कृति से श्री हरिभद्र सूरिजी का कोई सम्वन्ध नही है। यद्यपि इसके पिछले भाग में दिए गए एक दो छोटे प्रकरणों मे आचार्य हरिभद्र का सूचक "भवविरह" शव्द प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ये प्रकरण भी हारिभद्रीय होने मे शका है। क्योकि इन प्रकरणो का स्वतन्त्र अस्तित्त्व कही दृष्टिगोचर नही होता, तव इस सग्रह मे इनका होना कैसे संभवित हो सकता है? हरिभद्र सूरि ने अन्यत्र जो आलोचना विधान का निरूपण किया है, उससे उक्त प्रकरणो का मेल नही मिलता। अतः कहना चाहिए कि सग्राहक ने ही "भव विरह" शव्दो का प्रक्षेप करके सारे संग्रह-ग्रन्थ को "हारिभद्रीय" ठहराने की चेष्टा की है। अन्तिम पुष्पिका मे "याकिनी महत्तराशिष्या मनोहरीया के पठनार्थ इस ग्रन्थ को आचार्य हरिभद्र सूरि ने वनाया" यह पक्ति जो लिखी है, इससे भी यही प्रमाणित होता है कि "सवोध-प्रकरण" हरिभद्र सूरि की कृति नही है। हमारे अनुमान से यह कृत्रिम कृति किसी खरतर गच्छीय विद्वान् की हो तो आश्चर्य नही।

लिखी हुई वातो का सत्य से कोई सम्बन्ध नही है, केवल मूर्तिपूजा के विरोधियो को नीचा दिखाने की नियत से ही यह अध्ययन गढा गया है।

(६) आगम-अष्टोत्तरी :

यह एक सौ आठ सग्रहीत गाथाओ का सन्दर्भ है। सग्रहकार ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थो की गाथाओ द्वारा अपने मन्तव्य का समर्थन किया है और इसका कर्ता नवाग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरिजी को बताया है। वास्तव मे इस सग्रह के कर्ता कोई अज्ञात विद्वान् हैं। अपने मन्तव्य को प्रामाणिक ठहराने के लिए उसके साथ अन्य प्रामाणिक आचार्य का नाम जोड़ देना ठीक नही।

(७) प्रश्न-व्याकरण :

जैन-सम्प्रदायमान्य वर्तमान एकादशाग सूत्रो मे दशवा नम्बर "प्रश्न-व्याकरण" का है।

"प्रश्न-व्याकरण" मे "समवायाग सूत्र" के कथनानुसार अष्टोत्तर शत पृष्ट व्याकरण, अष्टोत्तर शत अपृष्ट व्याकरण और अष्टोत्तर शत पृष्टापृष्ट व्याकरण पूर्वकाल मे वर्णित थे। इसके अतिरिक्त दर्पण (अद्दाग) प्रश्न, अगुष्ठ प्रश्न, असि प्रश्न, मणि प्रश्न आदि अनेक प्रश्न विपयक ज्ञान और उनके अधिष्ठायक देवताओ का निरूपण था। उनके द्वारा त्रिकालवर्ती वातो का पता लगाया जाता था, परन्तु ये सब भूतकाल की वाते है। आज के "प्रश्न-व्याकरण" मे पाच आस्रवो और पाच सवरो का निरूपण है। इसकी भाषा भी परिमार्जित और काव्यशैली की है। इससे ज्ञात होता है कि "प्रश्न-व्याकरण" का यह परिवर्तन वहुत प्राचीन है। सम्भवत: यह परिवर्तन अन्तिम पुस्तकारूढ़ होने के पहले का है।"

प्राचीन चूर्णिकार इसके मूल विपय का निरूपण करने के वाद कहते हैं—

"प्रश्न-व्याकरण मे पहले इस प्रकार का विपय था, परन्तु काल तथा मनुष्य स्वभाव का विचार कर पूर्वाचार्यों ने उक्त विषय को हटाकर

(४) व्यवहार-चूलिका :

उक्त नाम की एक लघु कृत्रिम कृति भी हमारे समाज मे अस्तित्व धराती है। "उपदेश-प्रासाद" नामक अर्वाचीन ग्रन्थ के एक व्याख्यान मे यह चूलिका उपलब्ध होती है, जिसमे देवद्रव्यादि भोगने वालो की चर्चा है। दूसरी भी अनेक वर्तमान प्रवृत्तियो का इसमें उल्लेख मिलता है। मालूम होता है कि बारहवी शती मे प्रकट होने वाले नवीन गच्छो के प्रवर्तकों मे से किसी ने चूलिका का निर्माण करके चैत्यवासियो को नीचा दिखाने की चेष्टा की है।

(५) वंग-चूलिया :

हमारे शास्त्रभण्डारों मे "वंग-चूलिया" नामक एक अध्ययन उपलब्ध होता है। "वंग-चूलिया" की गणना सूत्रो मे की जाती है, परन्तु प्राचीन हस्तलिखित पोथियों मे "वग-चूलिया" दृष्टिगोचर नही होती। इतना ही नही किन्तु विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी तक की प्राचीन किसी भी ग्रन्थ-सूची में इसका नामोल्लेख तक नही मिलता। न १७वी शताब्दी तक के किसी ग्रन्थ प्रकरण मे इसके अस्तित्व का प्रमाण ही मिलता है।

"वंग-चूलिया" का दूसरा नाम "सुयहीलुप्पत्ति-अज्झयण" लिखा गया है। इसमे बाईस समुदाय के आदि पुरुषो की कल्पित उत्पत्ति का वर्णन चतुर्दश पूर्वधर यशोभद्र सूरि द्वारा भद्रबाहु के शिष्य अग्निदत्त के सामने कराया गया है। वास्तव मे "वंग-चूलिया" यह नाम ही कल्पित है। "नन्दी-सूत्र" मे दी गई आगमो की नामावली मे "अग-चूलिया, वग्ग-चूलिया, विवाह-चूलिया" इत्यादि अध्ययनो के नाम मिलते है, परन्तु "वग-चूलिया" अथवा "वक-चूलिका" यह नाम कही भी नही मिलता। मालूम होता है कि विक्रमीय सत्रहवी शती के अन्त मे लुकागच्छ के जिन बाईस साधुओ ने मुहपत्ति बाधी और मलीन वस्त्र धारण-द्वारा लुकागच्छ का पुनरुद्धार किया था, उन्ही क्रियोद्धारक बाईस पुरुषो को लक्ष्य में रखकर यह कल्पित अध्ययन किसी जैन विद्वान् द्वारा रचा गया है। इसमें

का उत्तर दिया। "विवाह-चूलिया" मे चैत्य मानने वाले तथा उपधानादि तपोविधान कराने वाले साधुओ का खण्डन किया है। "विवाह-चूलिया" हिन्दी भाषान्तर के साथ छपकर प्रकाशित हुए कोई पचास वर्ष हुए होंगे, फिर भी स्थानकवासी जैनो ने इसका सार्वत्रिक प्रचार नही किया, पर इनके घरो तथा पुस्तकालयो तक ही "विवाह-चूलिया" पहुंची है। यही कारण है कि हमारे सम्प्रदाय के विद्वानो तथा लेखको को उक्त चूलिका प्राप्त न हो सकी।

(१०) धर्म-परीक्षा :

"धर्म-परीक्षा" नामक दो ग्रन्थ हमने पढे हैं, जो पौराणिक बातो के खण्डन मे लिखे गए हैं। पहली "धर्म-परीक्षा" के लेखक है दिगम्बराचार्य "अमितगति" जो विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे। अब रही दूसरी "धर्मपरीक्षा", इसके कर्ता प्रसिद्ध उपाध्याय धर्मसागरजी के शिष्य श्री पद्मसागर गणी थे। श्री अमितगति की "धर्म-परीक्षा" का परिमाण १४०० श्लोक के आसपास है, तब पद्मसागरीय "धर्म-परीक्षा" का श्लोक परिमाण १२०० के आसपास है। दोनो ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे है। हमने दोनो "धर्म-परीक्षाएँ" पढी हैं और सावधानी से अन्वेषण करने पर मालूम हुआ है कि पद्मसागर गणी की "धर्म-परीक्षा" अमितगति आचार्य की "धर्म-परीक्षा" का ही सक्षिप्त रूप है। आदि अन्त के तथा ग्रन्थ भर मे से भिन्न-भिन्न श्लोको को निकाल कर गणीजी ने अमितगति आचार्य की कृति को ही अपने नाम पर चढा दिया है। इतना करने पर भी वे इस कृति का दिगम्बरीयत्व नही मिटा सके, यह आश्चर्य की बात है। पाँच पाण्डवो की द्विविध-गति, जिनदेव के निवृत्त अष्टादश दोषो मे "क्षुद् अभाव" रूप दोष आदि दिगम्बर सम्प्रदाय सम्मत अनेक बातें आज भी इस पद्मसागर की कृत्रिम कृति मे दृष्टिगोचर होती हैं।" इस प्रकार पद्मसागरजी ने "परस्य काव्यं स्वमिति ब्रुवाणो विज्ञायते ज्ञैरिह काव्यचौरः" इस साहित्यिक उक्ति के अनुसार साहित्यिक चौर्य का अपराध किया है, इसमे कोई शका नही।

उसके स्थान पर वर्तमान "आस्रवसवरात्मक" विषय को कायम करके दसवे अंग का अस्तित्व कायम रखा।"

सस्कृत-टीकाकार आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी भी उक्त बात का ही सकेत करते है। इससे इतना जाना जा सकता है कि "प्रश्नविद्यामय" प्रश्न-व्याकरण सूत्र नष्ट नही हुआ, किन्तु गीतार्थ आचार्यों ने इसका विषय बदल दिया है, जिससे कि भविष्य काल मे इससे कोई हानि न होने पावे।

(८) गच्छाचार-पइन्नय :

विक्रम की चौदहवी अथवा पन्द्रहवी शताब्दी मे किसी सुविहित आचार्य ने महानिशीथ, कल्प भाष्य, व्यवहार भाष्य आदि की गाथाओ का संग्रह करके "गच्छाचार पयन्ना" नामक पइन्नय का सर्जन किया है। इस पइन्नय का निर्माण उस समय के प्राचीन गच्छो मे चलते हुए शिथिलाचार और अनागमिकता का खण्डन करना है। इसमे सग्रहीत भाष्यो की गाथाओ के सम्बन्ध मे तो कुछ कहना नही है, परन्तु "महानिशीथ" से उद्धृत गाथाओ का अधिकाश वर्णन अतिरजित है। कई बाते तो आगमोत्तीर्ण भी दृष्टिगोचर होती हैं। यह सब होते हुए भी यह "पइन्नय" तत्कालीन साधुओ मे शैथिल्य किस हद तक पहुच गया था, इस बात को जानने के लिए एक उपयुक्त साधन है।

तपागच्छ के आचार्य श्री हेमविमल सूरिजी के शिष्य विजयविमल ने जो "वानर्षि" नाम से भी प्रसिद्ध थे, "गच्छाचार पयन्ना" पर एक साधारण टीका बनाई है, इससे भी ज्ञात होता है कि "गच्छाचार पइन्नय" विक्रम की १४वी १५वी शती के लगभग की कृति होनी चाहिए, पहले की नही।

(९) विवाह-चूलिया :

मूर्ति मानने वाले विद्वानो ने मूर्ति नही मानने वाले लुंकागच्छ के साधुओ के विरुद्ध "वग-चूलिया" अध्ययन की रचना की, तब किसी स्थानकवासी साधु ने "विवाह-चूलिया" का निर्माण कर "वंग-चूलिया"

पूजा के प्रसग पर लेखक ने जाई, जूही, चमेली, गुलाब आदि वर्तमान कालीन पुष्पो की एक बड़ी सी नामावलि लिख दी है। "प्रतिष्ठा विधि" के साथ "वार" शब्द का प्रयोग, पुष्पावलि में "गुलाब" आदि नामों का प्रयोग इत्यादि बहुत सी बातो को देखकर हमारे हृदय मे यही निर्णय हुआ, कि किसी साधारण पढे लिखे आदमी ने इन शब्दो का सन्दर्भ बना दिया है, जिसमे विद्वत्ता का तो अभाव है ही, साथ मे ऐतिहासिक ज्ञान का भी लेखक ने अपने ही शब्दो से अभाव सूचित कर दिया है। इस "पइन्नय" के सम्बन्ध मे हमारा निश्चित मत है कि किसी बीसवीं शती के व्यक्ति ने इस "पइन्नय" द्वारा मूर्ति-पूजा विरोधियो को मूर्ति-पूजा मनाने की चेष्टा की है, जो सफल नही हुई ।

(१३) वन्दन-प्रकीर्णक (वन्दरण-पइन्नय) :

"वन्दन पइन्नय" भी कतिपय प्राकृत गाथाओ का सन्दर्भ है। इसके लेखक ने इसको भद्रबाहु स्वामी की कृति बताया है, पर वास्तव मे "पूजा-पइन्नय" और "वन्दरण-पइन्नय" ये दोनो एक ही लेखक के सन्दर्भ है, ऐसा इनके निरूपरण से प्रतीत होता है। "देववन्दरण पइन्नय" मे लेखक ने देव वन्दन की विधि का निरूपरण किया है, इसमे से चतुर्थ स्तुति का प्रसग हटा दिया है। इससे ज्ञात होता है कि यह "पइन्नय" किसी "त्रिस्तुतिक" लेखक की कृति होना चाहिए।

"पइन्नय" की भाषा बिल्कुल लचर और खीचतान कर जोडे हुए पदो का भान कराती है। वास्तव मे यह "पयन्ना" तथा इसके पहले का "पूयापयन्ना" ये दोनो बीसवी शताब्दी की कृतिया है, जिन्हे प्राचीन ठहराने की गरज से श्रुतधर श्री भद्रबाहु स्वामो के नाम पर चढाकर लेखक ने उनका अपमान किया है।

(१४) जिनप्रतिमाधिकार २ :

"जिनप्रतिमाधिकार" नामक दो ग्रन्थ हमारे शास्त्रसग्रह मे सग्रहीत है। दोनो हस्तलिखित है। एक का पोथी न० ३१० हैं और दूसरे का

(११) प्रश्न-पद्धति :

"प्रश्न-पद्धति" नामक एक छोटा ग्रन्थ मुद्रित होकर कुछ वर्षों पहले प्रकाशित हुआ है। इसका कर्ता "हरिश्चन्द्र गणी" को टाइटल पेज पर बताया है। ग्रन्थ के भीतर लेखक अपने आपको "नवाङ्ग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरिजी का शिष्य बताता है।" "भगवती" आदि सूत्रों के नाम लेकर वह लिखता है—"मेरे गुरु भगवती सूत्र की टीका मे यह कहते हैं" एक जगह ही नही अनेक स्थानो पर इन्होने अपने को अभयदेव सूरि का शिष्य होने की सूचना की है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस पद्धति को पढने पर हमे निश्चय हुआ कि इस पद्धति का लेखक विक्रम की १५वीं शती से पहले का व्यक्ति नही है। अमुक व्यक्तियो के नामोल्लेख किये हैं। उनके नामो के साथ जो गोत्र लिखे हैं, वे १५वी सदी के पूर्व के नही हो सकते। लेखक किस गच्छ का है, यह निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। फिर भी भगवान् महावीर के गर्भापहार के सम्बन्ध मे अपना जो अभिप्राय व्यक्त किया है, उससे इतना निश्चित कहा जा सकता है कि "प्रश्नपद्धतिकार खरतरगच्छीय" नही था। "पद्धति' मे अनेक प्रश्नो के उत्तर "अनागमिक" होने से जाना जाता है कि लेखक योग्य विद्वान् नही था और न "प्रश्न-पद्धति" ही प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने वालो ने कोई उपयोगी कार्य नही किया है, ऐसी हमारी मान्यता है।

(१२) पूजा-प्रकीर्णक (पूजा पइन्नय) :

एक शहर के पुस्तक भण्डार मे रहा हुआ "पूया पइन्नय" नामक प्राकृत गाथाबद्ध प्रकरण हमने देखा। उसमे लिखा गया है कि सवत् १६२ के ज्येष्ठ शुक्ला ५ वार शुक्र को राजा चन्द्रगुप्त ने प्रतिष्ठा करवाई। इस जाली लेख से हमारा कुतूहल बढ़ा और प्रकरण की सब गाथाएँ पढ़ ली। "प्रकीर्णक" की प्राकृत भाषा क्या है, प्राकृत पदों को खीचतान कर गाथाओ का रूप दिया है। महाकवि बाणभट्ट की "हठादाकृष्टानां कतिपयपदाना रचयिता" इस उक्ति को चरितार्थ किया है।

द्वितीय प्रतिमाधिकार का विषय भी मुख्यतः मूर्ति-पूजा सम्बन्धी ही है, फिर भी इसमे उसके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयो की चर्चा की गई है। इस प्रतिमाधिकार के लेखक ने अपना नाम कही भी सूचित नही किया है और इसमे दिये हुए सूत्र पाठ भी कई कल्पित मालूम हुए हैं। इस कारण से हम पहिले द्वितीय प्रतिमाधिकार के सम्बन्ध मे ही कुछ लिखना उचित समझते हैं।

प्रतिमाधिकार न० २ के लेखक ने अपने ग्रन्थ में कही भी अपना नाम निर्देश नही किया। फिर भी इसके पढने से इतना निश्चित हो सकता है कि यह सन्दर्भ वि० की १७वी शती के पूर्व का नही है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम "जिनप्रतिमाधिकार" है, फिर भी इसमे अनेक वातो की चर्चा की है और उन्हे प्रमाणित करने के लिए अनेक सूत्र-ग्रन्थो के पाठ दिये हैं। ग्रन्थकार ने जिन-जिन वातो की इस ग्रन्थ मे चर्चा की है, उनकी सूचना ग्रन्थ के प्रारम्भ मे नीचे लिखे शब्दो मे दी है—

"श्रीजिनपूजा १, प्रतिमा २, प्रासाद ३, साधु-स्थापना ४, दान ५, साधर्मिक-वात्सल्य ६, पुस्तक-पूजा ७, श्री पर्युषण पर्व ८, आरात्रिक ६, मंगल प्रदीप १०, प्रतिक्रमणाद्यक्षराणि ११, श्री मूल सिद्धान्तोक्तानि लिख्यन्ते ॥"

उक्त प्रकार से ग्रन्थकार ने ग्यारह वातों को सिद्ध करने के लिए शास्त्र के पाठ लिखने की प्रतिज्ञा की है। फिर भी इन बातो के उपरान्त भी अनेक विषयों की चर्चा की है, परन्तु लेखक स्वय एक भेदी-लेखक रहना चाहते हैं।" इसका कारण यह मालूम होता है कि इस ग्रन्थ मे अनेक प्रमाण ऐसे दिये गये हैं जो वताए हुए सूत्रो मे नही हैं। केवल कल्पित प्रमाण तैयार करके इस सग्रह मे लिख दिये हैं। लिखने वाले ने किसी प्रकार से स्वयं खुला न पड़ जाय इस बात की पूरी सावधानी रखी है। पढने वालो को आभास यही हो कि लेखक कोई तपागच्छीय साधु है। लोगो की दृष्टि मे अपनी इस होशियारी को सच्चा ठहराने के लिए अचित्त जल आदि की चर्चा में तपागच्छ के पक्षकार के रूप मे खरतर-

न० ३११। इनमे से पहले प्रतिमाधिकार के पत्र १९५ है तब दूसरे के पत्र १५५ हैं। पहले ग्रन्थ की श्लोक सख्या १२००० से भी अधिक है, तब दूसरे प्रतिमाधिकार की श्लोक सख्या ७००० के आसपास है। पहले ग्रन्थ की प्रति विक्रम सवत् १५८७ मे लिखी हुई प्राचीन प्रति के ऊपर से हमने स० १९९४ मे लिखवायी है, तब दूसरे प्रतिमाधिकार की प्रति पूज्य पन्यासजी महाराज श्री सिद्धिविजयजी (आचार्य विजयसिद्धि सूरिजी महाराज) द्वारा जोधपुर के एक यतिजी के भडार की प्रति के ऊपर से स० १९६५ मे एक सत द्वारा लिखवायी हुई है।

पहले प्रतिमाधिकार मे ५७१ कुल अधिकार हैं, जो सब के सब जिन प्रतिमापूजा से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रतिमाधिकार का लेखक कोई पश्चात्-कृत जैन श्रावक था, जो निम्नलिखित श्लोक से जाना जाता है—

"पश्चात् कृत द्रव्यलिग, रामेण हि धर्माथिना ।
तेनोद्धृतमिद शास्त्र, सर्वज्ञोक्त निरन्तरम् ॥१॥"

इस श्लोक मे लेखक ने स्वयं अपने को पश्चात्कृत कहा है और अपना नाम 'राम' बताया है। खम्भात की प्रति हमने स्वय देखी है। इसके अन्त मे लेखक की पुष्पिका निम्न प्रकार से है—

"श्री सवत् १५८७ वर्षे अद्येह श्रीस्तम्भतीर्थे श्रीउसवसीय सोनी सोमकरी, सो 'सललित' सो सिघराज लिखापित। लोकाना भव्याना बोधिलाभाय। शोध्य तदेतद्बुधै ॥"

ऊपर की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की प्रथम प्रति कर्त्ता श्री राम ने स्वय लिखाई है, इसीलिए विद्वानो को इसके संशोधन की प्रार्थना की गई है।

प्रथम प्रतिमाधिकार मूर्ति-पूजा की सिद्धि मे लिखा गया है। अतः इसकी चर्चा फिर कभी की जायगी।

मे हुआ था। आर्यरक्षितजी के अनुयायियो ने "दताणी" का नाम "दंताणी" यह अपने लेखो मे दिया है। प्रस्तुत सग्रह अंचलगच्छ, लुकागच्छ और कडुआगच्छ इन तीन गच्छों की मान्यता का खडन करने वाला होने से इस ग्रन्थ का लेखक उक्त तीन सम्प्रदायो का अनुयायी नही है, यह निश्चित मान लेना चाहिए।

सग्रहकार ने एक स्थान पर श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराने का खंडन किया है और लिखा है कि श्रावक प्रतिष्ठा नही करा सकता। पौर्णमिक गच्छ वालों का मन्तव्य है कि जिन-प्रतिष्ठा द्रव्यस्तव होने के कारण साधु नही कर सकता; यह कर्त्तव्य श्रावक का है, परन्तु प्रस्तुत प्रतिमाधिकार मे श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराने का खण्डन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि "प्रतिमाधिकार" ग्रन्थ पौर्णमीयक विद्वान् की भी कृति नही है। अब अब रहे तपागच्छ और खरतरगच्छ, इन दो मे से किस गच्छ के अनुयायी की यह कृति होनी चाहिए। इसका निर्णय इसमे लिखे हुए विषयों की परीक्षा करने से ही हो सकता है। प्रारम्भ मे लेखक ने जिन विषयो का नामोल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त अनेक बातो की चर्चा इसमे भरी पडी हैं और प्रमाण के रूप मे ग्रन्थो के पाठ भी अनेक दिये है। इन पाठो की जांच-पडताल से लेखक का निर्णय होना कोई बडी बात नही है।

"जिनप्रतिमाधिकार न० २" के पत्र ३५ मे निम्न प्रकार की अचलगच्छ के आचार्यों की पट्टपरम्परा दी है—

"जमाल्यन्वये १२१४, आर्यरक्षित १, जयसिह २, धर्मघोप ३, महेन्द्रसिह ४, सिहप्रभ ५, अजितसिह ६, देवेन्द्रसिह ७, धर्मप्रभ ८, सिहतिलक ९, महेन्द्रप्रभ १०, मेरुतुग ११, जयकीर्ति १२, जयकेसरी १३; स्तनिकगणनीयाः ॥"

उक्त पट्टावली के आचार्यों को जमालि के अन्वय मे लिखने के कारण अन्त में "स्तनिक गणनीया." ये शब्द लिखने पडे हैं, जिनका अर्थ है—इनको भाचन्निक गिनना चाहिए। अन्तिम आचार्य जयकेसरी का स्वर्गवास

गच्छ वालों की मान्यताओ का खण्डन किया है। अचल-गच्छ वालों को जमालि-परम्परा में बताया है। कतिपय तपागच्छ की मान्यताओ का समर्थन भी किया है। इतनी होशियारी करने पर भी इस सग्रह के विषयो की गहराई मे उतर कर वास्तव में लेखक किस गच्छ-सम्प्रदाय को मानने वाला है, इसका पता लगाया जा सकता है। प्रस्तुत सग्रहकार ने अपने संग्रह का नाम "जिनप्रतिमाधिकार" दिया है, फिर भी यह सग्रह हमारी दृष्टि मे भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के पाठो का सग्रह मात्र बना है, ग्रन्थ के रूप मे व्यवस्थित नही। प्रारम्भ की पक्तियो में लेखक ने जिन-जिन विषयो का निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है, उनमे से प्रथम विषय जिन-पूजा की चर्चा ग्रन्थ के २६मे पत्र में पूरी होती है। तब साधु-स्थापना, दान स्थापना, साधर्मिक वात्सल्य स्थापना, और पर्युषणा—इन चार विषयों का थोडा-थोडा निरूपण करके इन्हे जिन-पूजा के अन्तर्गत ही कर दिया है। इतना ही नही वल्कि दूसरी भी पचासो वातो की चर्चा की है, जिनका प्रारम्भिक सूचन मे निवेदन नही है। इतना ही नही, परन्तु प्रारम्भ मे सूचित विषयो के साथ सम्बन्ध तक नही है, अस्तु।

अव हम प्रारम्भ मे सूचित विपयो के सम्वन्ध मे कुछ ऊहापोह करेंगे। लेखक ने जिन विषयो के समर्थन मे सूत्रो के प्रमाण देने की प्रतिज्ञा की है, उनमे श्री जिनपूजा, जिनप्रतिमा, जिनप्रासाद, दान, साधर्मिक वात्सल्य, पुस्तक पूजा और पर्युषणा पर्व, इन सात बातो को लोंकाशाह मत के अनुयायी प्रारम्भ मे नही मानते थे, इसलिए मुख्यतया लोकामत के खण्डन मे प्रस्तुत पाठ सग्रह किया है। १. आरात्रिक, २. मगल प्रदीप और ३. श्रावक प्रतिक्रमण इन बातो को अचलगच्छ वाले उस समय नही मानते थे, तव साधु-सस्था को न मानने वाले कडुवाशाह के अनुयायी थे। लोका तथा कडुआ मत की स्थापना विक्रम की सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे हुई थी, तव आचलगच्छ जो विधि-पक्ष के नाम से भी परिचित था और विक्रम सवत् ११६९ मे स्थापित हुआ था। इनके सस्थापक आचार्य आर्यरक्षित थे, कि जिनका जन्म आबु पर्वत की दक्षिण-पश्चिमीय तलहटी से लगभग आठ माइल पर अवस्थित "दताणी" गाव

तानि पानीयानि इति प्ररूपयति पर ते वितथप्ररूपका अश्राव्यवचनाश्च ज्ञातव्याः। दशवैकालिक-श्रीकल्पादौ स्थविरकल्पिकाना काजिकनीरविधे. स्पष्टमेव सुतरा भरणनात्।"

ऊपर का कथन तपागच्छ वालो की मान्यता को लक्ष्य मे लेकर किया गया है। विक्रम की १४वी शताब्दी में तपागच्छ और खरतरगच्छ के बीच साधुओं के ग्राह्य-पेय अचित्तजलो के सम्बन्ध मे बडा सघर्ष चल पड़ा था। सूत्रोक्त धावन जल धीरे धीरे अदृष्ट हो गए थे। उस समय तपागच्छ के आचार्यों का उपदेश था कि शास्त्रोक्त धावन जल मिल जाये तो लेना अच्छा ही है। परन्तु आजकल इस प्रकार के प्रासुक जल प्राय. दुर्लभ हो गए है। अत. अचित्तभोजी श्रावक श्राविकाओ को उष्ण किया हुआ ही जल पीना चाहिए और साधुओ को भी शुद्ध उष्ण जल ही देना चाहिए। इसके सामने खरतरगच्छ वालो का कहना यह था कि पानी उबालने मे छ· जीवनिकाय का आरम्भ होता है। अत साधु को इस प्रकार का उपदेश न देना चाहिए और न जैन श्रावक को अपने लिये भी जल उबालने का आरम्भ करना चाहिए। कत्थे का चूर्ण तथा त्रिफलादि का चूर्ण जल मे डालने से जल अचित्त हो जाता है, तो अग्निकाय का आरम्भ कर त्रसादि छ· काय की विराधना क्यो करना चाहिए? "तपोटमत-कुट्टन" प्रकरण मे आचार्य जिनप्रभ सूरि ने उक्त प्रकार की युक्तियो से गर्म पानी का जोरो से खण्डन किया है।

हमारा यह कथन कोई निराधार न समझ ले इसलिए हम यहाँ नीचे "तपोटमतकुट्टन" तथा "प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत् शतक" नामक दो ग्रन्थो के प्रमाण उद्धृत करते हैं। "तपोटमतकुट्टन" मे आचार्य जिनप्रभ सूरि लिखते हैं—

"वर्णान्तरादिप्राप्त सत्, प्रासुक यत् श्रुते स्मृतम्।
न्यवारि वारि शिशिर, तदपि व्रतिगेहिनाम् ॥३२॥
अप्कायमात्रहिंसोत्थं, निरस्य प्रासुकोदकम्।
प्राग्पि गृहिणामुष्ण, वा. षटकायोपमर्दजम् ॥३३॥"

विक्रम संवत् १५४२ में हुआ था। इससे जाना जाता है कि यह पट्टावली श्री जयकेसरी सूरि की विद्यमानता मे लिखी होगी। फिर भी इस पर हम अधिक विश्वास नही कर सकते, क्योकि इसी ग्रन्थ के पत्र ६ठे मे "सवत् १५८० वर्षे वैशाख वदि १३ सौमे" विना प्रसग के इस प्रकार सवत् लिखा हुआ मिलता है और उपर्युक्त अचलगच्छ की पट्टावली भी इसी प्रकार विना सम्बन्ध और प्रसंग के लिखी गई है। सभवत. लेखक ने अंचलगच्छ के आचार्यों को जमालि के वशज खिलने से अचलगच्छ वालो का "तपा-गच्छ" वालों पर शक जायगा, क्योकि पहले भी तपागच्छ के विद्वानो ने 'श्राद्धविधि-विनिश्चय' आदि ग्रन्थो में पौर्णमिक, आंचलिक, आगमिक, खरतर आदि गच्छो की उत्पत्ति लिखकर उनका खडन किया है। उसी प्रकार इस सग्रह के लेखक को तपागच्छ का विद्वान् मानकर अपना रोष उगलेंगे और खरा लेखक अज्ञात ही रहेगा। परन्तु लेखक की यह होशियारी गुप्त रहने के स्थान पर प्रकट हो गयी है, क्योकि तपागच्छ के प्राचीन विद्वानो ने अचलगच्छ के सम्बन्ध मे जहाँ कही लिखा है, वहाँ सर्वत्र अचलगच्छ का प्रादुर्भाव सवत् ११६९ मे ही होना लिखा है। केवल उपाध्याय धर्मसागरजी ने इसके विपरीत सं० १२१४ का उल्लेख किया है। खरतरगच्छीय ने जिस भी पट्टावली मे अचलगच्छ की उत्पत्ति लिखी है, वहाँ सर्वत्र समय १२१४ लिखा है, जो प्रस्तुत पट्टावली लिखने वालो ने लिखा है। इस परिस्थिति मे प्रस्तुत "जिन-प्रतिमाधिकार" लिखने वाला व्यक्ति तपाच्छीय हो सकता हैं अथवा खरतरगच्छीय इस बात का पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

"प्रतिमाधिकार" के पत्र ३६ में काञ्जिक आदि जल लेने न लेने की बड़े विस्तार के साथ चर्चा की है और खरतरगच्छ वाले काँञ्जिक जलादि न लेने की जो बात कहते हैं उस बात का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। उनके ग्रन्थ के शब्द नीचे दिये जाते हैं—

"ये तु श्री आगममध्यस्थानप्रोक्तकांजिकजलग्रहणेऽनंतकायविराधना-मुद्भावयंति ते आगममार्गपराङ्मुखा जिनाज्ञाविराधकाः सर्वथा सान्द्रूरपकर्णनीया इति, तथा केचिच्च कांजिकादिजलग्रहणाशक्तौ जिनकल्पिकानामे-

इसका परिणाम यह आया कि जहाँ खरतरगच्छ के साधु-साध्वी विचरते थे, उस मारवाड़ के प्रदेश की तरफ तपागच्छ के साधुओं को गर्म जल मिलना दुर्लभ हो गया और जल सम्बन्धी कष्ट को ध्यान मे लेकर तपागच्छ के आचार्य श्री सोमप्रभ सूरिजी को अपने गच्छ के साधु साध्वियों को मारवाड़ मे विहार न करने की आज्ञा निकालनी पडी। कई वर्षों तक तपागच्छ के साधु साध्वियों का विहार मारवाड़ में नही हुआ। इस प्रकार की पानी सम्बन्धी परिस्थिति को ध्यान मे रखकर पाठकगण उपर्युक्त फिकरा पढेंगे तो सामान्य आभास यही मिलेगा कि इसका लेखक कोई तपागच्छीय व्यक्ति है, परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। लेखक तपागच्छीय न होने पर भी तपागच्छीय का रूप धारण कर अचल, खरतर आदि गच्छो के विपरीत लिख रहा है। इसका कारण मात्र यह है कि इसमे कतिपय खरतरगच्छीय मान्यताओ को प्रामाणिक मनाने के भाव से जो कल्पित शास्त्रपाठ प्रमाण के रूप मे दिये है वे सत्य मान लिये जाएँ। परन्तु होशियारी करते हुए भी लेखक के हृदय के उद्गार कही कही प्रकट हो ही जाते हैं। इस प्रासुक जल सम्बन्धी प्रकरण मे ही देखिए। शर्करा द्वारा अचित्त किया हुआ जल और काथ-कसेलक इन दो पानियो के मुका-बिले मे निम्न प्रकार से अपना आशय व्यक्त करते है—

"सितापानीय त्वल्पसितामध्यक्षेपरोन कल्पते किंतु वहुसितास्वाद-संभवे एव तच्च जनैः पित्तोपशातये बहुसितायोगेनैव विधीयते अन्यथा पितोपशमनकार्याऽसिद्धेः, काथकसेल्लकादि नीर त्वल्पचूर्णेनाऽपि क्रियते जनैः ॥ भावेन बाहुल्येन क्रियते अतो न तयो सादृश्य ॥"

ऊपर के फिकरे मे लेखक ने शर्करा जल और काथ कसेल्लादि जलों मे शर्करा जल को छोड़कर काथ कसेल्लकादि जल को सुलभ और स्वाभाविक मानकर इसको महत्त्व दिया है। परन्तु यह भावना खरतरगच्छ के अनुयायी की ही हो सकती है, तपागच्छ के अनुयायी की नही, क्योकि तपागच्छ के आचार्य काथ-कसेल्लाकादि जल को प्रथम तो प्रासुक मानने मे ही सशक थे, क्योकि काथ कसेल्लाकादि चूर्णों की अल्प मात्रा से भी जल का वर्ण वदल सकता है। परन्तु इतनी अल्प मात्रा जल को प्रासुक करने

अर्थात् शास्त्र में वर्णान्तरादि प्राप्त जल को प्रासुक कहा है, परन्तु तपोटो ने व्रती तथा गृहस्थो के लिए उसका निवारण किया और अप्काय-मात्र की हिंसा से जो जल प्रासुक होता था, उसके स्थान मे छः जीव-निकाय के उपमर्दन से तैयार होने वाले उष्ण जल की गृहस्थों के सामने प्ररूपणा की। आचार्य जिनप्रभ का सत्ता समय विक्रम की १४वी शती है, परन्तु उसके सैकडो वर्षो के पहले से खरतरगच्छ के उपदेशक उष्ण जल का विरोध और काथकसेलकादि से अचित्त होने वाले जल की हिमायत करते रहे हैं। देखिये श्री उ० जयसोम गणी विरचित "प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत् शतक" का निम्नलिखित पाठ—

"अम्हारइ सम्प्रदायि उन्हा पाणी ना मेल थोडा, गृहस्थ फासु वर्णान्तिर प्राप्त पाणी सहू पीयई, अनइ यति पण अेहना अे फासूजि पाणी पीयई, एहजि ढाल छई, इम कनता जइ यति उन्हा पाणी पीता हवई तउ अम्हारइ काजि 'अपउल दुपउल' नामइ उन्हा करीनइ गृहस्थ यतिनइ उन्हा पाणि आपतजि, पर इणजि मेलि चित्तमाहि निरवद्य उन्हा पाणि यतिनइ दोहिला जाणीनइ अम्हारिगीतार्थे जे सचित्त परिहारी गृहस्थ पीयइ तेहजि प्रासुक पाणी यतिनइ वावरिवा भणी प्रवर्तीयउ ते भणी उन्हा पाणी त्रिदण्डोत्कालित-अणसरणमांहि समाधि निमित्त वर्णान्तर प्राप्तजि पाणी पाईयइजि ॥"

उपर के लेख मे अनशन करने वाले साधु गृहस्थ को भी वर्णान्तर प्राप्त शीतल जल पाने की वात कही है। परन्तु अनशन किये हुए यति गृहस्थ को वर्णान्तर प्राप्त पानी पाना हमारी समझ में अच्छा नही होता, क्योकि तीन उपवास के ऊपर के विकृष्ट तप करने वाले साधु को भी केवल उष्ण जल पीने की कल्प-सूत्र मे आज्ञा दी है, तब अनशन करने वाले साधु गृहस्थो को वर्णान्तर प्राप्त जल पीना शास्त्रीय दृष्टि से ठीक है या नही, इस वात पर खरतरगच्छ के विद्वानो को अवश्य विचार करना चाहिए।

उस समय खरतरगच्छीय साधु लोग अपने अनुयायी श्रावक श्राविकाओ को कषायले पदार्थों से अचित्त पानी पीने का नियम कराते थे।

उपर्युक्त फिकरे में खरतरगच्छ और अंचलगच्छ के साधुओं का दृष्टान्त देकर लेखक ने अपने आप को उपर्युक्त दो गच्छो से भिन्न किसी गच्छ का अनुयायी वताने की चाल चली है, परन्तु इस चाल से भी अपने गच्छ को गुप्त नही रख सकेगा, क्योकि इस ग्रन्थ मे अनेक ऐसे कल्पित पाठो के प्रमाण दिये हैं, जो लेखक के गच्छ को प्रकट किये विना नही रहेगे।

"प्रतिमाधिकार" के ५८वें पत्र में महानिशीथ का एक पाठ दिया है जो नीचे लिखा जाता है—

"वारवईए नयरीए अरिट्ठ नेमिसामी समोसरिओ, तत्थ कण्हो वागरेइ-भयवं तिन्निसयसट्ठाण दिवसाण मज्झे एगं उक्किट्ठं दिवस साहेह, सुणसु कण्हा ? मग्गसिर सुद्धिएकारसी दिवसं पन्नासजिणकल्लाणगाण दिण भण्णइ, तम्हा समणेण वा समणीइ वा सावएण वा साविआइ वा तमि दिणे विसेसओ धम्माणुट्ठाण कायव्व"—श्री महानिशीथे ॥

उपर्युक्त प्राकृत पाठ "महानिशीथ' मे होने का लिखा है, परन्तु यह पाठ महानिशीथ मे नही है। महानिशीथ को हमने दो वार अच्छी तरह पढ़ा है। महानिशीथ मे उपर्युक्त पाठ के विषय की सारे सूत्र मे सूचना तक नही है, न इस पाठ की भाषा ही महानिशीथ की है। किन्तु ३०० ४०० वर्ष के भीतर की यह भाषा स्वय वता रही है कि उक्त पाठ किसी ने नया वनाकर इस सग्रह मे रख दिया है।

इसी प्रकार "प्रतिमाधिकार" के ६४वें पत्र मे आचार्य, साधु और महत्तरा, प्रवर्तिनी के प्रायश्चित्त का परिमाण महानिशीथ के ५वे अध्ययन मे होना लिखा है जो गलत है। महानिशीथ मे से निम्नोद्धृत पाठ लिखा है—

"से भयव आयरिआण केवइयं पायच्छित्तं भवेज्जा ? जमेगस्स साहुणो त आयरिअ-महत्तरा-पवित्तिणीए सत्तरसगुण, अहेण, सीलखलिए

में समर्थ हो सकती है या नही इस विषय में तपागच्छ के आचार्य निश्शक नहीं थे। क्योकि शास्त्र मे लिखा है कि मधुर रस वाला पदार्थ जल को देरी से अचित्त बनाता है और वह जल जल्दी सचित्त बन जाता है। इस दशा मे काथ कसेल्लाकादि के जल की तरफदारी करने वाला लेखक तपागच्छ का हो सकता है या खरतरगच्छ का ? इस बात का पाठकगण स्वयं निर्णय करले।

जल के सम्बन्ध मे ही लेखक आगे एक प्रश्न करके जल सम्बन्धी चर्चा को आगे बढ़ाता है—

"ननु तडुलादिधावन किमिति निशिर्न पीयते ? उच्यते-पूर्वपरम्पराप्रामाण्यात्, न पुनरत्र जलत्वेन यथा हि खरतराणा शर्कराजलेक्षुरसो, आंचलिकाना च तक्र भुक्त्वोत्थितै. साध्वादिभि. प्रत्याख्यानेऽपि कारणे सति दिवा पीयते निशि न, तथा धावनमपि दिवा पीयमानमपि निशि न पीयते इति ब्रूमः, निशि हि मुख्यवृत्या श्राद्धानामपि चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानमेवोक्तमस्ति, यदि च जातु ते तत् कर्तुं न शक्नुवन्ति तदा तेषां पूर्वाचार्यैरेकमुष्णोदकमेवानुज्ञातं कारणे ॥"

ऊपर के फिकरे मे लेखक खरतर तथा अचलगच्छ के अतिरिक्त अन्य गच्छीयपन का ढोग कर प्रश्न करता है कि जब तुम तन्दुलादि धावन की हिमायत करते हो तो रात्रि के तिविहार-प्रत्याख्यान में तन्दुलादि धावन जल क्यों नही पीने देते और उष्ण जल पीने का उपदेश क्यो करते हो ? इसके उत्तर मे वह कहता है, इसमे पूर्वाचार्यों की परम्परा ही प्रमाण है। जिस प्रकार खरतरगच्छ मे शक्कर का पानी तथा इक्षु रस और अंचलगच्छ मे छाछ भोजन कर उठने के बाद साधु आदि प्रत्याख्यान मे भी कारणवश दिन मे पीते हैं, रात्रि में नही। इसी प्रकार दिन मे पिया जाता तन्दुल धावन भी रात्रि मे नही पिया जाता है। श्रावको को भी मुख्य वृत्ति से रात्रि मे चतुर्विधाहर का प्रत्याख्यान करना कहा है, फिर भी जो चतुर्विधाहार का प्रत्याख्यान कर न सके तो उसके लिए पूर्वाचार्यो ने कारण विशेष में एक उष्ण जल पीने को आज्ञा दी है।

पहले की मान्यता चली आती है कि पोषध पर्व, अपर्व सभी दिनों मे किया जा सकता है। तव खरतरगच्छीय मान्यता के अनुसार पोषध अष्टमी, चतुर्दशी पूर्णिमा आदि पर्व तिथियो में ही किया जाता है, अन्य तिथियो में नही। इस परिस्थिति मे "जिनप्रतिमाधिकार" का कर्त्ता खरतरगच्छीय होना चाहिए या तपागच्छीय इसका निर्णय पाठकगण स्वय कर लेंगे।

"जिनप्रतिमाधिकार" के ८५वें पत्र मे लेखक ने सर्वार्थसिद्ध विमान में ६४ मन का मोती एक, ३२ मन के चार इत्यादि मोतियो का वर्णन लिखा है और आगे जाकर बताया है कि पवन की लहर से पृथक्-पृथक् होकर ये मोती एक साथ मुख्य मोती से टकराते हैं तव वह विमान मधुर स्वर के नाद से भर जाता है और उस विमान मे रहने वाले देव उस नाद में लीन होकर वडे आनन्द के साथ ३३ सागरोपम का आयुष्य व्यतीत करते हैं। इस प्रकार की हकीकत "सिद्धप्राभृत" प्रकीर्णक के नाम मे लिखी गई है, वह मूल पाठ नीचे दिया जाता है—

"सर्वार्थसिद्ध विमाने ? मुक्ताफल ६४ मण प्रमाण वलयाकारेणं, ४ मुक्ताफलानि ३२ मण प्रमाणानि, पुनरपि ८ मुक्ताफलानि १६ मण प्रमाणानि, पुनरपि ४र्थ वलये ८ मण प्रमाणानि १६, पुनरपि ५म वलये ३२ मुक्ताफलानि ४ मण प्रमाणानि, पुनरपि ६ष्ठ वलये ६४ मुक्ताफलानि २ मण प्रमाणानि, पुन. ७म वलये १२८ मुक्ताफलानि १ मण प्रमाणानि, यदा वातलहर्या पृथग् भूत्वा समकाल यथोक्तरीत्या मुख्य मुक्ताफले आस्फालयंति तदा तद्विमानं मधुरस्वरनादाद्वैतमय जायते, तद्विमानवासिदेवास्तन्नादलीना अतीव सुखेन ३३ सागरायुषो गमयंति" इति सिद्धप्राभृत प्रकीर्णक ॥"

लेखक ने मुक्ताफलो वाली वात "सिद्धप्राभृत" मे से ली है, ऐसा अन्त मे सूचित किया है। परन्तु हमने "सिद्धप्राभृत" मे तो क्या उसकी टीका मे भी उक्त मुक्ताफलो का सूचन तक नही देखा। जिनप्रतिमाधिकार लेखक ने उक्त हकीकत का अपने पास के "सिद्धप्राभृत" की टीका में

भवन्ति तम्रो तिलक्खगुरण, तम्हा सव्वहा सव्वपयारेहिं णं श्रायरिश्र महत्तर-पवत्तरणीहिं श्रखलिश्रसीलेहि भव्वेश्रव्व"—महानिशीथ ५ अ० ॥

अर्थात्—"गणधर श्री गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते है—हे भगवन् ! आचार्यो महत्तरों प्रवर्तनी को कितना प्रायश्चित्त हो ? एक साधु के लिए जो प्रायश्चित्त होता है, वही आचार्य, महत्तर और प्रवर्तनी इन तीनों के लिए १७ गुना प्रायश्चित्त होता है। यदि आचार्यादि तीन शील व्रत मे दोष लगाते है, तो साधु से तीन लाख गुना प्रायश्चित्त होता है। इस वास्ते सर्वथा और सर्व प्रकारो से आचार्य, महत्तरा और प्रवर्तिनी को अस्खलितशील होना चाहिए।

उपर्युक्त प्रायश्चित्त विषयक महानिशीथ का पाठ महानिशीथ के पचम अध्ययन मे नही आता। महानिशीथ के सातवे आठवे अध्ययनों मे कुछ प्रायश्चित्त अवश्य मिलते हैं, उन्ही में उक्त प्रायश्चित्त है। शेष सभी अध्ययनो मे उपदेश और साधु-साध्वियो के दृष्टान्त भरे पडे है, प्रायश्चित्त नही।

जिनप्रतिमाधिकार न० २ के पत्र ७६ मे लेखक ने "पौषध" शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"पौपध पर्वदिनानुष्ठान तत्रोपवासोऽवस्थानं पौषधोपवास: एषो द्वन्द्व:, तैर्युक्ता इति गम्य चाउद्दसेत्यादि ॥"

अर्थात्—'पौषध' पर्वदिन के अनुष्ठान का नाम है, उसमें रहना उसका नाम है "पौषधोपवास" यहाँ पदो का आपस मे द्वन्द्व समास समझना चाहिए। यहाँ "पौपधोपवास" चतुर्दशी, अष्टमी आदि मे होता है इत्यादि ॥

जिनप्रतिमाधिकार का लेखक यदि "तपागच्छीय" होता तो "पौषधको" पर्वदिन का अनुष्ठान और चतुर्दशी अष्टमी आदि मे करने का अनुष्ठान नही लिखता, क्योकि तपागच्छ मे लगभग ५०० वर्षों से भी

असद्धं सजणइ इइ काऊण" महानिशीथे साधूना त्रिसध्य देववन्दन-विचारः ॥

ऊपर का सूत्रपाठ लेखक ने महानिशीथ मे होना लिखा है। यह पाठ महानिशीथ मे शब्दशः नही है और न इसमे सूचित प्रायश्चित्त ही महानिशीथ के अतिरिक्त अन्य किसी सूत्र मे लिखा मिलता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ के उसी एकानवे पत्र मे तुगिया नगरी के श्रावको के वर्णन का सूत्रपाठ दिया है जो यथार्थ नही है। तुगिया नगरी के जैन श्रावको का वर्णन भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के पाचवें उद्देशक मे मिलता है। परन्तु उस वर्णन के और इसके वीच तो रात दिन का अन्तर है। यह वर्णन अधिकाश कल्पित और उपजाया हुआ है। इसमे जो श्रावको के नाम दिये हैं वे भिन्न-भिन्न गाम-नगरो के रहने वाले थे, जो यहाँ सव को इकट्ठा कर दिया है। पाठको के कौतूहल निवृत्यर्थ प्रतिमाधिकार का वह पाठ नीचे लिख देते हैं—

"ते ण कालेण २ जाव तुंगिआए नयरीए वहवे समणोवासगा परिवसति-सखे, सयगे सिलप्पवाले, रिसिदत्ते, दमगे, पुक्खली, निविट्ठे, सुप्पइट्ठे, भाणुदत्ते, सोमिले, नरवम्मे, आणदे, कामदेवाइणो अ जे अन्नत्थ गामे परिवसति, अहादिता विच्छिन्नविपुलवाहणा जाव लद्धट्ठा गहिअट्ठा, चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसह पालेमाणा निग्गंथाणं निग्गथीण फासुएसणिज्जेण असण पडिलाभेमाणा चेइआलएसु तिसझासमए चदण-पुप्फ-धूप-वत्थाईहिं अच्चण कुणमाणा जाव जिणहरे विहरति, से तेणट्ठेण गोअमा जो जिणपडिम पूएइ सो नरो सम्मद्दिट्ठी जाणियव्वो, मिच्छादिट्ठिस्स नाण न हवइ ॥"

प्रतिमाधिकार के लेखक ने ऊपर जो तुगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन किया है, वह कहा का पाठ है यह कुछ नही लिखा। इसका कारण यही है कि सूत्र का नाम देने से सूत्र के पाठ के साथ इस पाठ का मिलान कर पाठकगण पोल खोल देंगे। हम भगवती सूत्र के दूसरे शतक के

प्रक्षेप कर दिया-हो तो वात अलग है। आज तक हमने जो जैन-साहित्य का अवलोकन किया है, उसमे कही भी उक्त हकीकत दृष्टिगोचर नही हुई। हाँ, पं० वीरविजयजी ने वेदनीय कर्म की पूजा मे उक्त हकीकत अवश्य लिखी है, परन्तु उसका मूलाधार आज दिन तक कही दृष्टिगोचर नही हुआ है।

इसमे पवन की लहरो से चलते हुए मोतियों के टकराने से मधुर नाद उत्पन्न होता है यह लिखा है। तव प्रश्न उत्पन्न होता है कि सर्वार्थसिद्ध मे इतनी जोरो की हवा चलती होगी क्या? जो मण से लगाकर ३२ मण तक के वजन वाले मोतियो को हिला डाले और वे बिचले मोती के आस्फालन से मधुर नाद उत्पन्न करे? शास्त्रो मे तो सामान्य रूप से विमानो को **घनोदधि, घनवात, अवकाशान्तर** प्रतिष्ठित लिखा है और सर्वार्थसिद्ध को **आकाशप्रतिष्ठित** कहा है। तव वहाँ इतना जोरो का पवन कहा से आता होगा, जो मोतियो को टकराकर मधुर नाद उत्पन्न कर सर्वार्थसिद्ध मे आनन्द उत्पन्न करता होगा। शास्त्रज्ञ जैन विद्वानो को इस वात पर गहरा विचार करना चाहिये। हमारी राय मे तो ६४ मण के मोती वाली बात अनागमिक है।

"जिनप्रतिमाधिकार" के ६१वे पत्र में साधु-साध्वी को स्तव, स्तुति पूर्वक त्रैकालिक चैत्यवन्दन न करने से प्रथम वार उपवास, दूसरी वार छेद, तीसरी वार उपस्थापना का प्रायश्चित्त लिखा है और अविधि से चैत्यवन्दन करने पर पारांचित प्रायश्चित्त का विधान किया है। इस प्रायश्चित्तविधान का मूल पाठ नीचे लिखते हैं—

"जे केइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिक्खादि अयहाप्पभतिइओ अणुदिअह जावजीवाभिग्गहेण सत्थे वीसत्थे भत्तिनिब्भरे जजु(हु)त्त विहीए सुत्तत्थमणुसरमाणे अणण्णमाणसेगग्गचित्ते तग्गयमाणससुहज्झवसाए थय-थुईहिं न ते कालिअं चेइयाइं वदिज्जा तस्स ण एगाए वाराए खवण पायच्छित्त उवइसिज्जा, बीआए छेअ, तइआए उवट्ठावण, अविहीए चेइआइ वदेतओ पारंचिअ, अविहीए वदेमाणे अन्नेसि

कारिअ त आययरणं भण्णइ, आययरणे पुरण इमो विही पवत्तइ-न उस्सुत्तजरण-वक्कमो साया, न रयरणीए जिरणविवन्हारण, न पइट्ठा, न साहूरण सम्मत्त, न चेइहरमज्झे मठाइसु सुसाहुसाहुरणीरण निवासो, न रत्तीए इत्थिजरणप्पवेसो, न जाई-कुल-अइसग्गहो, न सावयारण जिरणहरस्स मज्झे तबोल-दारण-भक्खरण, न विगहा, न कलहो, न घरचिंता, न रयरणीए विलासिरणीनट्ट, न रत्ति-जागररण, न लगुडरासदाणं, पुरिसाणं पि न जलकीडा-सिगार-हेडगाइ, न हिंडोलगो देवयाण पि, न गहण, न सकंती, न माहमाला, न पाण-भोअरण-मुत्त-पुरीसनिट्ठवरण-न्हारण-पाय-ठवरणाई, न हास-कील-करण, न हुड्डा; न जुद्ध, न जूअ, न देवदव्वभक्खण, न परुप्परमच्छरो, न सावयपइट्ठाकरण, न पहररणजुत्तस्स सावयजरणस्स पविसण, न अरणुचिअ-गीअ-वाईअ-नट्ट च, न उम्मग्गदेसरणा करण, उम्मग्गठिआणं वदरणाइ करण, न दुट्ठ जपण, अन्न-पि गडइरिअपवाहपडिअ आगम-आयररण-विरुद्ध दोस-वड्ढरण गुरण-घायण जत्थ न कीरइ त **आययरणं** गुरणवुड्ढिकर तित्थयर-गरणहरमय सग्गापवग्ग-जरणय अनाययण नारण-दसरण-चररण-गुरणघायणं ठाण मुक्खत्थि-सुसाहु-साहुरिण-सावय-साविआजरणवज्जरिणज्ज विसुद्धभावेण, न पुरण रागदोसेण। **व्यवहारचूर्णौ** ।

अर्थ—लेखक ने उपर्युक्त पाठ व्यवहारभाष्यचूरिण का होना बताया है। व्यवहार-भाष्य और उसकी टीका भी हमने पढी है—

भाष्य मे "निस्सकडमनिस्सकड-चेइए सव्वहि थुई तिण्णि ।
वेल व चेइयारिण व, नाउ इक्किक्किया वावि ॥"

यह गाथा अवश्य आती है और इस प्रसग पर निश्राकृत अनिश्राकृत मगलचैत्य शाश्वत चैत्य आदि का सक्षेप मे टीककार ने परिचय बताया है, परन्तु आयतन अनायतन के सम्बन्ध मे कोई निरूपरण नही किया। व्यवहारचूर्णि हमारे पास नही है, न हमने पढी है। फिर भी चूरिण मे आयतन अनायतन के सम्बन्ध मे इतना विस्तृत विवरण होता तो टीका-कार आचार्य क्षेमकीर्ति चूरिण से भी आयतन की टीका अधिक विस्तार से करते, परन्तु वैसा कुछ नही किया। दूसरी बात यह भी है कि प्राचीन

पंचम उद्देशक में तुगिया नगरी के श्रावकों का जो वर्णन दिया गया है, उसे नीचे उद्धृत करते हैं। दोनों का मिलान करके पाठकगण देखें कि लेखक ने तुगिया नगरी के श्रावको के वर्णन मे अपने घर का कितना मसाला डाला है—

"तेण कालेण २ तुगिया नाम नगरी होत्था, वण्णओ, तीसे ण तुगिआए नगरोए वहिया उत्तरपुरिच्छिमे दिसिभाए पुप्फवतिए नाम उज्जाणे होत्था, वण्णओ, तत्थ ण तुगियाए नयरीए वहवे समणोवासया परिवसति-अड्ढा दित्ता विच्छिण्णविपुलभवण-सयणासणजाणवाहणाइण्णा, वहुवण-वहुजायरूवरयया, आओगपओगसपउत्ता विच्छड्डियविपुलभत्त-पाणा वहुदासीदासगोमहिसगवेलयप्पभूया वहुजणस्स अपरिभूया अभिगय-जीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा आसवसवरनिज्जरकिरियाहिकरण-बधमोक्ख-कुसला, असहेज्जदेवासुरनागसुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किंनर-किंपुरिस-गरुल-गधव्व -महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा, निग्गथे पावयणे निस्सकिया निक्कखिया निव्वित्तिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता, अयमाउसो ! निग्गथे पावयणे अट्ठे; अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहा, अवगुयदुवारा चियत्ततेउरघरप्पवेसा, बहूहिं सीलव्वय-गुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोव-वासेहिं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्न पोसह सम्म अणुपालेमाणा समणे निग्गथे फासुएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कवल-पायपुछणेण-पीढ-फलग-सेज्जा-सथारएण-ओसहभेसज्जेण य पडिलाभे-माणा अहापडिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाण भावेमाणा विहरति ॥१०६॥"

प्रतिमाधिकार के लेखक द्वारा दिये हुए तुगिया नगरी के श्रावको के वर्णन के साथ भगवती सूत्र के पाठ का कुछ भी सम्बन्ध नही है, यह पाठक स्वय समझ लेंगे।

भाष्य चूर्णि मे से निम्नलिखित पाठ दिया है—

"अनिस्सकड विहिचेइअ, आययणं, आगमपरतंतयाए सुगुरूवएसेण सुसावगेहिं नायज्जिअवित्तेण सपरहिआए परमपयसाहणनिमित्त आगमविहिणा

जाती, माघमाला नही पहनी जाती, जिनमन्दिर मे खान-पान, पेशाव-टट्टी, थूंकना, स्नान, पग धोना, मालिश करना नही होता। न रहस्यजनक क्रीड़ा होती है, न होड़ बदी जाती है, न कुश्ती की जाती है, न जुगार खेला जाता है, न देव द्रव्य खाया जाता है। परस्पर एक दूसरे की ईर्षा नही की जाती, न श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराई जाती है। किसी प्रकार के आयुध के साथ श्रावक चैत्य मे प्रवेश नही कर सकता। अनुचित गीत, वादित्र, नृत्य, नाटक नही होते। शास्त्र-विरुद्ध धर्मदेशना नही होती, उन्मार्ग स्थित साधुओ को वन्दनादि नही किया जाता है, विधिचैत्य में दुष्ट वचन नही बोला जाता, दूसरा भी गड्डुरिया प्रवाहपतित आगम और आचरणा से विरुद्ध दोषवर्द्धक और गुणघातक कार्य जहाँ पर न किये जाते हो उसे गुण वृद्धि करने वाला तीर्थङ्कर गणधर-सम्मत स्वर्गापवर्ग जनक "आयतन" कहते हैं। ऊपर का सारांश खरतरगच्छ वाले ने निम्नलिखित पद्य से लिया है—

> "अत्रोत् सूत्र जनक्रमो न च न च स्नात्र रजन्या सदा,
> साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणा प्रवेशो निशि।
> जाति-ज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि-
> त्याज्ञात्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीजैनचैत्यालये ॥"

आयतन से विपरीत ज्ञान, दर्शन, चारित्र के गुणो का घात करने वाला जो स्थानक हो उसको "अनायतन" समझना चाहिए। मोक्षार्थी सुसाधु सुसाध्वी श्रावक श्राविका जनो के लिए अनायतन विशुद्ध भाव से वर्जनीय है, रागद्वेष के कारण से नही।

विधिचैत्य मे वर्तने के लिए जिनवल्लभ गणी और जिनदत्तसूरिजी ने जो जो नियम सघपट्टक, चर्चरी, धर्मोपदेश रसायन, कालस्वरुप कुलक आदि में लिखे हैं उन्ही का प्रस्तुत प्राकृत पाठ मे समावेश किया गया है। इस विषय मे जिन सज्जनो को शंका हो वे उक्त ग्रन्थो को पढ़कर के निर्णय कर सकते हैं कि मेरा कथन कहां तक ठीक है। इस प्रकार के कल्पित पाठों को अन्यान्य सूत्रों के नाम पर चढाकर जिनप्रतिमाधिकार के

चूर्णियो की जो प्राकृत भाषा होती है उसके साथ उक्त पाठ की प्राकृत का कोई मेल नही मिलता। इससे निश्चित है कि व्यवहार-भाष्य की चूर्णि का नाम लेकर लेखक ने इस प्राकृत पाठ के सम्बन्ध मे असत्य भाषण किया है।

उपर्युक्त पाठ मे एक एक शब्द खरतरगच्छ वालो का अपना पारिभाषिक शब्द है। "विधिचेइय" अर्थात् "विधिचैत्य" के सम्बन्ध में जिनवल्लभ गणि, जिनदत्त सूरि आदि ने जितना लिखा है उतना अन्य गच्छ के किसी भी विद्वान् ने नही लिखा। उस समय मे खरतरगच्छ के श्रावको की तरफ से जो जो जिनमन्दिर बनते थे उन सब को वे "विधि-चैत्य" कहते थे और विधि-चैत्यो मे वर्तन के लिए जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनपति सूरि आदि ने अनेक नियम बना डाले थे और उन नियमो के अनुसार ही खरतरगच्छ के अनुयायी चलते थे। खरतरगच्छ के आचार्यों की मान्यता थी कि जिनायतन आगम के अनुसार न्यायार्जित धन द्वारा श्रावकों को बनवाला चाहिए, स्वपरहितार्थ और मोक्षपद के साधननिमित्त जो आगम विधि से बनाया गया हो उसी को "आयतन" कहना चाहिए। आयतन मे इस प्रकार की विधिप्रवृत्ति होती है—

"उसमे उत्सूत्र-भाषक लोगो का चलाया हुआ क्रम चालू नही रहता। वहा रात्रि मे जिनबिम्बों का स्नान नही होता, रात्रि मे प्रतिष्ठा नही होती, जिनचैत्य साधुओ के सुपुर्द नही किये जाते। जिनचैत्यों की हद मे बने हुए मठ आदि मे साधु साध्वी का निवास नही होता, रात्रि के समय मे स्त्री लोगो का मन्दिर मे प्रवेश नही होता, जाति, कुल आदि का दुराग्रह नही होता, जिनघर के अन्दर श्रावक को ताम्बूल नही दिया जाता, न खाया जाता। वहा विकथा नही होती, झगड़ा नही होता, घरकार्य सम्बन्धी बाते नही होती, मन्दिर मे रात्रि जागरण नही होता। पुरुष भी मन्दिर मे डडियो से नही खेलते, जल-क्रीड़ा नही होती, शृङ्गार तमाशा आदि नही होते। देवो के लिए भी हिंडोले नही होते, ग्रहण की रश्म नही होती, सक्रान्ति नही मानी

ग्रन्थ में लिखा है। फिर भी प्राकृत भाषा के ऊपर से विद्वान् पाठक समझ ही जाता है कि यह पाठ वास्तव में सूत्र का नही, लेखक के अपने घर का है।

अब हम इस ग्रन्थ का एक नकली पाठ देकर इस अवलोकन को पूरा करेंगे। जिनप्रतिमाधिकार के १४१वे पत्र मे लेखक ने व्यवहार-छेद ग्रन्थ के नाम से एक पाठ दिया है जो नीचे उद्धृत किया जाता है—

"साहू वदित्ता पूछंति-कत्थ गतव्वं सिग्रा, तेणुत्त ग्रमुगदेसे—सति तत्थ चेइग्राणि जेहिंतो दसणसोहिम्र विज्जति, कह च तेहिंतो दंसणसोही पूग्र च दट्ठु जगबंधवाण ? सड्ढाण चेइएसु-जिणपडिमाणं न्हाण-विलेवणाइदाणं-च दट्ठूण सेहस्स धम्मो वित्थरेई, चेइग्राइ सखसयगप्पमुहेहिं समणोवासगेहिं भत्तीइ जाइ निम्मिग्राइ"—व्यवहारछेदग्रन्थे ॥

साधु आचार्य को वन्दना कर पूछते हैं—विहार कर कहा जाना होगा ? आचार्य ने कहा—अमुक देश की तरफ। वहाँ जिनचैत्य हैं, जिनचैत्यो से दर्शनशुद्धि होगी। उनसे दर्शनशुद्धि कैसे होगी ? आचार्य ने कहा—तीर्थङ्करो की पूजा देखकर श्रावको का जिनमन्दिरों मे जिनप्रतिमाओ का स्नान विलेपनादि करना देखकर नवदीक्षित शिष्य का धर्म विस्तृत होता है। चैत्य-शंख, शतक आदि श्रावको द्वारा भक्ति से जो बनाए गये है, उनके दर्शनादि से धर्मश्रद्धा वढती है।

लेखक साधुओ द्वारा विहार-क्षेत्र पूछता है और आचार्य उसका उत्तर देते है, कि अमुक देश मे विहार होगा। जहाँ जिनचैत्य वहुत है, दर्शनशुद्धि होगी। साधु पूछते हैं—महाराज, उन चैत्यो से दर्शनशुद्धि कैसे होगी ? आचार्य कहते हैं—जगत् के वन्धु जिनभगवन्त की पूजा देखकर श्रावको द्वारा जिनचैत्यो मे जिनप्रतिमाओ का स्नान विलेपादि होता देख कर नव-शैक्ष का धर्म वढता है। क्योकि वे चैत्य, शख, शतक प्रमुख श्रावको के भक्ति से वनाये हुए हैं।

जिनप्रतिमाधिकार के कर्त्ता ने इस पाठ की जो योजना की है, वह आधुनिक परिस्थिति को ध्यान मे रखकर की है, अन्यथा वहा मन्दिर हैं,

सकलनकर्ता ने जो गर्हित प्रवृत्ति की है, इससे उनको कोई लाभ हुआ होगा, यह तो हम नही कह सकते। परन्तु इस प्रकार गुम नाम से ग्रन्थकार वनकर अमुक गच्छ वालो की आँखो मे धूल झोकने का प्रपञ्च करके अन्य निर्दोप कृतियों मे भी इसी प्रकार का कोई प्रपञ्च तो नही है ? इस प्रकार पाठको को शकाशील वनाने का मार्ग चालू किया है जो जैन सघ मात्र के लिए घातक है। इस प्रकार पर्दे मे रहकर दूसरे गच्छीय वनकर अपने गच्छ की उन्नति देखने वाले केवल स्वप्नदर्शी हैं। ऐसे झूठे प्रपञ्चो से न कोई गच्छ उन्नत होगा, न जीवित ही रहेगा।

अन्त मे जिनप्रतिमाधिकार २ के लेखक ने अपना समय इरादापूर्वक गुप्त रखा है। इतना ही नही, वल्कि एक दो स्थानो पर तो उसने पाठको को भुलावे मे डालने का प्रयत्न भी किया है। वगैर प्रसग के ग्रन्थ के वीच मे अचलगच्छ की पट्टावली देकर आचार्य जयकेसरी तक पूरा करना, तथा एक स्थान पर सवत् १५८० का वर्ष लिखना इसका तात्पर्य यही है कि लेखक इस ग्रन्थ को विक्रम की सोलहवी शती की कृति मनवाना चाहते हैं, परन्तु उनकी यह मुराद पूरी नही होने पाई। कई स्थानो में प्रयुक्त अर्वाचीन भाषा के शव्दप्रयोग तथा शास्त्रज्ञान की कमी वताने वाली भूले उनको विक्रम की सोलहवीं शती के पूर्व का प्रमाणित नही होने देती। दृष्टान्त के रूप मे एक स्थान पर जिन-जन्म के अधिकार मे "द्रो" शव्द का प्रयोग लेखक का अर्वाचीनत्व वताता है। इसी तरह श्रमण की द्वादश प्रतिमाओ का शीर्षक लिखते समय "समणाणं समणीण वारस पडिमा पन्नत्ता" इस प्रकार सूत्रीय शीर्षक लिखा है। परन्तु लेखक को इतना भी मालूम हो नही सका कि जैन-भिक्षु की द्वादश प्रतिमा केवल जैन श्रमणो के लिए ही होती है, जैन श्रमणियो के लिए नही। फिर भी लेखक ने श्रमण और श्रमणियो की वारह प्रतिमाएँ वताई हैं। यह उसका अज्ञान तो है ही, साथ ही "वारस पडिमा पन्नत्ता" इन शव्दों से इस शीर्षक को किसी आगम का सूत्र मनाने की होशियारी की है, परन्तु श्रमण के साथ श्रमणी शव्द को जोडकर लेखक ने अपनी होशियारी को गुड गोवर वना दिया है। इसी प्रकार संख्या-वद्ध प्राकृत पाठो को सूत्रो के ढग से इस

प्रवृत्तियों से बाज आयेंगे, अन्यथा इस प्रकार की अनुचित प्रवृत्तियों का भण्डाफोड़ करना पड़ेगा। हमारी आन्तरिक इच्छा है कि इससे आगे एक कदम भी हमे न बढ़ाना पड़े।

आज तक हमारे पढ़े और जाँचे हुए ग्रन्थो मे से उपर्युक्त चौदह (१४) ग्रन्थो को "कृत्रिम कृतियो" के नाम से जाहिर किया है। इन सब के कृत्रिम होने के हमारे पास प्रमाण विद्यमान होते हुए भी हमने उनका उपयोग नही किया। क्योकि यह प्राथमिक अवलोकन लेख है। इसमे सभी प्रमाणो का उपन्यास करने से एक बडा प्रबन्ध बन जाने का भय है जो हमको इष्ट नही।

卐 卐

यह आचार्य के कहने की कोई आवश्यकता नही होती। शास्त्र मे साधुओ का विहार मन्दिर और मूर्तियो के दर्शन के लिए नही बताया, किन्तु अपना सयम निर्मल रखने के लिए साधु विहार करते है। भावी आचार्य के लिए देशदर्शनार्थ भी विहार करने की आज्ञा दी है, बाकी सर्वसाधारण के लिए तीर्थयात्रा के लिए अथवा मूर्तियों के दर्शनार्थ इधर-उधर भ्रमण करना साधुओ के लिए निषिद्ध है। इस परिस्थिति मे दर्शनशुद्धि और धर्म-विस्तार की बाते करने वाले साधु जैन सिद्धान्तों के अनभिज्ञ मालूम होते हैं। सत्रहवी शताब्दी के लेखक शंख, शतक प्रमुख श्रमणोपासको द्वारा भक्ति से बनाए हुए जिनचैत्यों की बात करके पढने वालों को उल्लू बनाना चाहते थे, परन्तु ऐसा करते हुए वे स्वय अज्ञानियो की कोटि मे पहुच रहे हैं, इस बात का उन्हे पता तक नही लगा।

उपसंहार :

प्रतिमाधिकार दो के सम्बन्ध मे हमने जो कुछ लिखा है, वह हमारे खुद के लिए भी सन्तोषजनक नही, खेदजनक है। परन्तु इसके सम्बन्ध मे लिखने की खास आवश्यकता ज्ञात हुई। क्योकि हमने ज्यो-ज्यो प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीनकालीन जैन साहित्य का अवलोकन किया त्यो-त्यो धीरे-धीरे ज्ञात हुआ कि मध्यकालीन और अर्वाचीन जैन साहित्य मे अनेक प्रकार की विकृतिया हो गई है। कई ग्रन्थ तो ऐसे बने है जो जैन आगमो के साथ मेल ही नही रखते। कई ग्रन्थो मे अर्वाचीनकालीन पद्धतियों को घुसेड़कर उन कृतियो को पौराणिक पद्धतिया बना दिया है। कई ग्रन्थ प्रकरणों मे अन्यान्य पाठो का प्रक्षेप निष्कासन करके उनको मूल विषय से दूर पहुचा दिया है, और यह पद्धति आज तक प्रचलित है। ऐसा हमारे जानने मे आया है, अपनी मान्यताओ को प्रामाणिक ठहराने के लिए प्रामाणिक पुरुषो के रचे हुए साहित्य मे इस प्रकार विकृतिया उत्पन्न करना समझदारी नही है। फिर भी इस प्रकार के कार्य सैकड़ो वर्षों से होते आ रहे हैं। इस परिस्थिति को जानकर यह लेख लिखना पड़ा है। आशा है, गच्छ मतो के हिमायती महानुभाव अब से इस प्रकार की

को स्थान दिया है[1]। दर्शन शब्द से दार्शनिक तत्त्व-सम्बन्धी मन्तव्य का जो सर्व दर्शनो मे "दर्शन" शब्द से प्रतिभान होता है, वह "श्रद्धा" शब्द से नही। इसी प्रकार ज्ञान के स्थान पर "संवित्" शब्द का विन्यास कर लेखक ने "ज्ञान" शब्द के सार्वभौम अर्थ पर पर्दा सा डाल दिया है। ज्ञान शब्द आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मन पर्यव तथा केवल इन पाचों ज्ञानो का प्रतिपादक है। तब "सवित्" शब्द ज्ञान का पर्याय होते हुए भी सभी ज्ञान का प्रतिभास नहीं करा सकता[2]; प्रथम तृतीय चतुर्थ और पचम ज्ञान का "सवित्" शब्द से उल्लेख करना निरर्थक है। "सविन्" शब्द से शास्त्र श्रवण मनन से जो प्रतिभास होता है, उसी को सूचित किया जा सकता है, सभो ज्ञानो को नही। "चारित्र" शब्द का स्थान "चरण" को देना भी अयोग्य है। चारित्र एक आत्मा का मौलिक गुण है, तब

---

(१) श्रद्धा शब्द की निष्पत्ति "श्रत्" अव्यय और "धा" धातु से होती है। देखिए सिद्धहेमशब्दानुशासन का निम्नोद्धृत सूत्र "अर्थाद्यनुकरणाच्विडाश्चगतिः ३, १, २" इसकी बृहद् वृत्ति मे "श्रत्-श्रद्धाने शीघ्रे च। श्रतश्च दधाति करोतिभ्या।" इस वार्तिक से श्रत् को शीघ्रार्थक-अव्यय मानकर धारणार्थक "धा"-धातु-के संयोग से "श्रद्धा" शब्द बनाया है, जिसका अर्थ है अभिलाषा।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार "श्रद्धा" शब्द निपात मे परिगणित है, और "श्रच्छब्दस्योपसख्यानम्" इस वार्तिक से श्रत् को उपसर्ग मान आगे "दधाति" क्रिया के योग से भी श्रद्धा शब्द की सिद्धि की है और श्रद्धा का अर्थ अभिलाष सूचित किया है।

इस प्रकार के श्रद्धा शब्द के पूर्व मे सम्यक् शब्द जोडकर सम्यग्दर्शन का भाव निकालना कल्पना मात्र है।

(२) सवित् शब्द से ज्ञान मात्र का आभास नही कराया जा सकता क्योकि सवित् शब्द की मूल प्रकृति ऐकार्थक नही है, जैसे–विद् ज्ञाने-वेदवित्, विद्-सत्तायाम्-प्रवित्, विद्-विचारणे-ब्रह्मवित्। इस प्रकार ज्ञान के अर्थ मे रूढ ज्ञान शब्द को हटाकर उसके स्थान पर अनेकार्थ संवित् शब्द को जोडना गद्दा ही नही भ्रान्तिकारक भी है।

: १८ :

तत्त्वन्याय-विभाकर

कर्ता—श्री विजयलब्धि सूरि

उपर्युक्त नाम का ग्रन्थ वीसवी शताब्दी के आचार्य श्री लब्धि सूरिजी ने खम्भात मे रचा है। इसका रचनाकाल १९९४ और मुद्रणकाल १९९५ है। ग्रन्थ को तीन विभागो मे वाटा है—प्रथम विभाग में नवतत्त्वों का संस्कृत वाक्यो मे निरूपण करके सम्यक्-दर्शन का वर्णन किया है। दूसरे विभाग मे पाच ज्ञानो का वर्णन करके प्रमाणो का निरूपण किया है। तीसरे विभाग मे चारित्र-धर्म का निरूपण करने के साथ चारित्र-सम्वन्धी क्रिया-प्रवृत्तियो का प्रतिपादन किया है।

ग्रन्थ के सस्कृत वाक्य अधिकाश मे भगवान् उमास्वाति के तत्त्वार्थ-सूत्र के सूत्रो मे शाब्दिक परिवर्तन करके तय्यार किये गए हैं। उदाहरण स्वरूप "सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र को परिवर्तित करके "सम्यक् श्रद्धा-संविच्चरणानि मुक्त्युपायाः" यह वाक्य रचा है। मेरी समझ में सैद्धान्तिक वातो को इस प्रकार वदलने मे कैसी भूलें होती हैं, इस वात पर लेखक ने तनिक भी विचार नही किया। भगवान् वाचकजी के प्रथम सूत्र का अन्तिम शव्द "मोक्षमार्गः" यह एक वचनान्त है, तव विभाकर के कर्ता ने इसके स्थान पर "मुक्त्युपाया." इस प्रकार मोक्ष के स्थान पर मुक्ति तथा मार्ग के स्थान पर वहुवचनान्त "उपायाः" शव्द लिखा है। वास्तव मे यह परिवर्तन वहुत ही भद्दा और अनर्थकारक हुआ है। दर्शन शव्द के स्थान पर श्रद्धा शव्द लिखकर लेखक ने एक सर्वव्यापक अर्थवाची शव्द को हटाकर एकदेशीय अभिलाषा वाचक "श्रद्धा" शव्द

ऊपर हमने केवल "तत्त्वन्यायविभाकर" के प्रथम सूत्र पर थोडी टीका टिप्पणी की है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के अन्यान्य अनेक सूत्र-वाक्य दोषपूर्ण हैं और उन पर जितना भी टीका-टिप्पण किया जाय थोड़ा है। परन्तु ऐसा करने में अब कोई लाभ प्रतीत नही होता, क्योकि इसके लेखक आचार्य महोदय परलोक सिधार गए हैं और इनके शिष्यगण की तरफ से संशोधन होने की आशा करना निरर्थक है, इसलिए अन्य सूत्रों के ऊपर टीका-टिप्पणी करना छोड़ दिया है।

दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि श्री लब्धिसूरिजी महाराज ने इस सस्कृत ग्रन्थ के निर्माण मे जितना समय लगाया उतना स्त्रियो तथा बालक बालिकाओं के पढने योग्य स्तवनो-भजनो के बनाने मे लगाते तो अवश्य लाभ के भागी होते।

卐 卐

"चरण" शब्द यद्यपि कहीं कहीं इसके पर्याय के रूप मे प्रयुक्त होता है, फिर भी "चरण" शब्द चारित्र का पर्याय न होकर चारित्र सम्बन्धी क्रियाओ-आचरणो के अर्थ मे प्रयुक्त होता है[1]। "मोक्ष" शब्द कर्मयुक्त होने के अर्थ मे प्रसिद्ध है, "मुक्ति" शब्द भी "मोक्ष" शब्द का पर्याय अवश्य है परन्तु मोक्ष के जैसा पारिभाषिक नही। "मार्ग" शब्द के स्थान पर "उपाय" शब्द का लिखना भी बिलकुल अयोग्य है। भले ही श्रद्धा सवित् और चरण मोक्ष के उपाय हों, परन्तु ये मोक्ष का मार्ग नही बन सकते। "मृग्यते मोक्षो अनेन इति मार्ग." अर्थात् दर्शन-ज्ञान चारित्र द्वारा मोक्ष का अन्वेषण किया जाता है और उसे प्राप्त भी किया जाता है। मनुष्य के पास कार्य के साधक उपाय होने पर भी जब तक वह उपेय पदार्थ की प्राप्ति के लिए मार्गणा नही करता, उपेय प्राप्त नही होता। इसीलिए तत्त्वार्थकार भगवान् उमास्वाति वाचक ने मोक्ष शब्द के आगे मार्ग शब्द रखना पसन्द किया है। इन सब बातो के उपरान्त एक विशेष खटकने वाली बात तो इस वाक्य मे यह है कि "उपाय" शब्द का प्रयोग बहुवचन मे किया है। जैन शैली को न जानने वाला मनुष्य तो यही कहेगा कि "श्रद्धा", "सवित्" और "चरण" ये प्रत्येक मुक्ति देने वाले उपाय है। परन्तु ऐसा अर्थ करना जैन सिद्धान्त से विरुद्ध माना जायगा, क्योकि जैन-सिद्धान्त "सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान" और "सम्यक्-चारित्र" इन तीनो की सम्मिलित प्राप्ति से ही आत्मा का मोक्ष मानता है, प्रत्येक भिन्न-भिन्न से नही। इसी कारण तो तत्त्वार्थसूत्रकार ने "मार्ग' शब्द मे प्रथमा विभक्ति के एक वचन का उपयोग किया है। इस प्रकार "तत्त्वन्यायविभाकर" के पहले वाक्य मे ही "प्रथमकवले मक्षिका-पात." जैसा हुआ है। इस प्रथम पक्ति की खामियो को पढ़ने से ही सारा ग्रन्थ दृष्टिगोचर करने की मेरी इच्छा हुई और सारी पुस्तक पढी, जिससे ग्रन्थ की योग्यता अयोग्यता का अनुभव हुआ।

---

(१) चरण शब्द भी संवित् की ही तरह अनेकार्थक है। इसका प्रयोग कही कही चारित्र की क्रिया के अर्थ मे होता है, तो कही कही "काठक" "कलापका" दि धर्माम्नायो के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है। इस परिस्थिति में चारित्र जैसे सर्वसम्मत शब्द को हटाकर उसका स्थान "चरण" शब्द को देना एक प्रकार की भ्रान्ति फैलाना है।

सूत्रों के नये नाम :

सपादक ने प्रत्येक सूत्र या सूत्रखण्ड को अपने कल्पित नाम से अलकृत किया है। प्राकृत को प्राकृत और सस्कृत को संस्कृत नाम लगाकर अन्त में सूत्र का प्रचलित नाम दिया है। इसका कारण "एक-वाक्यता" कायम रखना बताते है, पर हमारी मान्यतानुसार यह कथन निराधार है। प्रतिक्रमण सूत्र, सूत्रखण्ड अथवा तदुपयोगी जो सकेत नियत हैं उनके विषय मे टीकाकार, सपादक या सशोधक को निराधार नये नाम लगाने का साहस करने की कुछ भी आवश्यकता न थी। यदि सूत्रगत वस्तुव्यंजक शब्द लिखने की इच्छा थी तो टिप्पणी मे या टीका में वैसा कोई शब्द लिखकर पूरी कर सकते थे, पर प्रत्येक सूत्र तथा सूत्र-खण्ड के गले मे प्राकृत या सस्कृत नाम की नई घटियाँ लगाने का सपादक को कोई अधिकार न था, "सात लाख, अठार पापस्थानक" जैसे लोक-भाषामय आलोचना पाठो के प्राकृत तथा सस्कृत भाषा के नये नाम कितने विचित्र लगते हैं? इसमें किस प्रकार की एकवाक्यता है यह हम समझ नही सकते।

'तस्स उत्तरीकरणेण', 'अन्नत्थ ऊससिएण' जैसे सूत्रखण्ड, जो वास्तव मे 'इरियावहिया' के अश है उनके नये नाम लगाकर एक प्रकार की उनमे विकृति ही उत्पन्न की है और कितने ही नये नाम तो मूल वस्तुओ को ढाकने वाले जैन शैली के वाधक बने ऐसे है।

अन्तःशीर्षक तथा अन्तर्वचन :

कितने ही स्थानो मे सम्पादक ने "अन्त शीर्षक" तथा विधिगत "प्रतिवचन' सूत्रो मे दाखिल किये है यह भी अविचारित कार्य किया है। ऐसे प्रक्षेप कालान्तर मे लेखको के अज्ञान से सूत्रो के अग बनकर मूल वस्तु को विकृत कर देते है कि जिसका सशोधन भी अशक्य बन जाता है।

'वन्दनक सूत्र' तथा 'अब्भुट्ठिओ' आदि मे दाखिल किये हुए "गुरुपतिवचन" "स्थाननिवेदन" आदि वाते अनजान स्वय सीखने वालों

: १६ :

प्रतिक्रमण सूत्रों की अशुद्धियाँ

लें० पं० कल्याणविजयगणी

❖

१. "प्रतिक्रमण" शब्द से यहां "श्रावक-प्रतिक्रमण सूत्र" विवक्षित है। इस सूत्र का अनेक सस्थाओ, पुस्तकप्रकाशकों तथा व्यक्तियो ने प्रकाशन किया है। अकेले भीमसी माणक ने ही इसकी १० से अधिक आवृत्तिया निकाली हैं, फिर भी इसकी मांग आज भी कम नही है। इस पर से इतना तो निश्चित है कि प्रतिक्रमण सूत्र के एक अच्छे संस्करण की आवश्यकता थी और है। 'प्रवोध टीका' के साथ प्रकाशित "प्रतिक्रमण-सूत्र" प्रथम के सस्करणो से अच्छा कहा जा सकता है, फिर भी सर्वांशो मे उपयोगी नही कह सकते।

गुजराती टीकाकार श्री धीरजलाल ने इसमे अपने विशाल वाचन और सर्वतोमुखी प्रतिभा का यथेच्छ उपयोग किया है। जिसके प्ररिणामस्वरूप ग्रन्थ का यह सस्करण सर्वभोग्य न होने पर भी अध्यापको और विचारकों के काम का वन गया है। परिणाम यह आयगा कि इसकी अधिक आवृत्तिया निकालने का सभव कम रहेगा।

हमने इस टीका का मात्र "पिठरी-पुलाक-न्यायेन" अवलोकन किया है। इससे इसकी खूवियो और खामियों के विषय में लिखना साहस गिना जायगा तथापि ग्रन्थ के मूल का हमने सम्पूर्ण अवलोकन किया है, इसलिए इसकी सपादनशैली और सशोधन के विषय मे कुछ लिखना प्रासंगिक गिनते हैं।

कारण से भी "अजित शान्तिस्तव" के छन्दो की छेड़छाड की हो पर उसमे अपनी बुद्धि का ही प्रदर्शन किया है। "छन्दशास्त्र' यह कोई कतिपय वृत्तवाहिनी लघुतरगिणी नही पर लाखो वृत्तो का "महार्णव" है। इसका विचार किये बिना अजित शान्तिस्तव के हजारो वर्षों के पुराने छन्दो की जात का थाह लेने की चेष्टा भी सशोधक को विचारणीय हो पड़ी है। ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए संशोधक ने अजित शान्तिस्तव के छन्दो की चर्चा कैसे की यह समझ मे नही आता।

छन्दो का जाल बहुत जटिल है। अजित शान्तिस्तव के छन्दो का संशोधन करने वाला सशोधक स्वय ही भूल-भूलामणी मे फसकर "उपजाति" को "इन्द्रवज्रा" तथा "औपछन्दसिक" को "वैतालीय" लिखने की भूल कर बैठे है कि जिसकी इनको खुद को खबर नही पडती, तब अजितशान्ति के छन्दो की इनकी समालोचना भूल भरी न हो, ऐसा कौन कह सकता है।

टीकाकारो का कर्त्तव्य सूत्र के पाठो की शुद्धि करने का था, इसलिये आवश्यकनिर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओ की पुरानी प्रतिया इकट्ठी कर प्रत्येक सूत्र तथा सूत्रखण्ड को प्राकृत, सस्कृत पाठो के साथ अर्थ की दृष्टि से मिलान करने का था। जहा अर्थ-वैषम्य मालूम होता वहा मूल प्रति मे तपास कर अशुद्धिया पकड़नी थी। इस कार्य के लिये केवल आवश्यक पचागी की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो की ही जरूरत थी, न कि ११२ जितने आधार-ग्रन्थो की अथवा ३१ जितनी हाथ-पोथियो की बाँध-छोड़ करने की। छन्दो की समालोचना करने की और तान्त्रिक तत्त्व का प्रदर्शन करने का कुछ प्रयोजन ही न था। अष्टाग विवरण के स्थान में "१ शुद्धमूल पाठ, २ संस्कृत छाया, ३. गुजराती भाषा मे शब्दार्थ, ४ अन्वयार्थ तथा ५ तात्पर्यार्थ" इतनी बातो को लक्ष्य मे रखकर विवरण करने की जरूरत थी। अर्थ-निश्चय तात्पर्यार्थ मे आ जाता है, तब आधार, इतिहास का सार और छन्द का नाम लक्षण टिप्पण मे भी दिया जा सकता था। लेखक ने यदि उपर्युक्त मार्ग ग्रहण किया होता तो कम परिश्रम मे और कम खर्च मे इससे भी विशेष अच्छा सस्करण तैयार हुआ

को हानिकर और पोथी-लेखको द्वारा सूत्र के अंग बनकर मूल वस्तु को बिगाड़ने वाली होगी। यह प्रतिवचन स्थानादिनिवेदन आदि विधि मे शोभने वाली वस्तु है, जिसको मूल मे प्रवेश करवा के सम्पादक ने अक्षम्य भूल की है।

"लघु शान्ति" स्तव मे "विजयादि जगन्मङ्गल कवच, अक्षरस्तुति, आम्नाय, फलश्रुति, अंतमंगल" आदि शीर्पको के काटे बोकर शान्तिपाठियो का मार्ग दुर्गम वना दिया है। ऐसे सूचन अस्थानीय तथा अप्रासंगिक हैं।

संशोधन :

हम पहिले ही कह चुके हैं कि सशोवन की दृष्टि से यह सस्करण अच्छा है, कितनी ही प्रवाहपतित भूलो का इसमे परिमार्जन हुआ है; फिर भी पूर्व से चलती आई थोकबन्ध अशुद्धियाँ इसमे भी रह गई हैं। भीमसी माणक के सस्करण की कितनी ही भूले महेसाना के सस्करण में सुधरी हैं। वैसे भीमसी माणक की कतिपय भूले महेसाना वालो ने अपनायी हैं तथा महेसाना का अनुमरण इस सस्करण के सशोधको ने भी किया है। खास कर भाषा की कृतियाँ "पाक्षिकादि अतिचार" "सकल तीर्थ वन्दना" आदि मे भीमसी माणक ने भाषाविषयक परिवर्तन कर मूल कृति में विकृति की थी। उसी रूप मे महेसाना तथा अष्टाग-विवरणकार ने अपने संस्करणों मे उसकी पुनरावृत्ति की है। खास तौर से ऐसी विकृतियो को प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर सुधारकर भूलो के रूप मे उन्हें प्रकाशित करना चाहिये था। "अजितशान्तिस्तव" मे जैसे प्राचीन टीका के आधार पर शाब्दिक परिवर्तन किया है उसी प्रकार उक्त कृतियों को इसके शुद्ध रूप मे उपस्थित किया होता तो योग्य माना जाता।

अजित शान्तिस्तव मे किये गये परिवर्तन :

"अजित शान्तिस्तव" मे कितनी ही ह्रस्व, दीर्घ की भूले सुधारी हैं यह तो ठीक, पर छन्दो के आधार से इसमे कितनी ही जगह गाथाओ का जो अग-भग किया है वह अक्षन्तव्य है। सशोधक ने चाहे

— शुद्धि पत्रक —

प्रतिक्रमण प्रबोध टीका वाले का

इरियावही में :

	अशुद्ध—	शुद्ध—
नं० (१)	ईरियावही	इरियावही
(२)	ईरियावहियं	इरियावहियं
(३)	ईरियावहिया	इरियावहिया

संसार-दावानल स्तुति में :

	अशुद्ध	शुद्ध
(४)	इंद्रवज्रा	उपजाति

भवनदेवता स्तुति में :

	अशुद्ध	शुद्ध
(५)	भुवनदेवता	भवनदेवता
(६)	भुवणदेवया	भवणदेवया
(७)	भुवन-देवी	भवन-देवी

अड्ढाइज्जेसु में :

	अशुद्ध	शुद्ध
(८)	पनरससु	पन्नरससु
(९)	पडिग्गह धारा	पडिग्गहधरा
(१०)	महव्वय धारा	महव्वयधरा
(११)	सीलंग धारा	सीलगधरा
(१२)	अक्खयायार	अक्खुयायार

भरहेसर-बाहुबलि-सज्झाय मे :

	अशुद्ध	शुद्ध
(१३)	विलयजति	विलिज्जंति
(१४)	मयणरेहा	मयणरेह
(१५)	मन्ह जिणाण	मन्नह जिणाण
(१६)	भासासमिई	भासासमिईउ
(१७)	छज्जीवकरुणाय	जीवकरुणाय

होता और कम मूल्य मे इसका सर्वत्र प्रचार हो जाता, पर जो काम हो चुका है उसके विषय में अब ज्यादा लिखना आवश्यक नहीं है।

अब हम अपने 'प्रतिक्रमण सूत्र' मे तथा प्रतिक्रमण मे बोली जाने वाली स्तुतियो स्तवनो आदि मे घुसी हुई तथा आज पर्यन्त चली आती अशुद्धियो की सूची देकर इस चर्चा को समेट लेंगे।

लगभग तीन वर्ष पहिले हमने महेसाना के संस्करण को आधार मानकर आवश्यक सम्बन्धी सूत्रों का एक "शुद्धिपत्रक" तैयार किया था और उसको छपवाकर प्रकट करने का भी विचार किया था, पर इसके बाद थोडे ही समय मे "प्रबोध टीका" के प्रथम भाग के प्रकाशन की खुशी में बम्बई में जैनो की सभा हुई और इस कार्य मे लगे हुए कार्यकरों को अभिनन्दन दिये गये। हमे लगा कि इस घटना से "प्रतिक्रमण सूत्र" का शुद्ध सस्करण प्रकाशित होने मे अब विलम्ब न होगा। अब हमें शुद्धिपत्रक प्रकट करने की आवश्यकता ही न रहेगी। हमने प्रबोध टीका वाले सस्करण का प्रथम भाग मगवाकर दृष्टिगोचर किया तब कितनी ही भूले उसमें सुधरी हुई मालूम हुई तब कुछ नई भूले भी दृष्टिगत हुई। हमने सम्पूर्ण ग्रन्थ छप जाने के बाद ही इसके सम्बन्ध मे कुछ लिखने का निर्णय किया। गत चातुर्मास्य मे अन्तिम भाग प्रकाशित होते ही उसे मंगाकर ग्रन्थ का मूल पढा और दृष्टि में आयी हुई भूलो की यादी की।

यहाँ हम "प्रबोध टीका" के सस्करण की "अशुद्धियो" का "शुद्धि-पत्रक" देते हैं जिसमे कितनी प्रचलित भूलें रही तथा कितनी नई भूलें घुसी यह जान सकेंगे।

卐 卐

अशुद्ध—	शुद्ध—
(३७) शाम्यन्तु २	शाम्यन्तु
(३८) राजाधिप	राज्याधिप
(३९) गौष्ठिकपुर	गोष्ठीपुर
(४०) राजाधिपानां	राज्याधिपानां
(४१) राज-संन्निवेशा०	राज्यसंनिवेशा०
(४२) श्री राजाधिपाना	श्रीराज्याधिपानां
(४३) श्री राज-सनिवे०	श्रीराज्यसनिवेशा०
(४४) श्री पौरमुख्याणा०	श्रीपुरमुख्याणां०
(४५) तित्थयरमाया	गोवालयमाया

संतिकरस्तव मे :

(४६) मणुओ सुरकुमारो	मणुअेसरकुमारो
(४७) वइरुट्ट छुत्त	वइरुट्टदत्त

पच्चखाणो मे

(४८) साड्ढपोरिसी	साढ पेरिसी
(४९) साड्ढपोरिसिं ४	सड्ढपोरिसिं ४
(५०) पच्छन्न०	पछन्न०
(५१) विगईओ	विगईउ
(५२) वहुलेवेण २	वहलेण २
(५३) अब्भत्तट्ठ २	अभत्तट्ठं २
(५४) पाणहार २	पाणाहार २

पौषध-प्रत्याख्यान में :

(५५) चऊव्विह	चउव्विहे
(५६) भन्ते	भते
(५७) चदवडिसो	चदवडसो

संथारा-पोरिसी मे ·

(५८) कुकूकुडि	कुक्कुड

अशुद्ध—	शुद्ध—
	सकलार्हत् में :
(१८) भगवान् चतुर्थार-	भगवांश्चतुर्थार-
(१९) प्रदीपानलो	प्रदीपानिलो
(२०) कूटादयः, तत्र	कूटादय-स्तत्र
	अतिचारों में :
(२१) जे कोई	अनेरो जे कोई
(२२) अणपवेसे	अणपवेये
(२३) मातरु २	मातरियुं २
(२४) पील्या	पाली
(२५) सविहु-सर्वपण (टि)	सविहु-सर्वनुं (टि०)
(२६) अणपवेसे	अणपवेये
(२७) प्रवेश कर्या विना (टि०)	प्रवेदन कर्या विना (टि०)
(२८) माज्यो	भाज्यो
(२९) अनेरो बीजो	अनेरो अन्यतर
(३०) भक्षित-उपेक्षित-भक्षण करता उपेक्षा कीधी	भक्षित-उपेक्षित भक्षण कर्यु उपेक्षा कीधी
	अतिचारों में :
(३१) अहवा दशमी	अहिवा दशमी
(३२) अथवा दशमी	अविधवा दशमी
	अजित शांति स्तव में :
(३३) वुचिंअ	वचिअं
(३४) जसुर	जं सुर
	बृहच्छान्ति में :
(३५) लोकोद्योत	लोकोद्द्योत
(३६) भूमण्डले आयतन	भूमण्डलायतने

लेखक: कल्याणविजय

शुद्धिविवरण और शुद्धिविचारणा

❖

ई० सन् १९५५ के अक्टूबर की ता० १५ के "जैन सत्यप्रकाश" मासिक मे "आपणा आवश्यक सूत्रमा चालती अशुद्धिओ" इस शीर्षक के नीचे हमारा लेख छपकर प्रसिद्ध हुआ था। इस लेख के सम्वन्ध मे कतिपय विद्वान् साधुओं तथा गृहस्थो ने आनन्द प्रदर्शित किया था, पर इसके विरोध मे किसी ने एक शब्द भी नही लिखा।

नवम्बर महीने में (ता० याद नही) एक समय रात को आठ वजने के वाद जैन विद्याशाला मे हमारे रूम में दो आदमी आये। पूछने पर उन्होंने कहा—एक तो पंडित लालचन्द भगवान् गाधी और दूसरा हमारे समधी प० भगवानदास हरखचन्द के छोटे पुत्र। कुछ प्रासंगिक बातो के वाद श्री गाधी ने "प्रतिक्रमण-प्रबोध टीका" की अशुद्धियो का प्रसग छेडा और वताई हुई अशुद्धियो को प्रमाणित करने वाले प्रमाण पूछे। हमने उनको प्रमाण वताए और कहा—कि प्रत्येक अशुद्धि को साबित करने वाले प्रमाण हैं और हम मुद्रित लेख के विवरण के रूप मे अवकाश मिलते ही अन्य लेख द्वारा प्रकट करेंगे।

पंडित श्री गाधी का आकुलता से मालूम होता था कि इनको हमारे उक्त लेख से पारावार दु ख हुआ है। वे बात करते करते जोरो से चिल्ला उठते थे। हमने उनको कह दिया था कि हमने अकस्मात् तुम्हारी भूलें नही निकाली, किन्तु प्रथम सस्था को अशुद्धियो के सम्बन्ध मे सूचना भी की थी, परन्तु अशुद्धिया मगवाने के बजाय हमको पुस्तको का सट भेजकर सम्पादक ने हमारा मुँह वन्द करने का खेल खेला था। उसी के परिणाम-

अशुद्ध—	शुद्ध—
(५९) अतरंत	अतरतु
(६०) वोसिरसु	वोसिरिसु
(६१) मणुसासइ	मणुसासए
(६२) मुज्झह् वईर न भाव	मज्झह्, न वइर भाव

सकल-तीर्थ में :

(६३) अट्ठलक्ख	अडलख
(६४) अंतरिक्ख	अतरीख

इस अशुद्धि-शुद्धि पत्र मे उन्ही अशुद्धियो को लिया है जिन्हे सम्पादको ने अपने शुद्धाशुद्ध पत्रक मे नही लिया। उपरान्त इसके अतिरिक्त भी इन सूत्रो में अशुद्धियाँ होगी जो हमारी नजर मे नही आई, अथवा तो हमारे लक्ष्य मे नही आयी।

इन सूत्रो मे प्राचीन पुस्तकों और ग्रन्थान्तरो मे पाठान्तर भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन पर ऊहापोह करके ग्राह्य हो उन्हे मूल मे दाखिल कर देना चाहिए। उदाहरण के रूप में—'आयरिअ उवज्झाओ' मे। 'कुल गणे य' 'कुल गणे वा'।

इत्यादि प्रकार के आवश्यक सूत्रो में अनेक पाठान्तर दृष्टिगोचर होते हैं जो समन्वयापेक्षी हैं। इन सब वातो पर गभीरता पूर्वक विचार कर गीतार्थों को अपने आवश्यक सूत्रों को परिमार्जित कर शुद्ध और सर्वोपभोग्य सस्करण प्रकाशित करना चाहिए।

卐 卐

तद्गत अशुद्धियो का शुद्धिपत्रक दिया है। परन्तु श्री लालचन्द गाधी को शुद्धिविचारणा की इतनी उत्कण्ठा लगी हुई थी कि जो भी अशुद्धियों के प्रतिकार के रूप में हाथ लगा उसी को लिखने लगे। शुरु मे ही सव सूत्रों को छोड़कर सर्वप्रथम "वृहच्छान्ति की शुद्धि-विचारणा" लिखी, यह हमारे उक्त कथन की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भले ही श्री गाधी ने चाहे जिस क्रम से लिखा परन्तु हम सूत्र क्रम से ही "शुद्धिविचारणा की समालोचना" करेंगे।

भूल नं० १–२–३ ये इरियावहि मे आती 'इ' कार की दीर्घता सम्बन्धी है। प्रत्येक गच्छ के प्रतिक्रमण सूत्र मे तथा "वन्दारुवृत्ति", "आचारविधि" आदि तपागच्छ के आचार ग्रन्थो मे इरियावहि का प्रथमाक्षर (इ) ऐसा ह्रस्व माना हुआ है, फिर भी प्रबोध टीका के संशोधकों ने दीर्घ (ई) का प्रयोग किया है जो हमारे मत से "अशुद्धि" अर्थात् भूल है। बात बात में मुद्रित ग्रन्थों तथा लिखित पोथियो का नाम निर्देश कर श्री गांधी भूलो का बचाव करते हैं। तब इस जगह मे सैकड़ो वर्षों की परम्परागत ह्रस्व इ कार के स्थान मे दीर्घ "ई" कार का प्रयोग किस आशय से संशोधको ने किया यह अज्ञेय बात है। भले ही व्याकरण से वैकल्पिक दीर्घ रूप होता हो, फिर भी इस चिर-प्रचलित तथा पूर्वाचार्यों ने मान्य किये हुए ह्रस्व 'इ' कार को उखाड़ कर दीर्घ 'ई' कार का प्रयोग करना अघटित है। सम्पादको को अपनी विद्वत्ता बताने के अनेक स्थल थे। सर्वसम्मत प्रयोग को वदल कर पाडित्य वताने की यहा जरूरत न थी।

न० ४ की अशुद्धि का श्री गाधी ने स्वीकार कर लिया है, इससे विशेष लिखने की आवश्यकता नही।

न० ५–६–७ इन नम्बरो की तीनो भूलो को श्री गाधी ने "आचारदिनकर आदि मे ऐसा है" यह कहकर बचाव किया है। पर जिन ग्रन्थों के गांधी नाम देते हैं उन ग्रन्थो के निर्माताओ को ये प्रयोग मान्य थे ऐसा वे सिद्ध कर नही सकते, तब ये भूले लिपिकारो की कैसे न हों। कारण

स्वरूप हमको अशुद्धि सम्बन्धी लेख प्रकाशित करने की फरज पड़ी थी। परन्तु श्री गाधी तो हमारी बात सुनने के पहले अपने रोष का संभार बाहर निकालने मे ही अधिक समय पूरा करते थे और सेवाभाव से काम करने वाले साहित्यसेवियों का अपमान मानकर उपालंभ दिये जाते थे। हमको ऐसे साहित्य-सेवको के लिए अधिक मान न था। मजदूरी ठहरा के कार्य करने वाले मनुष्य पाश्चात्य सभ्यता की दृष्टि से भले ही सेवक गिने जाये परन्तु भारतीय सस्कृति में ऐसे साहित्य-सेवकों की मान-मर्यादा सीमित होती है। ममाज या समाज के व्यक्ति-विशेष के पास से कस कर पारिश्रमिक लेने वाले साहित्य-सेवियो की भूल को भूल कहने का समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार स्वय सिद्ध है। उक्त प्रकार के साहित्यसेवी श्री गांधी के उपालभों की हमारे मन पर कुछ भी छाप नही पड़ी। परन्तु इतना अवश्य मालूम पड़ा कि श्री गाधी हमारे उक्त लेख के विषय में अविलंब कुछ न कुछ जरूर लिखेंगे यह निश्चित है। लगभग घण्टा भर सिरपच्ची करके अन्त मे श्री गाधी "मिच्छा मि दुक्कड" देकर रवाना हुए।

"शुद्धिविवरण" यथाशक्य जल्दी छपवाने का विचार होने पर भी चातुर्मास्य उतरता होने से अन्यान्य कार्यों के दबाव से विवरण नही लिख सके और सन् १९५६ की जनवरी से श्री लालचन्द भाई की "शुद्धि-विचारणा" सत्यप्रकाश मे प्रकाशित होने लगी। इससे हमने हमारा कार्य ढीला छोड़ "शुद्धिविचारणा" पूरी होने पर "विवरण" तथा "विचारणा" का उत्तर साथ मे ही देने का निर्णय किया। विचारणा के ३ हफ्ते छपने के बाद हमने अहमदाबाद छोडा। जाते समय प्रकाश के व्यवस्थापक को सूचना भी की कि "शुद्धिविचारणा" के अन्तिम भाग वाला अङ्क प्रकाशित होते ही मंगवाने पर हमे भेजा जाय, परन्तु हमारी इस सूचना का पालन नही हुआ। ऑफिस पर दो तीन पत्र लिखने पर भी कोई अङ्क नही आया, इससे विलंब में विलंब हुआ। अन्त मे एक परिचित मुनिवर्य को लिखने से थोडे समय में अङ्क मिला, इससे "शुद्धिविवरण" तथा "शुद्धि-विचारणा" विषयक यह दूसरा लेख लिखना योग्य जान पड़ा। प्रतिक्रमण के मुद्रित पुस्तक मे जिस क्रम से सूत्र छपे हैं उसी क्रम से हमने

एक प्राचीन पन्ने में "विलिज्जति" ऐसा क्रियापद स्पष्ट लिखा हुआ है। यदि "लक्षणसिद्ध" प्रयोग मिल जाता हो तो अलाक्षणिक प्रयोग को पकडे रखना यह दुराग्रह मात्र कहा जायगा। प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण पुस्तक मे स्वाध्याय के 'मयणरहा' शब्द को हम अशुद्ध मानते हैं। इसका कारण यह है कि इस प्रयोग को मान्य रखने से गाथा मे मात्रा बढ़ती है और छन्दोभंग होता है, इसलिए 'मयणरेह' यह ही प्रयोग रहना चाहिए। आज पहिले के हर पुस्तक में यह प्रयोग ही दृष्टिगोचर होता है। प्राकृत मे छन्दोभग टालने के लिए मात्रा आगे पीछे की जा सकती है।

न० १५–१६ ये भूले 'मन्नह जिणाण' स्वाध्याय की है। ऐसे तो अन्य मुद्रित पुस्तको मे ये अधिक हैं, परन्तु प्रबोध-टीका मे कितनी ही सुधर गई है। हमारे पास के हस्तलिखित अति जीर्ण पत्र मे "भासासमिईउ जीवकरुणा य" ऐसा पाठ है और यही बराबर है। क्योकि "छ" शब्द कायम रखने से अक्षर बढ़ता और छन्दोभग होता है। अत प्राचीन पत्र मे मिला हुआ पाठ ही मूल पाठ गिनना चाहिए। इन्द्रहस गणि ने चाहे जो पाठ मान्य किया हो, क्योकि यह मूल कृति उनसे भी बहुत प्राचीन होने से उनके समय से पहले ही यह भूल प्रविष्ट हो गयी होगी और इन्द्रहस गणि ने इसको स्वीकार कर लिया होगा तो भी इससे यह पाठ मौलिक है ऐसा नही कह सकते।

न० १७–१८–१९ ये तीन भूले सकलार्हत् स्तोत्र की है। इनमें १७ और १९ नम्बर की भूलें सधि-विषयक हैं। श्री गाधी कहते हैं– "सुगमता के खातिर सधि नही की।' पर गाधी को समझ लेना चाहिए था कि पद्य-विभाग मे ऐसा करने का कवि सम्प्रदाय नही है। प्रथम द्वितीय पाद मे तथा तृतीय चतुर्थ पाद मे यदि सधि को अवकाश हो तो अवश्य कर लेना चाहिए, ऐसा कवि सम्प्रदाय का दृढ नियम है। यह बात सम्पादको के ध्यान मे हो ऐसा ज्ञात नही होता। भूल नं० १८वी शब्दान्तर विषयक है, प्रबोध-टीका मे 'अनल' शब्द का प्रयोग है जो सचमुच ही विपरीत है। वास्तव मे वायु वाचक "अनिल" शब्द होना चाहिए, क्योकि 'दीपक' को बुझाने के लिए वायु ही प्रसिद्ध है न कि 'अनल',

कि किसी भी प्रामाणिक शब्दकोषकार ने "भुवन" शब्द 'घर' अगर 'मकान' के अर्थ मे नही लिखा, पर 'जगत्', 'जल' इत्यादि के अर्थ मे लिखा है। इस स्थिति मे 'भुवनदेवता' 'भुवनदेवी' इन नामो को उपाश्रय की अधिष्ठायक देवी मानने की चेष्टा करना निरर्थक प्रयास है। प्राचीन प्रतिष्ठा-कल्पों में और आवश्यक निर्युक्ति में 'भवनदेवो' अथवा 'शय्यादेवी' के रूप मे ही इस देवी का नाम देखने मे आता है न कि 'भुवनदेवी'।

नं० ८-९-१०-११-१२ ये पाच भूले 'अड्ढाइज्जेसु' सूत्र की हैं। इनमे की 'पन्नरस' इस भूल के लिए गाधी कहते हैं कि 'पनरस' ऐसा प्रयोग भी होता है। श्री गांधी को मालूम होना चाहिए कि प्राकृत मे एक शब्द के अनेक रूप होते है। पर उसे हर जगह प्रयोग मे नही लेते। सूत्र, गद्य वगैरह मे 'पन्नरस' इस शब्द का ही प्रयोग होता है, तब छन्दोनुरोध से मात्रा कम करने के लिए संयोगाक्षर को असयुक्त रूप मे भी प्रयोग कर सकते हैं। "अड्ढाइज्जेसु' यह गद्य सूत्र है, इसलिए इसके मौलिक रूप मे फेरफार नही होता। 'पडिग्गह' आदि शब्दो के अन्त मे 'धार' शब्द का प्रयोग भी यथार्थ नही है, कारण कि आवश्यक चूर्णि में "पडिग्गहधरा' इत्यादि तीनो जगह पर 'धर' शब्द का प्रयोग है। उसी प्रकार हरिभद्रीय टीका से भी 'धार' इस शब्द की सिद्धि नही होती। ये भूले लम्बे समय से रूढ हैं, इससे अर्वाचीन ग्रन्थो मे 'धार' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जो प्रामाणिक नही माना जाता। "धार" शब्द भाव वाचक प्रत्यय लगने से बनता है, तब प्राकृत स्थल मे शब्द प्रयोग कर्तृवाचक प्रत्यान्त ही सगत होता है भाववाचक नही। प्राचीन ज्योतिष शास्त्र तथा सूत्रो की चूर्णियो मे 'क्षुत' यह शब्द "अशुभ अर्थ मे" प्रयुक्त है। इससे "अड्ढाइज्जेसु" मे "अक्खुयायार" यह शब्द ही वास्तविक है। तपागच्छ के आचार्य श्री विजयसेन सूरि आदि ने भी "अक्खुयायार" को ही सच्चा प्रयोग माना है।

नं० १३-१४ ये भूलं 'भरहेसर-बाहुबलि' नामक स्वाध्याय की है। श्री गाधी "विलयजति" इस 'अशुद्ध प्रयोग', को लुप्तविभक्तिक मानकर बचाव करते है, परन्तु लगभग ५०० वर्ष पहले लिखे हुए इस स्वाध्याय के

इत्यादि वाक्यों मे ह्रस्व इकार का ही प्रयोग विशेष आता है। "अजित-शान्तिस्तव" भी सूत्रकालीन है, इसलिए 'ह्रस्व इकारान्त' ही 'आसि' होना चाहिए और प्रबोध टीकाकार ने भी यह ह्रस्व इकारान्त प्रयोग ही स्वीकार किया है। श्री गांधी को इसके सम्बन्ध में इतना लिखने की क्या आवश्यकता पड़ी यह हमारी समझ मे नही आता।

नं० ३४ से ४४ पर्यन्त की ग्यारह भूलें हमने दिखाई है, उनका विवरण यह है—'उद्योत' इस शब्द मे उत् उपसर्ग और 'द्योत' शब्द होने से 'उद्द्योत' इस प्रकार डबल "दकार" होना चाहिए परन्तु छपा एक है। यह व्याकरण की भूल सुधरनी चाहिए। 'भूमण्डले आयतन' निवासी यह पाठ प्रबोध-टीका के सम्पादको का स्वीकृत पाठ है। परन्तु हमारी राय मे 'भूमण्डलायतने' निवासी पाठ होना चाहिए। आयतन शब्द जैन-शास्त्र मे पारिभाषिक माना है और इसका अर्थ "धर्मस्थानक" ऐसा होता है, अर्थात् 'भूमण्डले आयतन निवासी' यह पाठ खरा माना जायगा तो साधु-साध्विया तो ठीक पर श्रावक श्राविका का स्थान आयतन नही माना गया और इससे इन दोनो का निर्देश निरर्थक ठहरेगा। शान्ति के टीकाकार श्री हर्षकीर्ति सूरि ने आयतन का अर्थ "स्व स्व स्थान" ऐसा जो किया है वह शास्त्र की दृष्टि से भूल भरा है। जैन सिद्धान्त मे गृहस्थ के घर को जिसमे ये खुद रहते हो, उसको आयतन नही माना। "आयतन" का अर्थ "जिन-मन्दिर" अथवा "जैन साधु साध्वियो के रहने के स्थल" ऐसा होता है। आयतन का उक्त अर्थ होने से 'भूमण्डले आयतन निवासी' यह पाठ आपत्तिजनक ठहरेगा, इस वास्ते भूमण्डल को ही आयतन मानकर शातिकार ने उस पर रहने वाले साधु साध्वी आदि चतुर्विध संघ का नाम निर्देश किया है। "शाम्यन्त २" इस पाठ का बचाव करते हुए श्री गाधी लिखते है कि प्राचीन पोथी मे "शाम्यन्तु शाम्यन्तु" ऐसा पाठ मिलता होने से प्रकाशित किया है। गाधी के इस बचाव को हम विश्वसनीय नही मानते, कारण कि जिन हर्षकीर्ति सूरि के वचनो पर वे इतना विश्वास रखते है वे ही हर्षकीर्ति "शाम्यन्तु" इस क्रियापद को "डमरुक न्याय से दो तरफ जोड़ने का उल्लेख करते हैं।" यदि उनके पास वाले पुस्तक मे "शाम्यन्तु २"

अर्थात् 'अग्नि', क्योंकि 'दीपक' और 'अग्नि' तो एक ही चीज है, इसलिए 'अनल' शब्द यहां किसी काम का नही है। श्री गांधी को यह समझ लेना चाहिए था कि 'उपमा' एकदेशिक होती है और उपमेय के किसी भी एक गुण का स्पर्श करती है, न कि इसके सम्पूर्ण जीवन का। पाप प्रतापक है इसलिये इसको "दीपक" रूप "अग्नि" की उपमा देना सगत है और "वीतराग देव पापनाशक हैं" इसलिए पाप रूप दीपक को बुझाने के लिए समर्थ होने से उनको "वायु" की उपमा बराबर घटित होती है। श्री गाधी का यह दुराग्रह मात्र है कि ऐसी स्पष्ट भूलों का भी बचाव करते है।

नम्बर २०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१ अतिचार की बारह भूलो मे से एक भी भूल का श्री गाधी ने बचाव नही किया। वैसे भूलो को स्वीकार नही किया, यदि ये भूलें इनको ज्ञात हुई होती तो इनका स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए था और ये भूलें नहीं हैं यह जानते तो इनका प्रतीकार करने की आवश्यकता थी, क्योकि प्रत्येक भूल के सम्बन्ध मे इन्होंने अपना बचाव करने की ही नीति अपनाई है। यह स्थिति होने पर भी गांधी यहा कुछ भी नही बोलते, यह एक अज्ञेय बात है। हमे लगता है कि उक्त भूलें श्री धीरजलाल की अथवा श्री गाधी की न होकर सम्पादक मडलान्तर्गत एक पंन्यासजी की होनी चाहिए। क्योकि प्रबोध टीका के पहले पालीताना से छपकर प्रकाशित होने वाले एक पच प्रतिक्रमण के पुस्तक मे इन्ही भूलो की पूर्वावृत्ति हुई हमने देखी है। वह पुस्तक भी प्रस्तुत सम्पादक मण्डल मे के एक पन्यास के तत्त्वावधान मे ही छपी है और उन्ही भूलों की इसमे पुनरावृत्ति की हो ऐसा लगता है।

न० ३२-३३ इन अजित शान्ति की दो भूलो में से पहिली पहिले से चली आने वाली है और दूसरी भूल है प्रेस की। श्री गाधी ने मेहसाना की आवृत्ति मे आते "आसी" इस दीर्घ 'ई' कारात क्रियापद को शुद्ध ठहराने का प्रयत्न किया है। प्राकृत भाषा मे ऐसे ह्रस्व-दीर्घ विषयक प्रयोग होते ही रहते हैं। सूत्रकालीन भाषा मे "आसि राया महिड्ढिओ"

गाया' ये शब्द बोलती और व्यन्तरी के मुख मे बलिक्षेप करती। इस घटना और उस पर बोले गये शब्दो पर से किसी ने—

"अह गोवालयमाया, सिवादेवी, तुम्ह नयरनिवासिनी।
अम्ह सिवं तुम्ह सिवं, असिवोवसम, सिव भवतु स्वाहा ॥"

यह गाथा जोड़ दी और कालान्तर मे वह शान्तिपाठ के अन्त में लिख ली गई। बाद मे किसी सशोधक ने उल्लिखित "शिवा" को चण्डप्रद्योत की पट्टरानी न समझ के नेमिनाथ की माता मानकर 'गोवालय' के स्थान मे 'तित्थयर' शब्द जोड़ दिया। श्री गाधी उत्कठा पूर्वक श्री-हर्षकीर्ति की टीका का पाठ लिखकर कहते है कि—"हर्षकीर्ति सूरि भी 'तित्थयर' माता लिखते है।" श्री गाधी को शायद खबर न होगी कि श्री हर्षकीर्ति सूरि कोई श्रुतधर या गीतार्थ आचार्य नही थे। किन्तु सत्रहवें सैके के कतिपय यतियों के अग्रेसर आचार्य नामधारी यती थे, जो परिग्रह-धारी होकर दवा-दारू का व्यवसाय करते थे। इसलिए उन्होने जो कुछ लिखा वह प्रमाण है, यह मान लेने की आवश्यकता नही है। हर्षकीर्ति के उक्त कथन से इतना ही प्रमाणित हो सकता है कि "तित्थयरमाया" यह भूल हर्षकीर्ति के समय के पहिले की है।

न० ४५–४६ ये दोनो भूले "सतिकर स्तव" की हैं जो अन्य किसी प्रकार से पाठ-साम्य से किसी ने इसमे यह पाठ ले लिया है। मालूम होता है श्री गाधी भी श्री सोमतिलक सूरि के "सप्ततिशत स्थानक" प्रकरण मे "मणुअेसर कुमारो" तथा "वइरुट्टदत्त" यह पाठ होना स्वीकार करते हैं, तब इसके विरोध मे इतना ऊहापोह करने की क्या आवश्यकता थी और "१४९७ मे लिखी हुई प्राचीन पोथी के अनुसार छपा हुआ पाठ है ऐसा स्मरण है।" यह संदिग्ध वचन लिखने की क्या जरूरत थी? यह हम समझ नही सकते, हमने यह पाठ लगभग पन्द्रहवे सैकड़े के अन्त मे या तो सोलहवें सैके की आदि मे लिखे हुए एक जीर्ण पत्र के आधार पर सुधारा है। गाधी को यदि चौदह सौ सत्तानवे मे लिखी हुई पोथी मे यह छपा

ऐसा द्वित्व पाठ होता तो उनको डमरुक न्याय लगाने की आवश्यकता ही न रहती। इससे जाना जाता है कि प्राचीन पोथी का नाम आगे करके गांधी अपना बचाव मात्र करना चाहते है। वादिवेतालीय अर्हदभिषेक विधि का हमने जिम प्राचीन प्रति पर से सम्पादन किया है उसमे—

"श्रीसघजगज्जनपद,-राज्याधिपराज्यसन्निवेशानाम् ।
गोष्ठी-पुर-मुख्याणा, व्याहरणैर्व्याहरेच्छान्तिम् ॥"

—यह आर्या लिखी है, जिसमे राज्याधिप, राज्यसन्निवेश, गोष्ठी, पुरमुख्य, ये शब्द प्रयुक्त होते है और उसके पंजिकाकार ने भी यही पाठ मान्य रक्खा है। वास्ते राजाधिप, -राजसन्निवेश, गौष्ठिक, पौरमुख्य, इन शब्दप्रयोगो को हमने अशुद्ध बताया है, कारण कि प्रस्तुत शान्ति ही अभिषेककार की है इसलिए उनके शब्द ही शुद्ध माने जाने चाहिए। अब रही 'तित्थयर माया' की बात, सो पहले तो यह गाथा शान्तिकार की कृति नही है, किन्तु पीछे से किसी ने जोडकर शान्ति के पीछे लगा दी है और इसमे आने वाला "तित्थयर" यह शब्द किसी ने घुसेड़ दिया है, क्योकि स्वर्गस्थित तीर्थङ्कर माता श्री शिवादेवी का इस शान्ति के साथ कोई सम्बन्ध किसी भी प्रमाण से सावित नही होगा। किन्तु आवश्यक चूर्णि मे कही हुई एक घटना पर से इस वस्तु का सम्बन्ध उज्जेणी के राजा "चण्डप्रद्योत" की पट्टरानी "शिवादेवी" के साथ हो सकता है। अभय-कुमार चण्डप्रद्योन के ताबे मे था, उस समय की घटना है कि उज्जयिनी में महामारी फैल गई थी। प्रतिदिन सैकडो मनुष्य मरते थे, तब इस महामारी की उपशान्ति के लिए अभयकुमार को चण्डप्रद्योत ने उपाय पूछा। अभयकुमार ने कहा—व्यन्तर देवियो का उपद्रव है, जो राजा की मुख्य पट्टरानी शिवादेवी महलो पर की चादनी मे खड़ी रह कर व्यन्तरियो को अपने हाथ से बलि-क्षेप करे तो महामारी का उपद्रव शान्त हो सकता है। उपर्युक्त अभयकुमार की सलाह के अनुसार बलि तैयार करा कर रानी शिवादेवी महल पर चढ़कर जिस जिस दिशा मे से व्यन्तरी शिवारूप से बोलती रानी उसके मुख मे बलिक्षेप करती और वहां 'अह सिवागोवालय-

इसका बचाव करते है। उपयोगशून्यता से प्रचलित हुई इन भूलो का सुधार न कर बचाव करना यह सचमुच ही जडता है।

न० ५४–५५–५६ ये तीन भूले पौषध प्रत्याख्यान की है। इन भूलो का बचाव करते हुए श्री गाधी लिखते हैं कि 'ठामि काउसग्गं' इसमें जैसे "काउसग्ग" शब्द को द्वितीया विभक्ति लगाई है वैसे "पोसह" शब्द को भी द्वितीया विभक्ति लगाकर "पोसह" किया यह कुछ गलत नहीं है, परन्तु श्री गाधी को शायद यह खबर नही है कि "ठामि काउसग्गं" यह प्रयोग सौत्र है। इसी से टीकाकारो ने अकर्मक 'ठा' धातु को सकर्मक "कृञ्" धातु के अर्थ मे मानकर इस प्रयोग का निर्वाह किया है। पौषध प्रत्याख्यान यह सामाचारीगत प्राकृत पाठ हैं, इसमें द्वितीया लगाकर जानबूझ कर अलाक्षणिक पाठ बनाना अनुचित है "आचारविधि' "पौषध-प्रकरण" आदि मे "चउव्विहे पोसहे" ऐसा ही पाठ मिलता है जिसको विगाड़ कर प्रबोध टीका के संशोधको ने भूलें खडी की हैं। 'भन्ते' पाठ के व्याकरण का वैकल्पिक रूप मानकर गाधी बचाव करते हैं, परन्तु वास्तव मे सूत्र के प्रकरणो मे ऐसा प्रयोग ग्रहण नही किया। क्योकि कितने ही स्वय पढ करके पौषध ग्रहण करते हैं। व्याकरण ज्ञान के अभाव मे उनको भन्ते' जैसे शब्द अशुद्ध उच्चारण की तरफ ले जाएँगे। अतः 'भन्ते' इसी प्रयोग को स्वीकार करना चाहिए। "चन्द्रावतसक" का रूप "चन्दवडिसो" यह भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नही माना जाता। कितने ही स्थलो मे ऐसे प्रयोग देखने मे आते है, पर वे प्रचलित भूल का परिणाम मात्र हैं। ऐसे प्रयोगो को लाक्षणिक सिद्ध करने का कोई प्रमाण नही मिलता। अतः "चन्दवडसो" यही प्रयोग शुद्ध है यह मानना चाहिए।

न० ५७–५८–५६–६०–६१ इन "सथारा पोरिसि की" भूलो मे से प्रथम भूल के विषय मे गांधी अमुक ग्रन्थो का हवाला देकर उसको "कुक्कुडि" ऐसे रूप मे शुद्ध ठहराना चाहते हैं, परन्तु वास्तव मे अर्वाचीन ग्रन्थो मे देखा जाता "कुक्कुडि" यह शब्द प्रयोग शुद्ध नही है, क्योकि स्त्री वाचक 'कुक्कुडी' शब्द को मानेगे तो वह 'कुक्कुडी' ऐसा स्त्री प्रत्ययान्त दीर्घ होने

हुआ पाठ देखा हो तो निशकता से जाहिर करे। हम भी उनके कथन पर फिर विचार करेंगे।

न० ४७–४८–४६–५०–५१–५२–५३ ये भूलें प्रत्याख्यानो के पाठो की हैं। इनकी सख्या सात लिखी है, पर वास्तव मे सव भूले गिनने पर १३ होती हैं, क्योकि कोई दो वार और कोई चार वार आई हुई हैं। इन भूलो के सम्वन्ध मे लिखते हुए श्री गांधी कहते हैं कि प्रत्याख्यान में अनेक पाठान्तर हैं, पर यह उनकी एक कल्पना मात्र है। ऊपर वताई हुई भूलो मे कोई भी भूल पाठान्तर रूप नही परन्तु वास्तविक अशुद्धि है। 'वहुलेवेण' इस भूल को वे वृत्ति के आवार पर शुद्ध पाठ मानते हैं, परन्तु उस वृत्ति का कर्त्ता कौन और उस वृत्ति का नाम क्या? यह कुछ भी नही लिखा। इससे मालूम होता है कि यह आपने अपने बचाव का उपाय खोजा है। इन भूलों को कोई भी टीकाकार पाठान्तर के रूप मे भी शुद्ध नही मानेंगे, क्योकि पानी के "छः आकारों मे दो दो आकार एक दूसरे के प्रतिस्पर्वी" हैं। "लेवेण, अलेवेण, अच्छेण, वहलेण, ससित्थ, असित्थ" ये दो दो शब्द एक दूसरे पानी की भिन्नता वताते हैं, इसलिए "लेप" शब्द "अलेव" के साथ आ गया है। फिर "वहुलेव" शब्द को इस स्थल पर अवकाश नही रहता और "वहुलेव" वाला पानी प्रत्याख्यान मे कल्प्य भी नही है। अतः "वहुलेव" यह शब्द अशुद्ध है। अगर किसी अर्वाचीन भाषान्तरकार ने स्वीकार भी किया हो तो भूल ही मानी जायगी। सूत्रों तथा प्राचीन प्रत्याख्यान सम्वन्धी प्रकरणों में सर्वत्र "वहलेण" यह ही पाठ दृष्टिगोचर होता है। भाषा मे "साढ" प्रयोग नही हो सकता; "ढ" के द्वित्व वाला "साड्ढ" यह प्रयोग भूल भरा है। प्राकृत मे 'सड्ढ' यह प्रयोग ही शुद्ध है। प्राकृत मे "पच्छन्न" शब्द लिखने की कुछ भी जरूरत नही होती। संस्कृत भाषा मे ह्रस्व के आगे 'छ' को द्वित्व 'च्छ' करने की जरूरत होती है, प्राकृत में नही। नं० ५० भूल की गाधी ने चर्चा नहीं की; इससे मालूम होता है कि वह इनको मजूर है। नं० ५२ की भूल श्री गाँधी ने स्वीकार करली है, इससे इसके सम्वन्ध मे कुछ भी नही लिखा। न० ५३ की भूल 'पारणहार' को गांधी

नही थी, कारण कि प्राचीन भाषा पर से किसी भी अर्वाचीन भाषा का निर्माण होता है। पर श्री गाधी अर्वाचीन भाषा के प्रचलित शब्दों को प्राचीन भाषा की तरफ खीचकर उलटी गगा चलाते हैं।

"अपने आवश्यक सूत्रो मे चलती हुई अशुद्धिया" इस शीर्षक के नीचे हमने बताई हुई अशुद्धियो का विवरण और गाधी लालचन्द भगवान् की "शुद्धिविचारणा" की मीमांसा ऊपर लिखे अनुसार है। शुद्धिविचारणा मे गाधी ने अनेक स्थलो मे आन्तर विषयो पर लक्ष्य देकर कुछ वर्णन किया है। उस पर हमे कुछ भी लिखने की आवश्यकता नही है, परन्तु कुछ बाते इन्होने ऐसी लिखी हैं कि जिनका उत्तर देना भी आवश्यक है।

अजितशान्ति के छन्दो के सम्बन्ध मे हमारी टीका श्री गाधी को कुछ कटु ज्ञात हुई होगी, इससे वे पाश्चात्य विद्वानो के दृष्टान्त देकर छन्द आदि के संशोधन का सम्पादको को अधिकार होने की बात करने निकले हैं, सो तो ठीक है, अधिकारी के लिए अधिकार होना बुरा नही। आधुनिक अथवा तो मध्यकालीन छन्द शास्त्र के छन्दो द्वारा अजितशान्ति के छन्दो की तुलना कर उनमे अशुद्धियां बताने का सशोधको को अधिकार नही था। "प्राकृत छन्द शास्त्र" मे एक ही नाम के भिन्न २ लक्षण वाले छन्द होते हैं। इस स्थिति मे नाम सादृश्य को लेकर एक का लक्षण दूसरे उसी नाम के छन्दो में घटाने मे भूल का विशेष सभव रहता है। अजितशान्ति के निर्माण-काल मे बने हुए किसी प्राकृत छन्द शास्त्र के सशोधको को हाथ लगने की भी बात इन्होंने कही लिखी नही है, इससे भी छन्दोविषयक हमारी टीका यथास्थान थी। युरोपियन छन्द आदि की मीमासा करके उसमें से कुछ तत्त्व निकालते हैं। छन्दो पर से कृति का निर्माण समय अनुमित करते हैं। व्याकरण आदि के प्रयोगो पर से भी वे कृति की प्राचीनता अर्वाचीनता का पता लगाते हैं। प्रबोध टीका के सशोधकों ने ऐसी लाइन से छन्दो-विषयक चर्चा की होती तो हमको कुछ भी कहना नही था, पर इन्होने तो अर्वाचीन छन्द.शास्त्र के आधार से प्राचीन छन्दों की परीक्षा करके कितने ही स्थलों मे गाथाओ का अग भग कर दिया है, इससे हमें कुछ लिखना पड़ा है।

की आपत्ति आती है और ऐसा होने से छन्दोभग होगा। "श्री तिलकाचार्य कृत सामाचारी" आदि ग्रन्थो मे जहां संथारा पोरिसी की गाथायें दी गई हैं वहा 'कुक्कुड' शब्द का ही प्रयोग किया है। गाथान्तरों मे 'कुक्कुड' अथवा 'कुक्कुडि' शब्द भी हो सकता है, परन्तु प्रस्तुत गाथा मे तो 'कुक्कुड' शब्द प्रयोग ही शुद्ध है। 'कुक्कुडि' का स्वीकार करने से लाक्षणिक भूल आती है और लाक्षणिक भूल को बचाने से छन्दोभग होता है, यह पहिले ही कह चुके हैं। हमारे पास के अतिप्राचीन पन्ने में लिखी हुई सथारा पोरिसी में भी "कुक्कुड" ऐसा ही पाठ मिलता है और उसी पन्ने में "अंतरंत नही" पर "अतरन्तु" प्रयोग लिखा हुआ है, जो यथार्थ है क्योकि अलाक्षणिक विभक्ति का लोप मानने से भी छन्दोभग टालने के लिए दीर्घ स्वर को ह्रस्व बनाना यह विशेष उचित माना जायगा। यह कर्मणि प्रयुक्त सौत्र क्रियापद है और उन अष्टादश पाप-स्थानो को आत्मा ने छोडा उसका इस क्रियापद से सूचन किया है, न कि इस पद से 'वोसिरसु'। आत्मा किसी को पाप-स्थानको के त्याग का उपदेश करता है। अगली गाथा के साथ इस गाथा का सम्बन्ध होने का कथन भी गाधी की कल्पना मात्र है। अगली गाथा मे सूत्रकार आत्मा को अेकत्व भावना मे उतार कर अनुशासन करने का उपदेश करते हैं, इसीलिए "मनुसासइ" नही पर "अणुसासअे" ऐसा विध्यर्थक क्रियापद जोड़ा है। गाधी "मुज्झह वईर न भाव" इस भ्रान्त पाठ का वचाव करते हुए "आचार दिनकर" तथा चौदहवी शती की ताडपत्रीय पोथी की गाथा लिखकर कहते हैं कि इसमे "न मह वइरु न पाओ" "नइ मह वइरु न पावु" ऐसा पाठ होने का सूचन करते है, परन्तु इन दोनो गाथाओ के चरण में "अतिम" शब्द "पाओ" अथवा "पावु" शब्द है, "भाव" शब्द नहीं। गांधी को अगर यह पाठ यथार्थ लगा होता तो भाव के स्थान पर 'पाव' शब्द को स्वीकार किया होता। केवल अपने शब्द प्रयोगो को खरा ठहराने के लिए अन्यार्थवाचक शब्द का प्रमाण देने से यह पाठ शुद्ध नही ठहर सकता।

नं० ६२-६३ सकलतीर्थ मे आते "अडलख" तथा "अतरीख" आदि भाषा के शब्दो को द्वित्व व्यंजनो द्वारा भारी बनाने की कुछ भी जरूरत

का सभव है, इसी प्रकार प्रतिक्रमण सूत्र का विस्तृत विवरण लिखवा कर महेसाना श्री जैनश्रेयस्कर मण्डल ने वडे चोपड़े के रूप मे प्रकाशित किया है उसमे भी हमने जैन शैली के विरुद्ध कितनी ही भूलें देखी हैं। इसलिए इन दोनों पुस्तको के भाषा-विवरणों मे परिमार्जन करना चाहिए, अन्यथा इनमे रही हुई भूलें जैन शैली का रूप धारण करेगी और पढ़ने वाले भ्रमणा में पड़ेंगे।

मूल सूत्रों में अन्तःशीर्षक तथा गुरुप्रति-वचन :

मूल सूत्रो मे अन्त.शीर्षको और गुरुप्रति वचनो को दाखिल करने का हमने विरोध किया। उसका बचाव करते हुए श्री गाधी कहते है कि "प्राचीन टीकाकार ऐसा करते आये हैं", यह उनका कथन केवल भ्रान्त है। प्राचीन किसी भी टीकाकार ने अन्त.शीर्षक अथवा तो गुरु-प्रति वचन मूल पाठ मे दाखिल नही किये। लेखको की अज्ञानता से मूल टीका के साथ वैसा कही लिखा गया हो तो बात जुदी है, बाकी टीकाकारों का कर्त्तव्य तो टीकाओ मे प्रत्येक सूत्र का रहस्य प्रकट करने का होता है। अष्टाग-विवरणकार की तरह विधि मे लिखने की बात मूल मे मिलाकर विकृति उत्पन्न करने का नही। पूर्व टीकाकारो के नाम लेकर गाधी का यह बचाव बिल्कुल पगु है, इसी प्रकार लघुशान्ति मे दिये हुए अन्त.शीर्षक पुस्तक-पाठियो के लिए असुविधाजनक है। परन्तु जहा लेखको को अपना तांत्रिक ज्ञान बताने की उत्कठा हो वहा इनको वाचको की सुविधा-दुविधा का विचार न आये यह स्पष्ट है।

उपसंहार :

हमारे पूर्व लेख मे "आयरिय उवज्झाओ" आदि सूत्रो में टीकाकारो के दिये हुए पाठान्तर का समन्वय करने की हमने गीतार्थों को विज्ञप्ति की थी। जिसका प्रबोध टीका या उसके सशोधको के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही था, फिर भी अस्थापित-महत्तर बनकर श्री गांधी ने अपने अधैर्य का प्रदर्शन कराया यह अनावश्यक था। गाधी गीतार्थ या गीतार्थों के प्रतिनिधि नही हैं, तब इनको इसमे झुक पडने की जरूरत क्यो पड़ी? यह हम समझ नही सकते। हम चाहते हैं कि श्री गाधो ऐसी अनधिकृत प्रवृत्तियो मे पडने का मोह छोडेंगे तो अपनी मर्यादा को बचा सकेंगे।

यहाँ भी हम गीतार्थ वर्ग को विज्ञप्ति करते है कि ऊपर हमने जो शुद्धि-पत्रक दिया है वह प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण सूत्र के मूल की अशुद्धियो का है। इसकी टीका मे जैन शैली के विरुद्ध अनेक भूलें होनें

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
वंदित्तु में :	
चऊहिं	चउहिं
मणुव्वयाण	मणुवयाणं
उवभोग-परीभोगे	उवभोगे-परिभोगे
मज्झ	मज्झ
निंदिअय	निंदिउ
एवमह	एवं मइ
दुगछिउं	दुगंछिअ
भवनदेवता स्तुति में :	
भुवन	भवन
भुवण	भवण
भुवन	भवन
अड्ढाइज्जेसु मे :	
पनरससु	पन्नरससु
केवि	केइ
साहु	साहू
पडिग्गहधारा	पडिग्गहधरा
°व्वयधारा	°व्वयधरा
सीलगधारा	सीलगधरा
लघुशान्ति में :	
निर्वृत्ति	निर्वृति
दृष्टिनां	दृष्टीना
चउक्कसाय मे :	
मुसुमूरणू	मुसुमूरणु
भरहेसर-बाहुबलि-सज्झाय में :	
थूलिभद्दो	थूलभद्दो

परिशिष्ट १

आवश्यक क्रिया के सूत्रों में अशुद्धियाँ

❖

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
लोगस्स में :	
विहुयरयमला	विहूयरयमला
जगचिंतामणि में :	
समहण	समणह
मुहरिपास	महुरिपास
दिसिविदिसि	दिसिविदिसिकेवि
अट्ठकोडिओ	अट्ठकोडीओ
उवसग्गहर में :	
भत्तिब्भर	भत्तिभर
जयवीयराय मे	
दुक्खक्खओ	दुक्खखओ
कम्मक्खओ	कम्मखओ
पुक्खरवरदीवड्ढे में :	
धायईसडे अ	धायइसडे अ
जवुदीवे अ	जवूदीवे अ
जाइजरा	जाईजरा
स्सब्भुअ	स्सब्भूअ
सातलाख मे :	
जीवायोनि	जीवयोनि

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
राजासंनिविशानाम्	राज्यसंनिवेशानाम्
श्री राजाधिपाना	राज्याधिपमना
श्री राजसंनिवेशाना	राज्यसनिवेशाना
श्री पौर मुखाणा	श्री पुरमुख्याणां
मस्तकेदातव्यमिति	मस्तके प्रदद्यादिति
भवन्तु लोकाः	भवतु लोक

प्रतिक्रमण प्रबोध टीका का प्रथम भाग प्रकाशित होने के पूर्व तीसरे वर्ष मे यह शुद्धिपत्रक मेहसाना के सम्करण के आधार से तैयार किया था। उक्त शुद्धि-पत्रक की ५९ अशुद्धियों मे से कुछ प्रबोध टीका-कारो ने सुधारी हैं, वैसे कुछ नयी घुसेड़ी है। प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण मे कुल ६४ अशुद्धियों का अङ्क आता है।

卐 卐

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
विलयजंति	विलिज्जंति
थूलिभद्दस्स	थूलभद्दस्स

मण्णहजिणाणं सज्झाय में :

मण्ह	मण्णह
उज्जुत्तो	उज्जुत्ता
होइ	होह
समिइ	समिई
गुरुथुअ	गुरुथुइ
करूणा	करुणा

सकलार्हत् में :

मल्ली	मल्लि
राजार्चिताना	राजार्चितानां
प्रदीपानलो	प्रदीपानिलो

स्नातस्या स्तुति

जिन	जिनः
हसासाहत	हसासाहत

अतिचारों में :

वच्छल	वच्छल्ल
नाण	ण्हाण
समसलेहण	सम्मसलिहण
पन्नर	पनर
तप	तव

अजितशांति स्तव में :

लक्खणोवचि अ	लक्खणोवचि अ

बृहच्छान्ति में :

राजाधिप	राज्याधिप

निबन्ध-निचय

द्वितीय खण्ड

卐 卐

ऐतिहासिक तथा

समालोचनात्मक लेख संग्रह

卐

पर्वत (६), चमरोत्पात (७), शत्रुंजय (८), सम्मेतशिखर (६) और मथुरा का देवनिर्मित स्तूप (१०) इत्यादि तीर्थों का संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन जैन सूत्रों, सूत्रों की निर्युक्तियों तथा भाष्यों मे मिलता है। अतः इनको हम सूत्रोक्त तीर्थ कहेगे।

हस्तिनापुर (१), शोरीपुर (२), मथुरा (३), अयोध्या (४), काम्पिल्य (५), बनारस (काशी) (६), श्रावस्ति (७), क्षत्रियकुण्ड (८), मिथिला (६), राजगृह (१०), अपापा (पावापुरी) (११), भद्दिलपुर (१२), चम्पापुरी (१३), कौशाम्बी (१४), रत्नपुर (१५), चन्द्रपुरी (१६), आदि नगरियाँ भी तीर्थङ्करो की जन्म, दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण भूमियां होने से जैनों के प्राचीन तीर्थ थे, परन्तु वर्तमान समय मे इनमे से अधिकाश विलुप्त हो चुके हैं। कुछ कल्याणकभूमियों मे आज भी छोटे, बड़े जिन-मन्दिर बने हुए हैं और यात्रिक लोग दर्शनार्थ भी जाते हैं, परन्तु इनका पुरातन महत्त्व आज नही रहा। इन तीर्थों को आज भी "कल्याणक-भूमियाँ" कहते हैं।

उक्त तीर्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थान जैन तीर्थों के रूप मे प्रसिद्धि पाये थे जो कुछ तो आज नामशेष हो चुके है और कुछ विद्यमान भी हैं। इनकी सक्षिप्त नामसूची यह है—प्रभास पाटन-चन्द्रप्रभ (१), स्तम्भतीर्थ-स्तम्भनक पार्श्वनाथ (२), भृगुकच्छ अश्वाववोध-शकुनिका-विहार मुनिसुव्रतजी की विहारभूमि (३), सूर्पारक (नाला सोपारा) (४), शखपुर-शंखेश्वर पार्श्वनाथ (५), चारूप-पार्श्वनाथ (६), तारगा-हिल-अजितनाथ (७), अर्बुदगिरि (माउन्ट आबू) (८), सत्यपुरीय-महावीर (६), स्वर्णगिरीय महावीर (जालोर दुर्गस्थ महावीर) (१०), करहेटक-पार्श्वनाथ (११), विदिशा (भिल्सा) (१२), नासिक्यचन्द्रप्रभ (१३), अन्तरीक्ष-पार्श्वनाथ (१४), कुल्पाक-आदिनाथ (१५), खण्डगिरि (भुवनेश्वर) (१६), श्रवणवेलगोला (१७), इत्यादि अनेक जैन प्राचीन तीर्थ प्रसिद्ध है। इनमें जो विद्यमान हैं, उनमे कुछ तो मौलिक है। तब कतिपय प्राचीन तीर्थों को हम पौराणिक तीर्थ कहते है। प्राचीन जैन साहित्य मे

: २० :

प्राचीन जैन तीर्थ

लेखक—पं० कल्याणविजय गणि

❖

उपक्रम :

पूर्वकाल मे "तीर्थ" शब्द मौलिक रूप मे "जैन प्रवचन" अथवा "चातुर्वर्ण्य संघ" के अर्थ में प्रयुक्त होता था ऐसा जैन आगमो से ज्ञात होता है। जैन प्रवचनकारक और जैन-संघ के स्थापक होने से ही "जिन-देव" "तीर्थङ्कर" कहलाते हैं।

"तीर्थ" का शब्दार्थ यहाँ "नदी समुद्र से बाहर निकलने का सुरक्षित मार्ग" होता है। आज की भाषा मे इसे "घाट" और "बन्दर" भी कह सकते हैं। जैन शास्त्रो मे "तीर्थ शब्द" की व्युत्पत्ति "तीर्यते संसारसागरो येन तत् तीर्थम्" इस प्रकार से की गई है। ससार-समुद्र को पार कराने वाले "जिनागम" को और "जैन श्रमण सघ" को "भाव-तीर्थ" बताया गया है। तब नदी-समुद्रो को पार कराने वाले तीर्थों को "द्रव्य-तीर्थ" माना है।

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त जैन आगमो मे कुछ और भी तीर्थ माने गए हैं, जिन्हे पिछले ग्रन्थकारो ने "स्थावर तीर्थों" के नाम से निर्दिष्ट किया है और वे दर्शन की शुद्धि करने वाले माने गए हैं। इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचाराङ्ग, आवश्यक आदि सूत्रों की "निर्युक्तियो" में मिलता है जो मौर्य राज्यकाल से भी प्राचीन ग्रन्थ हैं।

जैन स्थावर तीर्थों मे अष्टापद (१), उज्जयन्त (गिरनार) (२), गजाग्रपद (३), धर्मचक्र (४), अहिच्छत्रा-पार्श्वनाथ (५), रथावर्त

भूमि, देवलोक, असुरादि के भवन, मेरुपर्वत; नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तर देवों के भूमिस्थ नगरो में रही हुई जिन-प्रतिमाओं को, अष्टापद, उज्जयन्त, गजाग्रपद, धर्मचक्र, अहिच्छत्रास्थित-पार्श्वनाथ, रथावर्त पर्वत, चमरोत्पात इन नामो से प्रसिद्ध जैन तीर्थों मे स्थित जिन-प्रतिमाओ को वन्दना करता हूं ॥ ३३१ ॥ ३३२ ॥'

निर्युक्तिकार भगवान् ने, तीर्थङ्कर भगवन्तो के जन्म, दीक्षा, विहार, ज्ञानोत्पत्ति, निर्वाण आदि के स्थानो को तीर्थ स्वरूप मानकर वहा रहे हुए जिन-चैत्यों को वन्दन किया है। यही नही, परन्तु राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, स्थानाग, भगवती आदि सूत्रो मे वर्णित देवलोक स्थित, असुरभवन स्थित, मेरु स्थित, नन्दीश्वर द्वीप स्थित और व्यन्तर देवो के भूमिगर्भ स्थिन नगरो मे रहे हुए चैत्यो की शाश्वत जिन-प्रतिमाओ को भी वन्दन किया है।

निर्युक्ति की गाथा तीन सौ बत्तीसवी मे निर्युक्तिकार ने तत्कालीन भारतवर्ष मे प्रसिद्धि पाये हुए सात अशाश्वत जैन तीर्थों को वन्दन किया है, जिनमे एक को छोड़कर शेष सभी प्राचीन तीर्थ विच्छिन्नप्राय हो चुके हैं, फिर भी शास्त्रो तथा भ्रमण वृत्तान्तो में इनका जो वर्णन मिलता है उसके आधार पर इनका यहाँ संक्षेप मे निरूपण किया जायगा।

(१) अष्टापद :

अष्टापद पर्वत ऋषभदेवकालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा मे अवस्थित था। भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते, तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे और अयोध्यावासी राजा-प्रजा उनकी धर्म-सभा मे दर्शन-वन्दनार्थ तथा धर्म-श्रवणार्थ जाते थे, परन्तु वर्तमान कालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग मे ऐसा कोई पर्वत आज दृष्टिगोचर नही होता जिसे "अष्टापद" माना जा सके। इसके अनेक कारण ज्ञात होते हैं, पहला तो यह कि भारत के उत्तरदिग्विभाग मे रही हुई पर्वत श्रेणियां उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नही थी जितनी आज हैं।

वर्णन न होने पर भी कल्पो, जैन चरित्र-ग्रन्थो, प्राचीन स्तुति-स्तोत्रो में इनका महिमा गाया गया है।

उक्त वर्गों मे से इस लेख मे हम प्रथम वर्ग के सूत्रोक्त तीर्थों का ही संक्षेप में निरूपण करेंगे।

सूत्रोक्त-तीर्थ—

आचाराग निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं में प्राचीन जैन तीर्थों के नाम निर्देश मिलते हैं—

"दसरण-नारण-चरित्ते, तववेरग्गे य होइ उ पसत्था।
जाय जहा ताय तहा, लक्खरण वुच्छ सलक्खरण ओ ॥३२९॥
तित्थगरारण भगवओ, पवयरण-पावयरिण-अइसयड्ढीरण।
अभिगमरण-नमरण-दरिसण,-कित्तरण सपूअरणा थुरणरणा ॥३३०॥
जम्माऽभिसेय-निक्खमरण-चरण नारगुप्पया च निव्वारण।
दियलोअ - भवरण - मदर - नदीसर - भोमनगरेसु ॥३३१॥
अट्ठावयमुज्जिते; गयग्गपयए य धम्मचक्के य।
पास-रहावत्तनग चमरुप्पाय च वदामि ॥३३२॥"

अर्थात्—'दर्शन (सम्यक्त्व) ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य विनय विषयक भावनायें जिन कारणो से शुद्ध बनती हैं, उनको स्वलक्षणों के साथ कहूंगा ॥ ३२९ ॥

तीर्थङ्कर भगवन्तो के, उनके प्रवचन के, प्रवचन-प्रचारक प्रभावक आचार्यों के, केवल-मन.पर्यव-अवधिज्ञान-वैक्रियादि अतिशायि लब्धिधारी मुनियों के सन्मुख जाने, नमस्कार करने, उनका दर्शन करने, उनके गुणो का कीर्तन करने, उनकी अन्न वस्त्रादि से पूजा करने से; दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य, सम्बन्धी गुणो की शुद्धि होती है ॥ ३३० ॥

जन्म-कल्याणक स्थान, जन्माभिषेक स्थान, दीक्षा स्थान, श्रमणा-वस्था की विहारभूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति का स्थान; निर्वाण-कल्याणक

अट्ठावयमि सेले, चउदस भत्तेण सो महरिसीणं ।
दसहि सहस्सेहि समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४३४॥

निव्वाणं चिइगागिई, जिणस्स[1] इक्खाग[2] सेसयाण च[3] ।
सकहा[1] थूभरजिणहरे[2] जायग[4] तेणाहि अग्गित्ति ॥४३५॥"

'तब ससार-दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख वर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुंचे और छः उपवास के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए ॥ ४३३ ॥ ४३४ ॥

भगवान् और उनके शिष्यो के निर्वाणानन्तर चतुर्निकायो के देवो ने आकर उनके शवो के अग्निसंस्कारार्थ तीन चिताएँ बनवाई । एक पूर्व मे गोलाकार चिता तीर्थङ्करशरीर के दाहार्थ, दक्षिण में त्रिकोणाकार चिता इक्ष्वाकु वश्य गणधर आदि महामुनियो के शव-दाहार्थ और पश्चिम दिशा की तरफ चौकोण चिता शेष श्रमणगण के शरीरसस्कारार्थ बनवाई और तीर्थङ्कर आदि के शरीर यथास्थान चिताओं पर रखवाकर, अग्निकुमार देवो ने उन्हे अग्नि द्वारा सुलगाया । वायुकुमार देवो ने वायु द्वारा अग्नि को तेज किया और चर्म मास के जल जाने पर, मेघकुमार देवो ने जल-वृष्टि द्वारा चिताओ को ठण्डा किया । तब भगवान् के ऊपरी बायें जबडे को शक्रेन्द्र ने, दाहिनी तरफ की ईशानेन्द्र ने, तथा निचले जबडे की बायी तरफ की चमरेन्द्र ने और दाहिनी तरफ की दाढायें बलीन्द्र ने ग्रहण की । इन्द्रो के अतिरिक्त शेष देवो ने भगवान् के शरीर की अन्य अस्थियां ग्रहण कर ली, तब वहा उपस्थित राजादि मनुष्यगण ने तीर्थङ्कर तथा मुनियो के शरीरदहन स्थानो की भस्मी को भी पवित्र जानकर ग्रहण कर लिया । चिताओ के स्थान पर देवो ने तीन स्तूप बनवाये और भरत चक्रवर्ती ने चौबीस तीर्थङ्करो की वर्ण-मानोपेत सपरिकर मूर्तियाँ स्थापित करने योग्य "जिन-गृह" बनवाये । उस समय जिन मनुष्यो को चिताओ से अस्थि भस्मादि नही मिला था उन्होंने उसकी प्राप्ति के लिए देवो से बडी नम्रता के साथ याचना की जिससे इस अवसर्पिणी काल मे "याचक" शब्द

दूसरा कारण यह है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव, उनके गणधरो तथा अन्य शिष्यों का निर्वाण होने के बाद देवताओं ने "तीन स्तूप" और चक्रवर्ती भरत ने "सिंह निषद्या" नामक जिनचैत्य बनवाकर उसमे चौवीस तीर्थङ्करो की वर्ण तथा मानोपेत प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवा के, चैत्य के चारो द्वारों पर लोहमय यान्त्रिक द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नही, पर्वत को चारो ओर से छिलवाकर सामान्य भूमिगोचर मनुष्यो के लिए, शिखर पर पहुचना अशक्य बनवा दिया था। उसकी ऊँचाई के आठ भाग क्रमशः आठ मेखलाये बनवाई थी और इसी कारण से इस पर्वत का 'अष्टापद' यह नाम प्रचलित हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाण स्थान के दुर्गम बन जाने के बाद, देव, विद्याधर, विद्याचारण लब्धिधारी मुनि और जङ्घाचारण मुनियो के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थ अष्टापद पर नही जा सकता था और इसी कारण से भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्मोपदेश-सभा में यह सूचन किया था कि "जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुचता है वह इसी भव मे संसार से मुक्त होता है।"

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रो ने अष्टापद पर्वत स्थित जिनचैत्य, स्तूप आदि को अपने पूर्वज वश्य भरत चक्रवर्ती के स्मारको की रक्षार्थ उनके चारो तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गगा के जल प्रवाह से भरवा दिया था। ऐसा प्राचीन जैन कथा साहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त अनेक कारणो से हमारा "अष्टापद तीर्थ" कि जिसका निर्देश आचारांग-निर्युक्ति मे सर्वप्रथम किया है, हमारे लिए आज अदर्शनीय और लुप्त बन चुका है।

आचाराग निर्युक्ति के अतिरिक्त "आवश्यक निर्युक्ति" की निम्नलिखित गाथाओ से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है—

"अह भगव भवमहणो, पुव्वाणमणूणग सयसहस्स।
अणुपुव्वी विहरिऊण, पत्तो अट्ठावय सेल ॥४३३॥

सिद्धस्तव की यह तथा इसके बाद की "चत्तारिअट्ठ" ये दोनो गाथाये प्रक्षिप्त मालूम होती हैं। परन्तु ये कब और किसने प्रक्षिप्त की यह कहना कठिन है। प्रभावक-चरितान्तर्गत आचार्य "वप्पभट्टि" के प्रबन्ध मे एक उपाख्यान है, जिसका साराश यह है—

"एक समय शत्रुंजय-उज्जयत तीर्थ की यात्रा के लिए "राजा आम" सघ लेकर उज्जयंत की तलहटी में पहुँचा। वहा 'दिगम्बर जैन सघ" भी आया हुआ था, उसने आम को ऊपर जाने से रोका, तब आम के सैनिक बल का प्रयोग करने को उद्यत हुए। "वप्पभट्टि सूरि" ने उनको रुकवाकर कहा—धार्मिक कार्यों के निमित्त प्राणी सहार करना अनुचित है। इस झगड़े का निपटारा दूसरे प्रकार से होना चाहिए। आचार्य ने कहा–दो कुमारी कन्याओ को बुलाना चाहिये। श्वेताम्बरो की कन्या दिगम्बर सघ के पास और दिगम्बर संघ की कन्या श्वेताम्बर सघ के पास रखी जाय। फिर दोनो सघो के अग्रेसर धर्माचार्य, कन्याओ को तीर्थ का निर्णय करने का प्रमाण पूछें। दोनो सघो के वृद्धों ने उक्त बात को मान्य किया, तब आचार्य बप्पभट्टि सूरि ने श्वेताम्बर सघ की तरफ खडी दिगम्बर सघ की कन्या के मुख से अम्बिका देवी द्वारा "उज्जितसेलसिहरे" यह गाथा कहलायी और तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का स्थापित किया।"

परन्तु यह उपाख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान् नही है, क्योकि आचार्य बप्पभट्टि विक्रम सवत् ८०० मे जन्मे थे और नवमी शताब्दी मे उनका जीवन व्यतीत हुआ था। तब आचार्य हरिभद्र सूरिजी, जो इनके सौ वर्षों से भी अधिक पूर्ववर्ती थे, आवश्यकटोका मे कहते हैं—

"सिद्धस्तव की आदि की तीन गाथाये नियम पूर्वक बोली जाती है। परन्तु अन्तिम दो गाथाओ के बोलने का नियम नही हैं।"

इससे यह सिद्ध होता है कि ये गाथाएँ है तो प्राचीन, फिर भी हरिभद्र सूरिजी ने ही नही इनके परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र सूरिजी आदि ने भी अपने ग्रन्थो मे यही आशय व्यक्त किया है। इससे ये गाथायें प्रक्षिप्त ही होनी चाहिए।

प्रचलित हुआ। "चिताकुण्डों में अग्नि-चयन करने के कारण तीन कुण्डों में अग्नि स्थापना करने का प्रचार चला और वैसा करने वाले "आहिताग्नि" कहलाये।

उपर्युक्त सूत्रोक्त वर्णन के अतिरिक्त भी अष्टापद तीर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वृत्तान्त सूत्रो, चरित्रों तथा प्रकीर्णक जैन-ग्रन्थो मे मिलते हैं, परन्तु उन सब के वर्णनो द्वारा लेख को बढ़ाना नही चाहते।

(२) उज्जयन्त[1] :

"उज्जयन्त" यह गिरनार पर्वत का प्राचीन नाम है। इसका दूसरा प्राचीन नाम "रैवतक" पर्वत भी है। "गिरनार" यह इसका तीसरा पौराणिक नाम है जो कल्पो, कथाओ आदि में मिलता है।

उज्जयन्त तीर्थ का नामनिर्देश आचारांग निर्युक्ति मे किया गया है जो ऊपर बता आए हैं। इसके अतिरिक्त कल्प-सूत्र, दशाश्रुत-स्कन्ध, आवश्यक सूत्र आदि मे भी इसके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्र मे इस पर भगवान् नेमिनाथ की दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाण नामक तीन कल्याणक होने का प्रतिपादन किया गया है। आवश्यक सूत्रान्तर्गत सिद्धस्तव की निम्नोद्धृत गाथा मे भी भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक होने का सूचन मिलता है, जैसे—

"उज्जितसेलसिहरे, दिक्खा नाण निसीहिआ जस्स।
त धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमसामि ॥ ४ ॥"

अर्थात्—'उज्जयन्त पर्वत के शिखर पर जिनकी दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुआ उन धर्मचक्रवर्ती भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार करता हूँ।'

---

१. दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थकारो ने "उज्जयन्त" के स्थान में इसका नाम "ऊर्जयन्त" लिखा है।

अर्थात्—'अवलोकन शिखर की शिला के पश्चिम दिग्विभाग में शुक की पाख सा हरे रंग का वेधक रस झरता है, जो ताम्र को श्रेष्ठ सुवर्ण बनाता है ॥ २७ ॥

उज्जयत पर्वत के प्रद्युम्नावतार तीर्थस्थान मे अम्बिका आश्रम पद नामक वन (उद्यान) है, जहां पर पीत वर्ण की मिट्टी पाई जाती है, जिसे तेज आग की आच देने से बढ़िया सोना बनता है ॥ २८ ॥

उज्जयन्त पर्वत के प्रथम शिखर पर चढकर, दक्षिण दिशा मे तीन सौ धनुष अर्थात् बारह सौ हाथ नीचे उतरना। वहां पूतिकरञ्ज नामक एक बिल अर्थात् "भू-विवर" मिलेगा, उसको खोलकर सावधानी के साथ उसमें प्रवेश करना, अडतालीस हाथ तक भीतर जाने पर लोहे का सोना बनाने वाला दिव्य रस मिलेगा जो जम्बु फल सदृश रग का होगा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

उज्जयन्त पर्वत पर ज्ञानशिला नाम से प्रख्यात एक बडी शिला है, जिस पर गण्ड-शैलो का एक जत्था रहा हुआ है। उससे उत्तर दिशा मे जाने पर दक्षिण की तरफ जाने वाला एक अधोमुख विवर (गड्ढा) मिलेगा, उसमे चालीस हाथ नीचे उतरने पर दक्षिण भाग मे हिंगुल जैसा रक्तवर्ण शत-वैधी रस मिलेगा, जो ताबे को वेधकर सोना बनाता है। इसमे कोई सशय नही है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जो जिनभक्त कुष्माण्डी (अम्बिका) देवी को प्रणाम करके, मन में शका लाये विना उज्जयन्त पर्वत पर रसायनकल्प की साधना करेगा, वह मनोभिलपित सुख को प्राप्त करेगा ॥ ४१ ॥

जिनप्रभ सूरि कृत उज्जयन्त महाकल्प के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कल्प और स्तव उपलब्ध होते हैं, जो पौराणिक होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। हम इन सब के उद्धरण देकर लेख को पूरा करेंगे।

"उज्जयन्त तीर्थ" के सम्बन्ध मे अन्य भी अनेक सूत्रो तथा उनकी टीकाओ में उल्लेख मिलते हैं, परन्तु उन सब का यहा वर्णन करके लेख को बढ़ाना उचित न होगा। आचार्य जिनप्रभ सूरि कृत "उज्जयन्त महातीर्थ-कल्प" तथा अन्य विद्वानों के रचे हुए प्रस्तुत तीर्थ के "स्तव" आदि उपयोगी साहित्य के कतिपय उद्धरण देकर इस विषय को पूरा करना ही योग्य समझा जाता है।

उज्जयन्त पर्वत के अद्भुत खनिज पदार्थों से समृद्धिशाली होने के सम्बन्ध मे आचार्य जिनप्रभ ने अपने तीर्थकल्प मे बहुत सी बाते कही हैं जिनमे से कुछेक मनोरंजक नमूने पाठको के अवलोकनार्थ नीचे दिये जाते हैं—

"अवलोअण सिहरसिला,—अवरेण तत्थ वररसो सवइ।
सुअपक्खसरिसवण्णो, करेइ सुव वर हेम ॥ २७ ॥
गिरिपज्जुन्नवयारे, अविअआसमपय च नामेण ।
तत्थ वि पीआ पुहवी, हिमवाए धमियाए वा होइ वर हेम ॥२८॥"

"उज्जितपढमसिहरे, आरुहिउ दाहिणेन अवयरिउ ।
तिण्णि धणुसयमित्ते, पूइकरज विल नाम ॥३०॥
उग्घाडिड विल दिक्खिऊण निउणेन तत्थ गतव्व ।
दडतराणि वारस, दिव्वरसो जवुफलसरिसो ॥३१॥"

"उज्जिते नाणसिला, विक्खाया तत्थ अत्थि पाहाणं ।
ताण उत्तरपासे, दाहिणओ अहोमुहो विवरो ॥३६॥
तस्स य दाहिणभाए, दसधणुभूमीइ हिगुलयवण्णो ।
अत्थि रसो सयवेही, विधइ सुव्वं न सदेहो ॥३७॥"

"इय उज्जयन्तकप्प, अविअप्पं जो करेइ जिणभत्तो ।
कोहादिकयपण (स) मो, सो पावइ इच्छिअ सुक्ख ॥४१॥"
(वि० ती० क० पृ० ८)

कलूपता जानकर अम्बिका देवी ने उस रत्नमयी प्रतिमा की झल-हलती कान्ति को ढाक दिया। (वि० ती० क० पृ० ६)

इसी कल्प मे इस तीर्थ सम्बन्धी अन्य भी ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, जो नीचे दिये जाते हैं—

"पुर्वि गुज्जर जयसिहदेवेण खगारराय हणित्ता सज्जणो दडाहिवो ठविओ। तेण अ अहिणवं नेमिजिणिंदभवण एगारस-सय-पचासीए (११८५) विक्कमरायवच्छरे काराविअ। चोलुक्कचक्किसिरिकुमारपाल-नरिदसंठविअ सोरट्ठदंडाहिवेण सिरिसिरिमालकुलुब्भवेण बारस सयवीसे (१२२०) विक्कम संवच्छरे पज्जा काराविआ। तब्भवेण धवलेण अंतराले पवा भराविआ। पज्जाए चडतेहिं जणेहिं दाहिणदिसाए लक्खारामो दीसइ।" (वि० ती० क० पृ० ६)

अर्थात्—पूर्वकाल मे गुर्जर भूमिपति चौलुक्य राजा जयसिंह देव ने जुनागढ़ के राजा रा खेङ्गार को मारकर दण्डाधिपति सज्जन को वहा का शासक नियुक्त किया। सज्जन ने विक्रम सवत् ११८५ मे भगवान् नेमिनाथ का नया भवन बनवाया। बाद मे मालवाभूमिभूषण साधु भावड ने उस पर सुवर्णमय आमलसारकर करवाया।

चौलुक्यचक्रवर्ती श्रीकुमारपाल देव द्वारा नियुक्त श्रीश्रीमाल कुलोत्पन्न सौराष्ट्र दण्डपति ने विक्रम सवत् १२२० मे उज्जयन्त पर्वत पर चढने का सोपानमय मार्ग करवाया। उसके पुत्र धवल ने सोपान-मार्ग मे प्रपा बनवाई। इस पद्या मार्ग से ऊपर चढने वाले यात्रिक जनो को दक्षिण दिशा मे लक्षाराम नामक उद्यान दीखता है।

इन कल्पो के अतिरिक्त उज्जयन्त तीर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक स्तुति-स्तोत्र भी भिन्न भिन्न कवियो के बनाये हुए जैन ज्ञान भण्डारों मे उपलब्ध होते हैं, जिनमे से थोड़े से श्लोक नीचे उद्धृत करके इस तीर्थ का वर्णन समाप्त करेंगे।

'खैतक-गिरि-कल्प सक्षेप' में इस तीर्थ के विषय में कहा गया है— भगवान् नेमिनाथ ने छत्रशिला के समीप शिलासन पर दीक्षा ग्रहण की। सहस्राम्रवन की ग्रोर ग्रवलोकन नामक ऊँचे शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।

"खैतक की मेखला मे कृष्ण वासुदेव ने निष्क्रमणादि तीन कल्याणकों के उत्सव करके रत्न-प्रतिमाग्रो से शोभित तीन जिनचैत्य तथा एक अम्बा देवी का मन्दिर वनवाया। (वि० ती० क० पृ० ६)

"खैतक-गिरि कल्प मे कहा है—पश्चिम दिशा मे सौराष्ट्र देश स्थित रैवतक पर्वनराज के शिखर पर श्रीनेमिनाथ का वहुत ऊँचे शिखर वाला भवन था, जिसमे पहले भगवान् नेमिनाथ की लेपमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। एक समय उत्तरापथ के विभूषण समान काश्मीर देश से "ग्रजित" तथा "रतना" नामक दो भाई संघपति वनकर गिरनार तीर्थ की यात्रा करने आए ग्रौर भक्तिवश केसर चन्दनादि के घोल से कलश भरकर उस प्रतिमा को ग्रभिषिक्त किया। परिणामस्वरूप वह लेपमयी प्रतिमा लेप के गल जाने से वहुत ही बिगड़ गई। इस घटना से संघपति युगल वहुत ही दुःखी हुग्रा ग्रौर ग्राहार का त्याग कर दिया। इक्कीस दिन के उपवास के ग्रन्त मे भगवती ग्रम्बिका देवी वहा प्रत्यक्ष हुई ग्रौर सघपति को उठाया। उसने देवी को देखकर 'जय जय' शब्द किया। देवी ने सघपति को एक रत्नमयी प्रतिमा देते हुए कहा—लो यह प्रतिमा ले जाकर बैठा दो, पर प्रतिमा को स्थल पर वैठाने के पहले पीछे न देखना। सघपति ग्रजित सूत के कच्चे धागे के सहारे प्रतिमा को ग्रन्दर ले जा रहा था। वह प्रतिमा के साथ "नेमि भवन" के सुवर्णवलानक मे पहुचा ग्रौर विंव के द्वार की देहली के ऊपर पहुचते सघपति का हृदय हर्ष से उमड पड़ा ग्रौर देवी की शिक्षा को भूलकर सहसा उसका मुह पिछली तरफ मुड गया ग्रौर प्रतिमा वहां ही निश्चल हो गयी। देवी ने "जय जय" शब्द के साथ पुष्पवृष्टि की। यह प्रतिमा सघपति द्वारा नवनिर्मित जिन-प्रासाद में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को प्रतिष्ठित हुई। स्नपनादि महोत्सव करके सघपति "ग्रजित" ग्रपने भाई के साथ स्वदेश पहुचा। कलिकाल मे मनुष्यो के चित्त की

शत्रुजयावतारेऽत्र, वस्तुपालेन कारिते ।
ऋषभः पुण्डरीकोऽष्टा-पदो नन्दीश्वरस्तथा ॥ १२ ॥
सिंहयाना हेमवर्णा, सिद्ध-बुद्धसुतान्विता ।
कम्राम्रलुम्बिभृत्-पाणि-रत्राम्बा संघविघ्नहृत् ॥१३॥"
(वि० ती० क० पृ० ७)

'जहां भगवान् के तीन कल्याणक होने के कारण से ही मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने सज्जनो के हृदय को चमत्कृत करने वाला तीन कल्याणक का मन्दिर बनवाया। जिन प्रतिमाओ से भरे इस इन्द्रमण्डप मे रहे हुए भगवान् नेमिनाथ का स्नपन करने वाले पुरुष इन्द्र की शोभा पाते हैं। इस पर्वत की चोटी को–"गजेन्द्रपद" नामक जो अमृत के से जल से भरा और स्नपनीय जिन-प्रतिमाओ का स्नपन करने से समर्थ है–भूषित कर रहा है। यहा वस्तुपाल द्वारा कारित शत्रुञ्जयावतार विहार मे भगवान् ऋषभदेव, गणधर पुण्डरीक स्वामी, अष्टापद चैत्य तथा नन्दीश्वर चैत्य यात्रिको के लिए दर्शनीय चीज हैं। इस पर्वत पर सुवर्ण की सी कान्ति-वाली सिंहवाहन पर आरूढ सिद्ध-बुद्ध नामक अपने पूर्व भविक दो पुत्रो को साथ लिये कमनीय आम की लुम्ब जिसके हाथ मे है ऐसी अम्बादेवी यहा रही हुई संघ के विघ्नो का विनाश करती है।

उज्जयन्त तीर्थ सम्बन्धी उक्त प्रकार के पौराणिक तथा ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुतेरे मिलते है, परन्तु उनके विवेचन का यह योग्य स्थल नही। हम इसका विवेचन यही समाप्त करते हैं।

(३) गजाग्रपद तीर्थ :

गजाग्रपद भी आचाराग निर्युक्ति-निर्दिष्ट तीर्थों मे से एक है, परन्तु वर्तमान काल मे यह व्यवच्छिन्न हो चुका है। इसकी अवस्थिति सूत्रों मे दशार्णपुर नगर के समीपवर्ती दशार्णकूट पर्वत पर बताई है। आवश्यक-चूर्णि मे भी इस तीर्थ को "दशार्ण देश" के मुख्य नगर "दशार्णपुर" के समीपवर्ती पहाड़ी तीर्थ लिखा है और इसकी उत्पत्ति का वर्णन भी दिया है, जिसका संक्षेप सार नीचे दिया जाता है—

"योजनद्वयतुङ्गेऽस्य, शृङ्गे जिनगृहावलिः ।
पुण्यराशिरिवाभाति, शरच्चन्द्रांशुनिर्मला ॥४॥

सौवर्ण-दण्ड-कलशा-मलसारकशोभितम् ।
चारुचैत्यं चकास्त्यस्योपरि श्रीनेमिनः प्रभो. ॥५॥

श्रीशिवासूनुदेवस्य, पादुकात्र निरीक्षिता ।
स्पृष्टाऽर्चिता च शिष्टानां, पापव्यूह व्यपोहति ॥६॥

प्राज्यं राज्य परित्यज्य, जरत्तृणमिव प्रभुः ।
वन्धून् विधूय च स्निग्धान्, प्रपेदेऽत्र महाव्रतम् ॥७॥

अत्रैव केवल देवः, स एव प्रतिलब्धवान् ।
जगज्जनहितैषी स, पर्यणैषीच्च निर्वृतिम् ॥८॥"

अर्थात्—'इस उज्जयन्त गिरि के दो योजन ऊँचे शिखर पर बनवाने वालो के निर्मल पुण्य की राशि सी, चन्द्रकिरण समान उज्ज्वल जिन-मन्दिरो की पक्ति सुशोभित है। इसी शिखर पर सुवर्णमय दण्ड, कलश तथा आमलसारक से सुशोभित भगवान् नेमिनाथ का सुन्दर चैत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। यही पर प्रतिष्ठित शैवेय जिनकी चरणपादुका दर्शन, स्पर्शन और पूजन से भाविक यात्रिक गण के पापो को दूर करती है और यहीं पर जीर्ण तिनखे की तरह समृद्ध राज्य तथा विशाल कुटुम्ब का त्याग कर भगवान् नेमिनाथ ने महाव्रत धारण किये थे और यही पर भगवान् केवल-ज्ञानी हुए, तथा जगत्हित चिन्तक भगवान् नेमिनाथ यही से निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

"अतएवात्र कल्याण - त्रयमन्दिरमादधे ।
श्रीवस्तुपालो मन्त्रीशश्चमत्कारितभव्यहृत् ॥ ९ ॥

जिनेन्द्रविवपूर्णेन्द्र - मण्डपस्था जना इह ।
श्री नेमेर्मज्जन कर्तु-मिन्द्रा इव चकासति ॥ १० ॥

गजेन्द्रपदनामास्य, कुण्ड मण्डयते शिरः ।
सुधाविधैर्जलैः पूर्णं, स्नाप्यार्हत्स्नपनक्षमैः ॥ ११ ॥

प्रसंग से लाभ उठाना चाहा। वह अपने ऐरावण हाथी पर आरूढ़ होकर दिव्य परिवार के साथ भगवान् के पास क्षण भर में आ पहुँचा। उसने तीन प्रदक्षिणा देकर दशार्णकूट पवत की एक लम्बी चौडी चट्टान पर अपना वाहन ऐरावण हाथी उतारा। दिव्य-शक्ति से इन्द्र ने हाथी के अनेक दातो पर अनेक बावड़िया, बावड़ियो मे अनेक कमल, कमलो की कणिकाओ पर देव-प्रासाद और उनमे होने वाले बत्तीस पात्रबद्ध नाटको के अद्भुत दृश्य दिखलाकर राजा की शक्ति और सजावट को निस्तेज बनाकर उसके अभिमान को नष्ट कर दिया। राजा ने देखा—इन्द्र की ऋद्धि के सामने मेरी ऋद्धि नगण्य है। भला, सूर्य के प्रकाश के सामने छोटा सा सितारा कैसे चमक सकता है? उसने अपने पूर्व भव के धर्मकृत्यों की न्यूनता जानी और भगवान् महावीर का वैराग्यमय उपदेशामृत पान कर ससार का मोह छोड वह श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गया।

दशार्णकूट की जिस विशाल शिला पर इन्द्र का ऐरावण खडा था, उस शिला में उसके अगले पगो के चिह्न सदा के लिए बन गये। बाद मे भक्तजनो ने उन चिह्नों पर एक बडा जिनचैत्य बनवाकर उसमे भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित करवाई, तब से इस स्थान का नाम "गजाग्रपद" तीर्थ के नाम से अमर हो गया।

आज यह गजाग्रपद तीर्थ भूला जा चुका है। यह स्थान भारतभूमि के अमुक प्रदेश मे था, यह भी निश्चित रूप से कहना कठिन है फिर भी हमारे अनुमान के अनुसार मालवा के पूर्व मे और आधुनिक बुदेलखण्ड के प्रदेश मे कही होना सभवित है।

(४) धर्मचक्र तीर्थ :

आचारागनिर्युक्ति मे सूचित चौथा तीर्थ "धर्मचक्र" है। धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण आवश्यकनिर्युक्ति तथा उसकी प्राचीन प्राकृत टीका मे नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

एक समय श्रमण भगवान् महावीर दशार्ण देश में विचरते हुए अपने श्रमण-संघ के साथ दशार्णपुर के समीपवर्ती एक उपवन मे पधारे। राजा दशार्णभद्र को उद्यानपालक ने भगवान् के पधारने की बधाई दी।

भगवन्त का आगमन जानकर राजा बहुत ही हर्षित हुआ। उसने सोचा "कल ऐसी तैय्यारी के साथ भगवन्त को वन्दन करने जाऊँगा और ऐसे ठाट से वन्दन करूँगा जैसे ठाट से न पहले किसी ने किया होगा, न भविष्य मे करेगा"। उसने सारे नगर मे सूचित करवा दिया कि "कल अमुक समय मे राजा अपने सर्व परिवार के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने जायगा और नागरिकगण को भी उसका अनुगमन करना होगा।

राजकर्मचारीगण उसी समय से नगर की सजावट, चतुरंगिनी सेना के सज्ज करने तथा अन्यान्य समयोचित तैयारियाँ करने के कामो मे जुट गये। नागरिक जन भी अपने अपने घर, हाट सजाने, रथ-यान पालकियों को सज्ज करने लगे।

दूसरे दिन प्रयाण का समय आने के पहले ही सारा नगर ध्वजाओं, तोरणो, पुष्पमालाओ से सुशोभित था। मुख्य मार्गों मे जल छिड़काव कर फूल बिखेरे गये थे। राजा दशार्णभद्र, उसका सम्पूर्ण अन्त.पुर और दास-दासी गण अपने योग्य यानो, वाहनो से भगवान् के वन्दनार्थ रवाना हुए। उनके पीछे नागरिक भी रथो, पालकियो आदि मे बैठकर राज-कुटुम्व के पीछे उमड़ पडे।

महावीर की धर्मसभा की तरफ जाते हुए राजा के मन मे सगर्व हर्ष था। वह अपने को भगवान् महावीर का सर्वोच्च शक्तिशाली भक्त मानता था। ठीक इसी समय स्वर्ग के इन्द्र ने भगवान् महावीर के विहार क्षेत्र को लक्ष्य करके अवधि ज्ञान का उपयोग किया और देखा कि भगवान् दशार्णकूट पहाड़ी के निकटस्थ उद्यान मे विराजमान हैं, राजा दशार्णभद्र अद्वितीय सजधज के साथ उन्हे वन्दन करने जा रहा है। इन्द्र ने भी इस

छउमत्थपरिग्रात्रो, वाससहस्स तग्रो पुरिमताले ।
णग्गोहस्स य हेट्ठा, उप्पण्णं केवल नाण ॥३३९॥

फग्गुणवहुले एक्कारसीइ, ग्रह ग्रट्ठमेण भत्तेणं ।
उप्पण्णमि ग्रणते, महव्वया पच पण्णवए ॥३४०॥"

ग्रर्थात्—वहली (वल्ख-वक्त्रिया) ग्रडवइल्ला (ग्रटक प्रदेश) यवन (यूनान) देश ग्रौर स्वर्णभूमि इन देशो में भगवान् ऋपभ ने तपस्वी जीवन में भ्रमण किया। वल्ख, यवन, पल्हव देशवासी भगवान् के ग्रनुशासन से क्रौर्य्य का त्याग कर भद्र परिणामी वने। तीर्थङ्करो मे ग्रादि तीर्थङ्कर ऋषभ मुनि सर्वत्र निरुपसर्गता से विचरे। ग्रादि जिन की ग्रग्र-विहार भूमि ग्रष्टापद तीर्थ वन रहा, ग्रर्थात्–पूर्व पश्चिम भारत के देशो मे घूमकर उत्तर भारत मे ग्राते, तव वहुधा 'ग्रष्टापद पर्वत' पर ही ठहरते। भगवान् ऋषभ जिन का छद्मस्थ पर्याय (तपस्वी जीवन) एक हजार वर्ष तक वना रहा। वाद मे ग्रापको पुरिमताल नगर के वाहर वटवृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए केवल-ज्ञान प्रकट हुग्रा। उस समय ग्रापने निर्जल तीन उपवास किये थे। फाल्गुन वदि एकादशी का दिन था, इन संजोगो मे ग्रनन्त केवल-ज्ञान प्रकट हुग्रा ग्रौर ग्रापने श्रमणधर्म के पच महाव्रतो का उपदेश किया।

धर्मचक्र को वाहुवली ने ऋपभदेव के स्मारक के रूप मे बनवाया था, परन्तु कालान्तर मे उस स्थान पर जिनचैत्य वनकर जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई ग्रौर इस स्मारक ने एक महातीर्थ का रूप धारण किया। प्रतिष्ठित जिनचैत्यों मे "चन्द्रप्रभ" नामक ग्राठवें तीर्थङ्कर का चैत्य प्रतिमा प्रधान था। इस कारण से इस तीर्थ के साथ "चन्द्रप्रभ" का नाम जोड दिया गया ग्रौर दीर्घकाल तक वह इसी नाम से प्रसिद्ध रहा। महानिशीथ नामक जैन सूत्र मे इसका वृत्तान्त मिलता है, जिसमे से थोडा सा ग्रवतरण यहा देना योग्य समझते है—

"ग्रहन्नया गोयमा ! ते साहुणो त ग्रायरिय भणति-जहा ण जइ भयव तुम ग्राणवेहि, ताण ग्रम्हे [हिं] तित्थयत्त करिय। चदप्पहसामिय वदिया धम्मचक्के गंतूणमागच्छामो,। ताहे गोयमा ग्रदीणमणसा

"कल्ल सव्विड्ढीए, पूएमहऽदट्ठु धम्मचक्क तु ।
विहरइ सहस्समेग, छउमत्थो भारहे वासे ॥३३५॥"

अर्थात्—भगवान् ऋषभदेव हस्तिनापुर से विहार करते हुए पश्चिम मे वहली देश की राजधानी तक्षशिला[1] के उद्यान मे पधारे। वनपालक ने राजा बाहुवली को भगवान् के आगमन की बधाई दी। राजा ने सोचा—कल सर्व ऋद्धि-विस्तार के साथ भगवान् की पूजा करूगा। राजा बाहुबली दूसरे दिन वड़े ठाट-वाट से भगवान् की तरफ गया, परन्तु उसके जाने के पूर्व ही भगवान् वहा से विहार कर चुके थे। अपने पूज्य पिता ऋषभ को निवेदित स्थान तथा उसके आसपास न देखकर बाहुवली बहुत ही खिन्न हुए और वापिस लौटकर भगवान् रात भर जहां ठहरे थे उस स्थान पर एक वडा गोल चक्राकार स्तूप बनवाया और उसका नाम "धर्मचक्र" दिया। भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थावस्था मे एक हजार वर्ष तक विचरे।

आवश्यक-निर्युक्ति की उपर्युक्त गाथा के विवरण में चूर्णिकार नें धर्मचक्र के सम्बन्ध मे जो विशेषता वताई है, वह निम्नलिखित है—

जहा भगवान् ठहरे थे, उस स्थान पर सर्व-रत्नमय एक योजन परिधि वाला, जिस पर पाच योजन ऊँचा ध्वजदड खडा है, "धर्मचक्र" का चिह्न बनवाया।

"बहली अडवइल्ला, जोणगविसओ सुवण्णभूमीअ ।
आहिंडिआ भगवया, उसभेण तव चरतेण ॥३३६॥

बहली अ जोणगा पल्हगा य जे भगवया समणुसिट्ठा ।
अन्ने य मिच्छजाई, ते तइया भद्दया जाया ॥३३७॥

तित्थयराण पढमो, उसभरिसी विहरिओ निरुवसग्गो ।
अट्ठावओ णगवरो, अग्ग (य) भूमी जिणवरस्स ॥३३८॥

(१) आधुनिक पश्चिमी पंजाब के रावलपिंडी जिले में "शाह की ठेरी" नाम से जो स्थल प्रसिद्ध है वही प्राचीन 'तक्षशिला" थी, ऐसा शोधको का निर्णय है।

तक्षशिला का धर्मचक्र बहुत काल पहिले से ही जैनों के हाथ से चला गया था। इसके दो कारण थे—१. विक्रम की दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। यही नही, तक्षशिला विश्वविद्यालय मे हजारों बौद्ध भिक्षु तथा उनके अनुयायी छात्रगण विद्याध्ययन करते थे। इस कारण तक्षशिला के तथा पुरुषपुर (पेशावर) के प्रदेशो मे हजारो की संख्या मे बौद्ध-उपदेशक घूम रहे थे। इसके अतिरिक्त २. "शशेनियन" लोगो के भारत पर होने वाले आक्रमण की जैन सघ को आक्रमण से पहले ही सूचना मिल चुकी थी कि "आज से तीसरे वर्ष मे तक्षशिला का भंग होने वाला है", इससे जैन संघ धीरे धीरे तक्षशिला से दक्षिण की तरफ पहुच कर जल-मार्ग से "कच्छ" तथा "सौराष्ट्र" तक चला गया। जाने वाले अपनी धन-सपत्ति को ही नही, अपनी पूज्य देव-मूर्तियो तक को वहा से हटा ले गये थे। इस दशा में अरक्षित जैन स्मारको तथा मन्दिरों पर बौद्ध धर्मियों ने अपना अधिकार कर लिया था। तक्षशिला का धर्मचक्र जो चन्द्रप्रभ का तीर्थ माना जाता था, उसको भी बौद्धों ने अपना लिया और उसे "बोधिसत्त्व चन्द्रप्रभ" का प्राचीन स्मारक होना उद्घोषित किया। बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाग, जो कि विक्रम की षष्ठी शताब्दी मे भारत मे आया था, अपने "भारतयात्राविवरण" मे लिखता है—

"यहा पूर्वकाल मे बोधिसत्त्व "चन्द्रप्रभ" ने अपना मांस प्रदान किया था, जिसके उपलक्ष्य मे मौर्य सम्राट अशोक ने उसका यह स्मारक बनवाया है।"

उक्त चीनी यात्री के उल्लेख से यह तो निश्चित हो जाता है कि "धर्मचक्र" विक्रमीय छठी शती के पहले ही जैनो के हाथ से चला गया था। निश्चित रूप से तो नही कहा जा सकता, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि "शशेनियन लोग जो ईसा की तीसरी शताब्दी मे आक्रामक बनकर तक्षशिला के मार्ग से भारत मे आए। लगभग उसी काल मे "धर्मचक्र" बौद्धो का स्मारक बन गया होगा।

अणुत्तालगभीरमहुराए भारतीए भणिय तेणायरियेणं जहा इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्तं गतुं सुविहियाणं; ता जाव णं वोलेइ जत्तं ताव णं अहं तुम्हे चंदप्पह वंदावेहामि। अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ; एएण कारणेणं तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ।"

अर्थात्—भगवान् महावीर कहते है—हे गोतम! अन्य समय वे साधु उस आचार्य को कहते हैं—हे भगवन्! यदि आप आज्ञा करें तो हम तीर्थ-यात्रा करने चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन करने धर्मचक्र जाकर आ जाएँ। तव हे गौतम! उस आचार्य ने दृढ़ता से सोचकर गभीर वाणी से कहा—'इच्छाकार से सुविहित साधुओ को तीर्थयात्रा को जाना नही कल्पता। इसलिए जव यात्रा बीत जायगी तव मैं तुम्हे चन्द्रप्रभ का वन्दन करा दू गा। दूसरा कारण यह भी है कि तीर्थ-यात्राओं के प्रसगो पर साधुओ को तीर्थों पर जाने से असयम मार्ग मे पड़ना पड़ता है। इसी कारण साधुओ के लिए यात्रा निषिद्ध की गई है।[1]

महानिशीथ मे ही नही, अन्य सूत्रो मे भी जैन श्रमणो को तीर्थ-यात्रा के लिए भ्रमण करना वर्जित किया है। निशीथ सूत्र की चूर्णि में लिखा है—"उत्तरावहे धम्मचक्कं, मधुराए देवणिम्मिओ थूभो। कोसलाए वा जियतपडिमा तित्थकराण वा जम्मभूमीओ एवमादिकारणेहिं गच्छन्तो णिक्कारणिनो" (२४३–२ नि० चू०) अर्थात्—'उत्तरापथ मे धर्मचक्र, मथुरा मे देवनिर्मित स्तूप, अयोध्या मे जीवत स्वामी प्रतिमा, अथवा तीर्थङ्करो की जन्मभूमियाँ' इत्यादि कारणो से देश भ्रमण करने वाले साधु का विहार निष्कारणिक कहलाता है। उक्त महानिशीथ के प्रमाण से मेले के प्रसग पर तीर्थ पर साधु के लिए जाना वर्जित किया ही है, परन्तु निशीथ आदि आगमो के प्रमाणो से केवल तीर्थदर्शनार्थ भ्रमण करना भी जैन श्रमण के लिए निषिद्ध वताया है। जैन श्रमण के लिए सकारण देश-भ्रमण करना आगम-विहित है। तीर्थ-वन्दन के नाम से भडकने वाले तथा केवल तीर्थ वन्दना के लिए भटकने वाले हमारे वर्तमान-कालीन जैन श्रमणो को इन शास्त्रीय वर्णनो से वोध लेना चाहिए।

---

(१) यहा 'यात्रा' शब्द तीर्थ पर होने वाले मेले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

'यहा एक सिद्धरस कूपिका भी दृष्टिगोचर होती है जिसका मुख पाषाण शिला से ढँका हुआ है। इस मुख को खोलने के लिए एक म्लेच्छ राजा ने बहुत कोशिश की, यहा तक कि रखी हुई शिला पर बहुत तीव्र आग जलाकर उसे तोड़ना चाहा, परन्तु वह अपने सभी प्रयत्नो मे निष्फल रहा।'

'पार्श्वनाथ की यात्रा करने आये हुए यात्रीगण अब भी जब भगवान् का "स्नपनमहोत्सव" करते हैं; उस समय कमठ दैत्य प्रचण्ड-पवन और बादलों द्वारा यहा पर दुर्दिन कर देता है।'

'मूल चैत्य से थोड़ी दूरी पर सिद्धक्षेत्र मे धरणेन्द्र-पद्मावती सेवित पार्श्वनाथ का मन्दिर बना हुआ है।'

'नगर के दुर्ग के समीप नेमिनाथ की मूर्ति से सुशोभित सिद्ध-बुद्ध नामक दो बालक रूपकों से समन्वित, हाथ मे आम्रफलो की डाली लिए सिह पर आरूढ़ अम्बा देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित है।'

'यहा उत्तरा नामक एक निर्मल जल से भरी बावड़ी है, जिसके जल में नहाने तथा उसकी मिट्टी का लेप करने से कोढ़ियो के कोढ़ रोग शान्त हो जाते हैं।'

'यहा रहे हुए धन्वन्तरी नामक कुए की पीली मिट्टी से आम्नाय-वेदियों के आदेशानुसार प्रयोग करने से सोना बनता है।'

'यहा ब्रह्मकुण्ड के किनारे मण्डूक-पर्णी ब्राह्मी के पत्तो का चूर्ण एकवर्णी गाय के दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य की बुद्धि और नीरोगता बढ़ती है और उसका स्वर गन्धर्व का सा मधुर बन जाता है।'

'बहुधा अहिच्छत्रा के उपवनो मे सभी वृक्षो पर बन्दाक उगे हुए मिलते हैं जो अमुक-अमुक कार्य साधक होते है। यही नही, यहा के उपवनो मे जयन्ती, नागदमनी, सहदेवी, अपराजिता, लक्ष्मणा, त्रिपर्णी, नकुली, सकुली, सर्पाक्षी, सुवर्णशिला, मोहनी, श्यामा, रविभक्ता

(५) अहिच्छत्रा - पार्श्वनाथ :

आचारागनिर्युक्ति-सूचित "पार्श्व" अहिच्छत्रा नगरी स्थित पार्श्वनाथ है। भगवान् पार्श्वनाथ प्रव्रजित होकर तपस्या करते हुए एक समय कुरु-जागल देश मे पधारे। वहा शखावती नगरी के समीपवर्ती एक निर्जन स्थान मे आप ध्यान-निमग्न खडे थे, तब उनके पूर्व भव के विरोधी "कमठ" नामक असुर ने आकाश से घनघोर जल बरसाना शुरु किया। बडे जोरो की वृष्टि हो रही थी। कमठ की इच्छा यह थी कि पार्श्वनाथ को जलमग्न करके इनका ध्यान भग किया जाय। ठीक उसी समय "धरणेन्द्र नागराज" भगवान् को वन्दन करने आया। उसने भगवान् पर मुशलधार वृष्टि होती देखी। धरणेन्द्र ने भगवान् के ऊपर "फरण-छत्र" किया और इस अकाल वृष्टि करने वाले कमठ का पता लगाया। यही नही, उसे ऐसे जोरो से धमकाया कि तुरन्त उसने अपने दुष्कृत्य को बन्द किया और भगवान् पार्श्वनाथ के चरणो में शिर नमाकर धरणेन्द्र से माफी मांगी। जलोपद्रव के शान्त हो जाने के बाद नागराज धरणेन्द्र ने अपनी दिव्य शक्ति के प्रदर्शन द्वारा भगवान् की बहुत महिमा की। उस स्थान पर कालान्तर मे भक्त लोगो ने एक बडा जिन-प्रासाद बनवाकर उसमें पार्श्वनाथ की नागफरणछत्रालकृत प्रतिमा प्रतिष्ठित की। जिस नगरी के समीप उपर्युक्त घटना घटी थी वह नगरी भी "अहिच्छत्रा नगरी" इस नाम से प्रसिद्ध हो गई।

अहिच्छत्रा विषयक विशेष वर्णन सूत्रो मे उपलब्ध नही होता, परन्तु जिनप्रभ सूरि ने "अहिच्छत्रा नगरी कल्प" मे इस तीर्थ के सम्बन्ध मे कुछ विशेष बातें कही हैं, जिनमे से कुछ नीचे दी जाती हैं—

'अहिच्छत्रा पार्श्व जिनचैत्य के पूर्व दिशाभाग मे सात मधुर जल से भरे कुण्ड अब भी विद्यमान है। उन कुण्डो के जल मे स्नान करने वाली मृतवत्सा स्त्रियो की प्रजा स्थिर[1] रहती है। उन कुण्डो की मिट्टी से धातुवादी लोग सुवर्णसिद्धि होना बताते हैं।'

---

(१) जीवित

वज्रस्वामी ने अपने विद्यावल से आहार मगवाकर साधुओ को दिया और कहा—वारह वर्ष तक इसी प्रकार विद्या-पिण्ड से शरीर-निर्वाह करना होगा। इस प्रकार जीवननिर्वाह करने में लाभ मानते हो तो वैसा करें अन्यथा अनशन द्वारा जीवन का अन्त कर दें। श्रमणो ने एक मत से अपनी राय दी कि इस प्रकार दूषित आहार द्वारा जीवननिर्वाह करने से तो अनशन से देह त्याग करना ही अच्छा है। इस पर विचार करके आर्य वज्रस्वामी ने अपने एक शिष्य वज्रसेन मुनि को थोडे से साधुओ के साथ कोंकण प्रदेश मे विहार करने की आज्ञा दी और कहा—'जिस दिन तुमको एक लक्ष सुवर्णों से निष्पन्न भोजन मिले तव जानना कि दुर्भिक्ष का अन्तिम दिन है। उसके दूसरे ही दिन अन्नसकट हल्का होने लगेगा। अपने गुरुदेव की आज्ञा सिर चढाकर वज्रसेन मुनि ने कोकण देश की तरफ विहार किया और वज्रस्वामी ने पाच सौ मुनियो के साथ रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन धारण किया।

वज्रस्वामी के उपर्युक्त वर्णन से जाना जा सकता है कि वज्रसेन के विहार करने पर तुरन्त आप वहा से अनशन के लिए रवाना हो गये हैं और निकट प्रदेश मे ही रहे हुए रथावर्त पर्वत पर अनशन किया है। प्राचीन विदिशा नगरी (आज का भिल्सा) के समीप पूर्वकाल मे "कुजरा-वर्त" तथा "रथावर्त" नामक दो पहाडिया थी। वज्रस्वामी ने इसी "रथावर्त" नामक पर्वत पर अनशन किया होगा और यही "रथावर्त" पर्वत जैनो का प्राचीन तीर्थ होगा, ऐसा हमारा मानना है।

(७) चमरोत्पात :

भगवान् महावीर छद्मस्थावस्था के वारहवे वर्ष मे वैशाली की तरफ विहार करते हुए सुसुमारपुर नामक स्थान पर—स्थान के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ थे। तब चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र वहां आया और महावीर की शरण लेकर स्वर्ग के इन्द्र शक्र पर चढाई कर गया। सुधर्मा सभा के द्वार तक पहुच कर शक्र को धमकाने लगा। शक्रेन्द्र ने भी चमरेन्द्र को मार हटाने के लिए अपना वज्रायुध उसकी तरफ

(सूर्यमुखी), निर्विषी, मयूरशिखा, शल्या, विशल्यादि अनेक महौषधिया यहा मिला करती है ।'

'अहिच्छत्रा मे विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चण्डिकादि के मन्दिर तथा ब्रह्मकुण्ड आदि अनेक लौकिक तीर्थ स्थान भी बने हुए है ।' 'यह नगरी सुगृहीतनामधेय "कण्व ऋषि" की जन्मभूमि मानी जाती है ।'

उपर्युक्त अहिच्छत्रा तीर्थस्थान वर्तमान में कुरु देश के किसी भूमि-भाग मे खण्डहरों के रूप मे भी विद्यमान है या नही इसका विद्वानो को पता लगाना चाहिए ।

(६) रथावर्त (पर्वत) तीर्थ :

प्राचीन जैन तीर्थों मे "रथावर्त पर्वत" को निर्युक्तिकार ने षष्ठ नम्बर मे रखा है । यह पर्वत आचारांग के टीकाकार शीलाङ्क सूरि के कथनानुसार अन्तिम दश पूर्वधर आर्य वज्र स्वामी के स्वर्गवास का स्थान है । पिछले कतिपय लेखको का भी मन्तव्य है कि वज्र स्वामी के अनशन-काल मे इन्द्र ने आकर इस पर्वत की रथ मे बैठकर प्रदक्षिणा की थी जिससे इसका नाम "रथावर्त" पडा था । परन्तु यह मन्तव्य हमारी राय में प्रामाणिक नही है, क्योकि आर्य वज्र स्वामी के अनशन का समय विक्रमीय द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध है, जब कि आचाराग निर्युक्तिकार श्रुतधर आर्य रक्षित आर्य वज्र के समकालीन कुछ ही परवर्ती हो गए है । इससे पर्वत का रथावर्त, यह नामकरण भी सगत हो जाता है ।

निर्युक्तिकार को भद्रबाहु मानने से पर्वत का नाम रथावर्त नही बैठता । रथावर्त पर्वत किस प्रदेश मे था, इस बात का विचार करते समय हमे आर्य वज्रस्वामी के अन्तिम समय के विहारक्षेत्र पर विचार करना होगा । आर्य वज्र स्वामी अपनी स्थविर अवस्था मे सपरिवार मालवा देश मे विचरते थे, ऐसा जैन ग्रन्थो के उल्लेखो से जाना जाता है । उस समय मध्य भारत मे बड़ा भारी द्वादश वार्षिक दुर्भिक्ष आरम्भ हो चुका था । साधुओ को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था । एक दिन तो स्थविर

पर्वत भगवान् ऋषभदेव का मुख्य विहारक्षेत्र और भरत चक्रवर्ती का सुवर्णमय चैत्यनिर्माण का स्थान माना गया है।

कुछ सस्कृत और प्राकृत कल्पकारो ने भी शत्रुञ्जय के सम्बन्ध में दिल खोलकर गुणगान किया है।

शत्रुञ्जय तीर्थ के गुणगान करने वालो मे मुख्यतया "श्री धनेश्वरसूरि" तथा "श्री जिनप्रभसूरि" का नाम लिया जा सकता है। धनेश्वरसूरिजी ने तो माहात्म्य के उपक्रम मे ही अपना परिचय दे डाला है। वे कहते हैं–'वलभी नगरी के राजा "शीलादित्य" की प्रार्थना से विक्रम संवत् ४७७ (चार सौ सतहत्तर) मे यह शत्रुञ्जयमाहात्म्य मैंने बनाया है। वे स्वय अपने आपको 'राजगच्छ' का मण्डन बताते है। शत्रुञ्जय तीर्थ के सस्कृत-कल्प लेखक श्री जिनप्रभसूरिजी विक्रम की चौहदवी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे; इसमे तो कोई शका ही नही। इन्होंने विक्रम स० १३८५ मे यह कल्प लिखा है। इस कल्प की और शत्रुञ्जयमाहात्म्य की मौलिक बातें एक दूसरे का आदान-प्रदान रूप मालूम होती है, परन्तु धनेश्वरसूरिजी का अस्तित्व पंचमी शताब्दी मे होने का उनकी यह कृति ही प्रतिवाद करती है। इस माहात्म्य मे शीलादित्य का तो क्या चौदहवी सदी के जीर्णोद्धारक समरसिंह तक का नाम लिखा मिलता है। इस स्थिति मे इस ग्रन्थ को शीलादित्यकालीन धनेश्वरसूरिजी कृत मानना युक्ति-सगत नही है। हमने पाटन गुजरात के एक प्राचीन ग्रन्थ-भण्डागार मे एक ताड़पत्रों पर लिखी हुई प्राचीन ग्रन्थसूची देखी थी जिसमें विक्रम की तेरहवी शताब्दी तक मे बने हुए सैकड़ों जैन जैनेतर ग्रन्थो के नाम मिलते है परन्तु उसमें 'शत्रुजय माहात्म्य' का तथा 'शत्रुञ्जय कल्प' का नामोल्लेख नही है। बृहट्टिप्पणिका नामक भारतीय जैन ग्रन्थो की एक बड़ी सूची है जो सोलहवी शताब्दी मे किसी विद्वान् जैन श्रमण ने लिखी है। उसमे "शत्रुञ्जय माहात्म्य" का नाम अवश्य मिलता है परन्तु टिप्पणी-लेखक ने इस ग्रन्थ के नाम के आगे "कूट ग्रन्थ' ऐसा अपना अभिप्राय भी व्यक्त कर दिया है। अष्टम शताब्दी से लगाकर चौदहवी शताब्दी तक के किसी भी ग्रन्थ में "शत्रुञ्जय-माहात्म्य" ग्रन्थ अथवा इमसे कर्ता धनेश्वरसूरि का नामोल्लेख नही मिलता।

फेका। आग की चिनगारिया उगलते हुए वज्र को देखकर चमर आया उसी रास्ते से भागा। शक्र ने सोचा,—"चमरेन्द्र यहां तक किसी भी महर्षि तपस्वी की शरण लिये विना नही आ सकता। देखें! यह किसकी शरण लेकर आया है?" इन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि चमर महावीर का शरणागत वनकर आया है और वही जा रहा है। वह तुरन्त वज्र को पकडने दौडा। चमरेन्द्र अपना शरीर सूक्ष्म बनाकर भगवान् महावीर के चरणो के वीच घुसा। वज्रप्रहार उस पर होने के पहले ही इन्द्र ने वज्र को पकड़ लिया। इस घटना से सुसुमारपुर और उसके आसपास के गावो मे सनसनी फैल गई। लोगो के झुड के झुंड घटना स्थल पर आये और घटना की वस्तुस्थिति को जानकर भगवान् महावीर के चरणो मे झुक पडे। भगवान् महावीर तो वहाँ से विहार कर गये परन्तु लोगो के हृदय मे उनके शरणागत—रक्षत्व की छाप सदा के लिए रह गई और घटनास्थल पर एक स्मारक वनवाकर शरणागत-वत्सल भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित की। उस प्रदेश के श्रद्धालु लोग उसे बडी श्रद्धा से पूजते तथा कार्यार्थी यात्रीगण, सार्थवाह आदि अपनी यात्रा की निर्विघ्नता के लिए भगवान् की शरण लेकर आगे बढ़ते थे। यही भगवान् महावीर का स्मारक मदिर आगे जाकर जैनो का "चमरोत्पात"[1] नामक तीर्थ बन गया जिसका आचारागनिर्युक्ति में स्मरण—वन्दन किया है।

चमरोत्पान तीर्थ आज हमारे विच्छिन्न (भुले हुए) तीर्थों मे से एक है। यह स्थान आधुनिक मिर्जापुर जिले के एक पहाडी प्रदेश मे था, ऐसा हमारा अनुमान है।

(८) शत्रुञ्जय - पर्वत :

"शत्रुञ्जय" आज हमारा सर्वोतम तीर्थ माना जाता है। इसका माहात्म्य गाने मे शत्रुञ्जय माहात्म्यकार ने कुछ उठा नही रखा। यह

(१) चमरेन्द्र के शक्रेन्द्र पर चढाई करने के विषय पर भगवती सूत्र मे विस्तृत वर्णन मिलता है, परन्तु उसमे चमरोत्पात के स्थल पर स्मारक वनने और तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध होने की सूचना नही है। मालूम होता है, भगवान् महावीर के प्रवचन का निर्माण होने के समय तक वह स्थान जैन तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध नही हुआ था।

आवश्यक-निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् ऋषभदेव उत्तर-पूर्व और पश्चिम भारत के देशो मे ही विचरे थे। दक्षिण भारत मे अथवा सौराष्ट्र भूमि मे वे कभी नही पधारे। जैन शास्त्रोक्त भारतवर्ष के नकशे के अनुसार आज का सौराष्ट्र देश ऋषभदेव के समय जलमग्न होगा, अथवा तो एक अन्तरीप होगा। इसके विपरीत नेमिनाथ के समय मे यह सौराष्ट्र भूमि समुद्र के बीच होते हुए भी मनुष्यो के बसने योग्य हो चुकी थी। इसी कारण से जरासध के आतक से बचने के लिए यादवो ने इस प्रदेश का आश्रय लिया था, तथा इन्द्र के आदेश से उनके लिए कुबेर ने वहा द्वारिका नगरी का निवेश किया था। भगवान् नेमिनाथ ने इसी द्वारिका के बाहर "रैवतक" पर्वत के समीप प्रव्रज्या ली थी और बहुधा इसी प्रदेश मे विचरे थे। इस वास्तविक स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए हम सौराष्ट्र प्रदेश, उज्जयन्त (गिरनार) और शत्रुञ्जय पर्वत भगवान् नेमिनाथ के विहारक्षेत्र मानेगे तो वास्तविकता के अधिक समीप रहेगे।

(६) मथुरा का देव-निर्मित स्तूप :

मथुरा के "देव-निर्मित स्तूप" का यद्यपि मूल आगमो में उल्लेख नही मिलता तथापि छेद-सूत्रो तथा अन्य सूत्रो के भाष्य, चूर्णि आदि मे इसके उल्लेख मिलते हैं। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"मथुरा नगरी के बाहर वन मे एक क्षपक (तपस्वी जैन साधु) तपस्या कर रहा था। उसकी तपस्या और सतोपवृत्ति से वहा को वन-देवता तपस्वी साधु की तरफ भक्ति-विनम्र हो गई थी। प्रतिदिन वह साधु को वन्दना करती और कहती—"मेरे योग्य कार्य-सेवा फरमाना", क्षपक कहता—"मुझे तुम जैसी अविरत देवी से कुछ कार्य नही।" देवी जब भी क्षपक को कार्य-सेवा के लिए उक्त वाक्य दोहराती तो क्षपक भी अपनी तरफ से वही उत्तर दिया करता था। एक समय देवी के मन मे आया—"तपस्वी बार-बार मुझे कोई कार्य न होने का कहा करते हैं तो अब ऐसा कोई उपाय करू ताकि ये मेरी सहायता पाने के इच्छुक बनें।

इन सब बातों को ध्यान मे रखते हुए हमे यही कहना पडता है कि "शत्रुञ्जयमहात्म्य" अर्वाचीन ग्रन्थ है और इसमें लिखी हुई अनेक बाते अनागमिक हैं।

दृष्टान्त के रूप मे हम एक ही बात का उल्लेख करेंगे। माहात्म्य ग्रन्थों में लिखा है कि—

"शत्रुजय पर्वत का विस्तार प्रथम आरे में ८०, द्वितीय आरे मे ७०, तृतीय आरे मे ६०, चतुर्थ आरे मे ५०, पचम आरे मे १२ योजन का होगा, तव षष्ठ आरे मे केवल ७ हाथ का ही रहेगा।"

जैन आगमो का ही नही किन्तु भूगर्भवेत्ताओ का भी यह सिद्धान्त है कि पर्वत भूमि का ही एक भाग है। भूमि की तरह पर्वत भी धीरे धीरे ऊपर उठता जाता है। लाखो और करोड़ो वर्षों के बाद वह अपने प्रारम्भिक रूप से बडा हो जाता है। तव हमारे इन शत्रुजय माहात्म्यकारो की गगा उल्टी बहती मालूम होती है, इसलिए इस पर्वत को प्रारम्भ मे अस्सी योजन का होकर अन्त मे बहुत छोटा होने का भविष्य कथन करते है। इसी से इन कल्पों की कल्पितता बताने के लिए लिखना बेकार होगा, वास्तव मे पीतल अपने स्वरूप से ही पीतल होता है, युक्ति-प्रयोगों से वह सोना सिद्ध नही हो सकता।

हमारे प्राचीन साहित्य-सूत्रादि मे इसका विशेष विवरण भी नही मिलता। ज्ञाताधर्मकथाग के सोलहवे अध्ययन मे पाच पाण्डवो के शत्रुञ्जय पर्वत पर अनशन कर निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्तकृद्दशाग-सूत्र मे भगवान् नेमिनाथजी के अनेक साधुओ के शत्रुञ्जय पर्वत पर तपस्या द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन मिलता है। इससे इतना तो सिद्ध है कि शत्रुञ्जय पर्वत हजारो वर्षों से जैनों का सिद्ध क्षेत्र वना हुआ है। यह स्थान भगवान् ऋषभदेव का विहारस्थल न मानकर नेमिनाथ का तथा उनके श्रमणो का विहारस्थल मानना विशेष उपयुक्त होगा।

बताओ और साहाय्य करो कि यह स्तूप सम्बन्धी झगड़ा तुरन्त मिटे और स्तूप जैन सम्प्रदाय का प्रमाणित हो।

वनदेवता ने कहा—तपस्वीजी महाराज! आज मेरी सेवा की आवश्यकता हुई न? तपस्वी बोले—"अवश्य यह कार्य तो तुम्हारी सहानुभूति से ही सिद्ध हो सकेगा।"

देवी ने कहा—आप अपने सघ को सूचित करे कि वह आयन्दा राज-सभा मे यह प्रस्ताव उपस्थित करे–"यदि स्तूप पर स्वयं श्वेत ध्वजा फरकने लगेगी तो स्तूप जैनो का समझा जायगा और लाल ध्वजा फरकने पर बौद्धो का।"

क्षपक ने मथुरा जैन सघ के नेताओ को अपने पास बुलाकर वन-देवतोक्त प्रस्ताव की सूचना की। सघनायको ने न्यायाधिकरण के सामने वैसा ही प्रस्ताव उपस्थित किया। राजा तथा न्यायाधिकारियो को प्रस्ताव पसद आया और बौद्धनेताओ से उन्होने इस विषय मे पूछा तो बौद्धों ने भी प्रस्ताव को मजूर किया।

राजा ने स्तूप के चारो ओर रक्षक नियुक्त कर दिये। कोई भी व्यक्ति स्तूप के निकट तक न जाए, इसका पूरा बन्दोबस्त किया, इस व्यवस्था और प्रस्ताव से नगर भर मे एक प्रकार का कौतुकमय अद्भुत रस फैल गया। दोनो सम्प्रदायो के भक्त जन अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण कर रहे थे, तब निरपेक्ष नगरजन कब रात बीते और स्तूप पर फहराती हुई ध्वजा देखें, इस चिन्ता से भगवान् भास्कर से जल्दी उदित होने की प्रार्थनाए कर रहे थे।

सूर्योदय होने के पूर्व ही मथुरा के नागरिक हजारो की सख्या मे स्तूप के इर्द-गिर्द स्तूप की ध्वजा देखने के लिए एकत्रित हो गये। सूर्य के पहले ही उसके सारथि ने स्तूप के शिखर, दड और ध्वजा पर प्रकाश फका, जनता को अरुण प्रकाश मे सफेद वस्त्र सा दिखाई दिया। जैन जनता के हृदय मे आशा की तरगे बहने लगी। इसके विपरीत बौद्ध धर्मियो के

उसने मथुरा के निकट एक बड़े विशाल चौक मे रात भर मे एक बड़ा स्तूप खड़ा कर दिया। दूसरे दिन उस स्तूप को जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी अपना मानकर उसका कब्जा करने के लिए तत्पर हुए। जैन स्तूप को अपना बताते थे, तब बौद्ध अपना। स्तूप में "लेख" अथवा किसी सम्प्रदाय की "देव-मूर्ति" न होने के कारण, उसने जैन-बौद्धो के बीच झगडा खड़ा कर दिया। परिणामस्वरूप दोनो सम्प्रदायों के नेता न्याय के लिए राजा के पास पहुंचे और स्तूप का कब्जा दिलाने की प्रार्थना की। राजा तथा उसका न्याय-विभाग स्तूप जैनो का है अथवा बौद्धो का, इसका कोई निर्णय नही दे सके।

जैन सघ ने अपने स्थान मे मिलकर विचार किया कि यह स्तूप दिव्य शक्ति से बना है और देवसाहाय्य से ही किसी सप्रदाय का कायम हो सकेगा। सघ मे देव सहायता किस प्रकार प्राप्त की जाय इस बात पर विचार करते समय जानने वालो ने कहा—वन मे अमुक क्षपक के पास वन-देवता आया करता है। अत क्षपक द्वारा उस देवता से स्तूप-प्राप्ति का उपाय पूछना चाहिए। सघ में सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि दो साधु क्षपक मुनि के पास भेजकर उनके द्वारा वन देवता की इस विषय मे सहायता मागी जाय।

प्रस्ताव के अनुसार श्रमण-युगल क्षपक मुनि के पास गया और क्षपकजी को संघ के प्रस्ताव से वाकिफ किया। क्षपक ने भी यथाशक्ति सघ का कार्य सम्पन्न करने का आश्वासन देकर आए हुए मुनियो को वापस विदा किया।

नित्य नियमानुसार वनदेवता क्षपक के पास आये और वन्दनपूर्वक कार्य सेवा सम्बन्धी नित्य की प्रार्थना दोहराई। क्षपक ने कहा—एक कार्य के लिए तुम्हारी सलाह आवश्यक है। देवता ने कहा—कहिये वह कार्य क्या है? क्षपकजी बोले—महीनो से मथुरा के स्तूप के सम्बन्ध मे जैन-बौद्धो के बीच झगड़ा चल रहा है। राजा, न्यायाधिकरण भी परेशान हो रहे है, पर इसका निर्णय नही होता। मैं चाहता हूँ तुम कोई ऐसा उपाय

चातुर्मास्य पूरा होने आया है, हम यहाँ से चातुर्मास्य की समाप्ति होते ही विहार करेंगे। तुम जिनदेव की पूजा-भक्ति तथा जैन धर्म की उन्नति मे सहयोग देती रहना। देवी ने तपस्वियो को वही ठहरने की प्रार्थना की, परन्तु साधुओ का एक स्थान पर रहना, आचारविरुद्ध बताकर उसकी प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। कुबेरा ने कहा—यदि आपका यही निश्चय है, तो मेरे योग्य धर्म-कार्य का आदेश फरमाइये, क्योकि देवदर्शन "अमोघ" होता है। साधुओं ने कहा—"मथुरा के जैन सघ के साथ हमे मेरु पर्वत पर ले जाइए", देवी ने कहा—आप दो को मैं वहा ले जा सकती हूँ। मथुरा का सघ साथ मे होगा तो मुझे भय है कि मिथ्यादृष्टि देव मेरे गमन में विघ्न करेंगे। साधु बोले—यदि सघ को वहा ले जाने की तेरी शक्ति नही है, तो हम दोनो का वहा जाना उचित नही है। हम शास्त्र-बल मे ही मेरु स्थित जिनचैत्यो का दर्शन वन्दन कर लेंगे। तपस्वियो के इस कथन को सुनकर, लज्जित सी हो कुबेरा बोली—भगवन्! यदि ऐसा है तो मैं स्वय जिनप्रतिमाओ से शोभित मेरु पर्वत का आकार यहा बना देती हूँ। वहां पर सघ के साथ आप देववन्दन करले। साधुओ ने देवी की बात को स्वीकार किया, तब देवी ने सुवर्णमय नाना रत्नशोभित अनेक देव परिवारित, तोरण-ध्वज-मालाओ से अलकृत, जिसका शिखर छत्रत्रय से सुशोभित हो ऐसा रात भर में स्तूप निर्माण किया, जो मेरु पर्वत की तरह तीन मेखलाओ से सुशोभित था। प्रत्येक मेखला मे प्रति दिक् सम्मुख पञ्चवर्ण रत्नमय प्रतिमाएँ सुशोभित थी। मूल नायक के स्थान पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का बिब प्रतिष्ठित था।

प्रभात होते ही लोग स्तूप के पास एकत्र हुए और आपस मे विवाद करने लगे। कोई कहते—वासुकि नाग के लांछन वाला स्वयंम्भू देव है, तब दूसरे कहते थे—"शेषशायी भगवान् नारायण है।" इसी प्रकार कोई ब्रह्मा, कोई धरणेन्द्र (नागराज), कोई सूर्य तो कोई चन्द्रमा कहकर अपनी जानकारी बता रहे थे। बौद्ध कहते थे—यह स्तूप नही, किन्तु 'बुद्धाण्डक' है। इस विवाद को सुनकर मध्यस्थ पुरुष कहते थे—यह दिव्य शक्ति से बना है और दिव्य शक्ति से ही इसका निर्णय होगा। तुम आपस मे क्यो

दिल निराशा का अनुभव करने लगे, सूर्यदेव ने उदयाचल के शिखर से अपने किरण फेककर सबको निश्चय करा दिया कि स्तूप के शिखर पर श्वेत-ध्वज फरक रहा है। जैन धर्मियो के मुखों से एक साथ "जैनं जयति शासनम्" की ध्वनि निकल पडी और मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का स्वामित्व जैन सघ के हाथो मे सौप दिया गया।

मथुरास्थित देवनिर्मित स्तूप की उत्पत्ति का उक्त इतिहास हमने जैन सूत्रो के भाष्यो, चूर्णियो और टीकाओ के भिन्न-भिन्न वर्णनो को व्यवस्थित करके लिखा है। आचार्य जिनप्रभ सूरि कृत मथुरा-कल्प में पौराणिक ढग से इस स्तूप का विशेष वर्णन दिया है, जिसका सक्षिप्त सार पाठकगण के अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है—

'श्रीसुपार्श्वनाथ जिनके तीर्थवर्ती धर्मघोष और धर्मरुचि नामक दो तपस्वी मुनि एक समय बिहार करते हुए मथुरा पहुचे। उस समय मथुरा की लम्बाई बारह योजन तथा विस्तार नव योजन परिमित था। उसके चारो ओर दुर्ग बना हुआ था और पास मे दुर्ग को नहलाती हुई यमुना नदी बह रही थी। मथुरा के भीतर तथा बाहर अनेक कूप बावड़ियाँ बनी हुई थी। नगरी गृहपक्तियों, हाट-बाजारों और देव-मन्दिरो से सुशोभित थी। इसका बाह्य भूमिभाग अनेक वनो, उद्यानो से घिरा हुआ था। तपस्वी धर्मघोप, धर्मरुचि मुनियुगल ने मथुरा के "भूतरमण" नामक उद्यान मे चातुर्मासिक तप के साथ वर्षा-चातुर्मास्य की स्थिरता की। मुनियो के तप ध्यान शान्ति आदि गुणो से आकर्षित होकर उपवन की अधिष्ठात्री "कुबेरा" नामक देवी उनके पास रात्रि के समय जाकर कहने लगी,—मैं आपके गुणो से बहुत ही सतुष्ट हूँ, मुझसे वरदान मागिये। मुनियो ने कहा—हम निःसङ्ग श्रमण है। हमे किसी भी पदार्थ की इच्छा नही, यह कहकर उन्होने "कुबेरा" को धर्म का उपदेश देकर जैन धर्म की श्रद्धा कराई।

चातुर्मास्य की समाप्ति के लगभग कार्तिक सुदि अष्टमी को तपस्वियो ने अपने निवासस्थान की स्वामिनी जानकर कुबेरा को कहा—श्राविके!

कहा–भविष्य मे समय कनिष्ठ आने वाला है, कालानुभाव से राजादि शासक लोभग्रस्त बनेंगे और इस सुवर्णमय स्तूप को नुकसान पहुँचायेंगे। अतः स्तूप भीतर की ईंटो के परदे से ढाक दिया जाय। भीतर की मूर्तियो की पूजा मैं अथवा मेरे बाद जो नयी कुबेरा उत्पन्न होगी वह करेगी। सघ इष्टकामय स्तूप मे भगवान् पार्श्वनाथ की प्रस्तरमयी मूर्ति प्रतिष्ठित करके पूजा किया करे। देवी की बात भविष्य मे लाभदायक जानकर संघ ने मान्य की और देवी ने विचारित योजनानुसार मूल स्तूप को ईंटो के स्तूप मे ढाप दिया।

वीर-निर्वाण की चौदहवी शताब्दी मे आचार्य बप्पभट्टि हुए। उन्होंने भी इस तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया, पार्श्वनाथ की पूजा करवाई, नित्यपूजा होती रहे, इसके लिए व्यवस्था करवाई।

इष्टकामय स्तूप पुराना हो जाने से उसमे से ईंटे निकलने लगी थी, इसलिए सघ ने पुराने स्तूप को हटाकर नया पाषाणमय स्तूप बनवाने का निर्णय किया, परन्तु कुबेरा ने स्वप्न मे कहा—इष्टकामय स्तूप को अपने स्थान से न हटाइये, इसको मजबूत करना हो तो ऊपर पत्थर का खोल चढवा दो। सघ ने वैसा ही किया। आज भी देव-निर्मित स्तूप को अदृश्य रूप से देव पूजते है तथा इसकी रक्षा करते हैं। हजारों प्रतिमाओं से युक्त देवालयो, रहने के स्थानो, सुन्दर गन्ध-कुटियो तथा चेलनिका, अम्बा, अनेक क्षेत्रपाल आदि के निवासो से यह स्तूप सुशोभित है।

'पूर्वोक्त बप्पभट्टि सूरिजी ने, जो कि ग्वालियर के राजा आम के धर्मगुरु थे, मथुरा मे वि० स० ८२६ मे भगवान् महावीर का बिम्ब प्रतिष्ठित किया।'

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप की उत्पत्ति का निरूपण शास्त्रीय प्रतीको तथा मथुराकल्प के आधार से ऊपर दिया गया है। कल्पोक्त वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि यह स्तूप है अतिप्राचीन और भारत मे विदेशियो के आने के समय

लड़ते हो। अपने-अपने इष्ट देवो को वस्त्र-पटो पर चित्रित करवाकर निज निज मण्डली के साथ ठहरो, स्तूप-स्थित देव जिसका होगा, उसी का चित्रपट रहेगा। शेष व्यक्तियो के पटस्थित देव भाग जायेंगे। जैन सघ ने भी सुपार्श्वनाथ का चित्रपट बनवाया, बाद मे अपनी अपनी मण्डलियों के साथ चित्रित चित्रपटों की पूजा करके सब धार्मिक सम्प्रदाय वाले अपने-अपने पट सामने रखकर उनकी भक्ति करने लगे।

नवम दिन की रात्रि का समय था। सभी सम्प्रदायो के भक्तजन अपने अपने ध्येय देव के गुणगान कर रहे थे। बराबर अर्द्धरात्रि व्यतीत हुई तब प्रचण्ड पवन प्रारम्भ हुआ। पवन से तृण रेती उडे इसमें तो बडी बात नही थी, परन्तु उसकी प्रचण्डता यहा तक बढ चली कि उसमे पत्थर-कंकर तक उडने लगे। तब लोगों का ध्यान टूटा, वे प्राण बचाने की चिंता से वहां से भागे। लोगो ने अपने अपने सामने जो देव-पूजा पट रखे थे, वे लगभग सब के सब प्रचण्ड पवन मे विलीन हो गये। केवल सुपार्श्वनाथ का पट्ट वहा रह गया। हवा का बवण्डर शान्त हुआ, लोग फिर एकत्रित हुए और सुपार्श्वनाथ का पट्ट देखकर बोले—ये अरिहत देव हैं और यह स्तूप भी इन्ही देव की मूर्तियो से अलकृत है। लोग उस पट्ट को लेकर सारे मथुरा नगर मे घूमे और तब से "पट्ट-यात्रा" प्रवृत्त हुई।

इस प्रकार धर्मघोष तथा धर्मरुचि मुनि मेरुपर्वताकार देवनिर्मित स्तूप मे देववन्दन कर नया तीर्थ प्रकाश मे लाकर, जैन सघ को आनन्दित कर मथुरा से विहार कर गए और क्रमशः कर्म क्षय कर ससार से मुक्त हुए।

"कुवेरा देवी स्तूप की तब तक रक्षा करती रही, जब कि पार्श्वनाथ का शासन प्रचलित हुआ।"

'एक समय भगवान् पार्श्वनाथ विहार कर क्रम से मथुरा पधारे। उन्होंने धर्मोपदेश करते हुए भावी दुष्षमाकाल के भावो का निरूपण किया। पार्श्वनाथ के वहा से विहार करने के बाद कुवेरा ने संघ को बुलाकर

का अपहरण करने वाले म्लेच्छ "वोहिय" कहलाते है। हमारा अनुमान है कि "वोधिक" अथवा "वोहिय" कहलाने वाले लोग "वोहीमिया" के रहने वाले विदेशी थे; वे यूनानियो के भारत पर के आक्रमण के समय भारत की पश्चिम सरहद पर इधर उधर पहाड़ी प्रदेशो मे फैल गए थे। मौर्य चन्द्रगुप्त के शासनकाल में भारत के पश्चिम तथा उत्तर प्रदेशो मे घुस कर ये मनुष्यों को पकड़ पकड़ कर ले जाते और विदेशो मे पहुंचा कर गुलाम खरीद-दारों के हाथ बेच दिया करते थे। उपर्युक्त हमारा अनुमान ठीक हो तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि मथुरा का स्तूप मौर्य-राज्यकालीन होना चाहिए।

मथुरा का देवनिर्मित स्तूप आज भी मथुरा के "ककाली टीला" के रूप में भग्न अवस्था में खड़ा है। इसमे से मिली हुई कुषाण कालीन जैन-मूर्तिया, आयाग-पट, जैन साधुओ की मूर्तिया आदि ऐतिहासिक साधन आज भी मथुरा तथा लखनऊ के सरकारी सग्रहालयो मे सुरक्षित है। इन पर राजा कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव के राज्यकाल के लेख भी उत्कीर्ण हैं, इससे ज्ञात होता है कि यह तीर्थ विक्रम की दूसरी शताब्दी तक उन्नत दशा में था। उत्तर भारत मे विदेशियो के आक्रमणो से खास कर श्वेत हूणो के समय मे जैन श्रमण तथा जैन गृहस्थ सामूहिक रूप से दक्षिण भारत की तरफ राजस्थान, मेवाड़, मालवा, आदि मे चले आये और उत्तर भारत के अनेक जैन तीर्थ रक्षण के अभाव से वीरान हो गये थे, जिनमे से मथुरा का देव-निर्मित स्तूप भी एक था।

(१०) सम्मेत शिखर :

सूत्रोक्त जैन तीर्थों मे सम्मेत शिखर (पारसनाथ–हिल) का नाम भी परिगणित है। आवश्यक निर्युक्तिकार कहते हैं–ऋषभदेव[१] वासुपूज्य[१२] नेमिनाथ[२२] और वर्धमान[२४] (महावीर) इन चार तीर्थङ्करो को छोड़ शेष इस अवसर्पिणी समस के बीस तीर्थंकर सम्मेत शिखर पर निर्वाण प्राप्त हुए थे, इस दशा मे सम्मेत शिखर को तीर्थंकरो की निर्वाणभूमि होने के कारण तीर्थ कहते हैं।

में यह स्तूप जैनो का एक महिमास्पद तीर्थ बना हुआ था। वर्ष के अमुक समय मे यहां स्नान-महोत्सव होता और उस प्रसग पर भारत-वर्ष के कोने कोने से आकर तीर्थ-यात्रिक यहां एकत्रित होते थे, ऐसा प्राचीन जैन साहित्य के उल्लेखो से सिद्ध होता है। इस बात के समर्थन मे निशीथ-भाष्य की एक गाथा तथा उसकी चूर्णि का उद्धरण नीचे देते हैं—

"थूभमह सड्ढि समणि,-बोहियहरण च निवसुयातावे।
मग्गेण य अक्कदे, कयमि युद्धेण मोएति॥"

अर्थात्—'मथुरा के स्तूप महोत्सव पर जैन श्राविकाएँ तथा जैन साध्वियाँ जा रही थी, मार्ग मे से बोधिक लोग उन्हे घेर कर अपने साथ ले चले, आगे जाते मार्ग के निकट आतापना करते हुए एक राजपुत्र प्रव्रजित जैन-मुनि को देखा, उन्हे देखते ही यात्रार्थिनियो ने आक्रन्द (शोर) किया, जिसे सुनकर मुनि उनकी तरफ आये और बौधिको से युद्ध कर श्राविकाओं तथा साध्वियो को उनके पञ्जे से छुडाया।'

उक्त गाथा की विशेष चूर्णि नीचे लिखे अनुसार है—

"महुराए नयरीए थूभो देवनिम्मिओ, तस्स महिमानिमित्त सड्ढीतो समणीहिं समं निग्गयातो, रायपुत्तो तत्थ अदूरे आयावतो चिट्ठई। ता सड्ढीसमणीतो बोहियेहिं गहियातो तेणं तेण अणियातो ता ताहि त साहुं दट्ठूणं अक्कदो कओ, ततो रायपुत्तेण साहुणा युद्ध दाऊण मोइयातो। बोधिका—अनार्य म्लेच्छाः।" (नि० वि० चू० २६८२)

अर्थात्—चूर्णि का भावार्थ गाथा के नीचे दिए हुए अर्थ मे आ चुका है, इसलिये चूर्णि का अर्थ न लिख कर चूर्णिकार के अन्तिम शब्द "बोधिक" पर ही थोड़ा ऊहापोह करेंगे।

जैन-सूत्रों के भाष्यादि मे "वोहिय" यह शब्द बार-बार आया करता है, प्राचीन सस्कृत टीकाकार "वोहिय" शब्द बनाकर कहते है—"बोधिक" पश्चिम दिशा के म्लेच्छो को कहते हैं। प्राकृत टीकाकार कहते हैं—"मनुष्य

: २१ :

मारवाड़ की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियाँ

लेखक—मुनि कल्याणविजयजी

१. उत्थान :

यों तो मारवाड़ मे अनेक जगह प्राचीन जैन मूर्तियां विद्यमान होगी, परन्तु आज तक हमने जितनी भी धातुमयी और पाषाणमयी जैन मूर्तियो के दर्शन किये उन सब मे पिण्डवाड़ा (सिरोही) के महावीर स्वामी के मन्दिर मे रही हुई कतिपय सर्व धातु की मूर्तियाँ अधिक प्राचीन है।

पहले पहल हमने सवत् १९७८ के पौष सुदि ७ के दिन इन मूर्तियो के दर्शन किये थे और कुछ मूर्तियो के लेख तथा तत्सम्बन्धी जरूरी नोट भी लिख लिये थे; परन्तु इनके विषय मे लिखने की इच्छा होने पर भी कुछ लिखा नही जा सका। कारण यह था कि उनमे की सबसे प्राचीन एक मूर्ति पर जो लेख था वह पूरा पढ़ा नही गया था। यद्यपि उसका प्रथम और अन्तिम पद्य-सवत् स्पष्ट पढा गया था, परन्तु अक्षरो के घिस जाने के कारण बिचले दो पद्य पढे नही जा सके थे और इच्छा, लेख पूरा पढकर कुछ भी लिखने की थी।

इस साल गत आषाढ वदि ९ के दिन फिर हमने प्रस्तुत मूर्तियो के दर्शन किये और उनके सम्बन्ध मे फिर भी कुछ बातें नोट की। बाद मे वही पर सुना कि 'कोई ४–५ दिन पहले ही रायबहादुर महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशकरजी ओझा यहाँ की इस प्राचीन कार्योत्सर्गिक मूर्ति का लेख ले गये हैं, यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पण्डितजी से लेख की नकल मगवा लेने के विचार से इस बार उक्त लेख पढ़ने का हमने प्रयत्न ही नही किया।

पन्द्रहवी शताब्दी मे "निगमगच्छ" के प्रादुर्भाविक आचार्य इन्द्रनन्दी के बनाये हुए "निगमो" मे एक निगम "सम्मेत शिखर" के वर्णन में लिखा है। जिसमे इस तीर्थ का बहुत ही अद्भुत वर्णन किया है। आज से ४४ वर्ष पहले ये निगम कोडाय (कच्छ) के भण्डार में से मगवाकर हमने पढे थे।

ऊपर लिखे सूत्रोक्त दश प्राचीन तीर्थों के अतिरिक्त वैभारगिरि, विपुलाचल, कोशला की जीवित-स्वामि-प्रतिमा, अवन्ति की जीवितस्वामि-प्रतिमा आदि अनेक प्राचीन पवित्र तीर्थों के उल्लेख सूत्रो के भाष्य आदि मे मिलते हैं, परन्तु इन सबका एक निबन्ध मे निरूपण करना अशक्य जानकर उन्हे छोड देते हैं।

प्राचीन जैन तीर्थों के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा जा सकता है परन्तु एक निबन्ध मे इससे अधिक लिखना पाठकगण के लिये रुचिकर न होगा, यह समझकर तीर्थविषयक लेख यहा पूरा किया जाता है। आशा है कि पाठकगण लेखगत त्रुटियो पर नजर न रखकर इसकी ज्ञातव्य बातो पर लक्ष्य देंगे।

卐 卐

दशा मे विद्यमान है, जिनमें एक देवी "क्षेमार्या" का प्राचीन मन्दिर भी है।

प्रस्तुत धातु-मूर्तियाँ विक्रम स० १९५६ तक वसन्तगढ़ के जैन मंदिर के भूमिगृह में थी, जिनका किसी को पता नही था। परन्तु उक्त वर्ष मे जो कि एक भयकर दुष्काल का समय था, धन के लोभ से अथवा अन्य किसी कारण से पुराने खण्डहरों की तलाश करने वालो को इन जैन मूर्तियो का पता लगा। उन्होने तीन-चार मूर्तियो के अङ्ग तोडकर उनकी परीक्षा करवाई और उनके सुवर्णमय न होने के कारण उन्हे वही छोड़ दिया। बाद मे धीरे धीरे यह बात निकटस्थ गावों वालो के कानो पहुची, तब पिण्डवाड़ा आदि के जैन श्रावको ने वहा जाकर छोटी-बडी अखण्ड और खडित सभी धातु-मूर्तिया पिण्डवाड़े ला करके और उनमे जो जो पूजने योग्य थी उन्हे ठीक करवा कर महावीर स्वामी के मदिर के गूढ मडप मे और पिछली बड़ी देहरी के मंडप मे स्थापित की जो अभी तक वही पूजी जाती है।

२. मूर्तियों की वर्तमान अवस्था :

यो तो वसतगढ से आई हुई मूर्तियो की सख्या बहुत है, परन्तु उनमे से अधिकाश तीन तीर्थिया, पच तीर्थिया और चतुर्विंशतिया दशवी ग्यारहवी और बारहवी सदी की होने से इस लेख मे उनका परिचय देने की विशेष आवश्यकता नही। जो जो मूर्तिया नवम-शताब्दी के पूर्वकाल की है उन्ही का परिचय कराना यहो योग्य समझा गया है।

जिन्हे मैं आठवी सदी की मूर्तिया कहता हूँ वे कुल आठ है। उनमे तीन अकेली[1] तीन त्रितीर्थिया और दो अकेली कार्योत्सर्गिक मूर्तिया है।

इनमे से पहली तीन अकेली मूर्तियाँ लगभग पौन फुट के लगभग ऊची है और बिल्कुल ही खंडित तथा बेकार बनी हुई है। पहले ये भूहरे मे रख

१. पहले तमाम मूर्तिया सपरिकर ही होती थी इस हिसाब से ये मूर्तिया भी पहले सपरिकर ही होगी और बाद मे परिकरो से जुदा पड जाने से अकेली हुई होगी ऐसा अनुमान है।

पिण्डवाडा से विहार कर जव हम रोहिड़ा आये तो पण्डितजी यही थे। खबर पहुंचते ही आप उपाश्रय मे पधारे और बराबर तीन घण्टों तक पुरातत्त्वविषयक ज्ञानगोष्ठी करते रहे। दर्मियान उक्त जैन लेख के बारे मे पूछने पर ज्ञात हुआ कि "वह लेख आपके नोट मे भी पूरा नही है, घिस जाने के कारण बिचला भाग ठीक नही पढा गया।" हमें वडी निराशा हुई। अव लेख के सम्पूर्ण पढ जाने की कोई आशा नही रही और उन मूर्तियो तथा लेख के सम्वन्ध मे जो कुछ लिखने योग्य है उसे लिख देने का निश्चय कर लिया।

२. मूर्तियों का मूल प्राप्ति-स्थान :

प्रस्तुत मूर्तियाँ यद्यपि इस समय पिण्डवाडा के जैन मन्दिर मे स्थापित हैं, परन्तु इनका मूल प्राप्तिस्थान जहाँ से कि ये लाई गई है **वसन्तगढ़** है।

'वसन्तगढ़' पिण्डवाडा से अग्निकोण मे करीव ३ कोस की दूरी पर एक पहाडी किला है, जो इसी नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के भील मेदजन आदि पहाड़ी लोग इसे "चवलियो रो गढ" इस नाम से अधिक पहिचानते है। सोलहवी सदी के शिलालेखो मे इस स्थान का नाम "वसन्तपुर" लिखा है, तव कोई कोई पुरातत्त्वज्ञ इसका प्राचीन नाम "वसिष्ठपुर" बताते हैं। कुछ भी हो, लेकिन "वसन्तगढ" म रवाड़ के अतिप्राचीन स्थानो मे से एक है। यह बात वहाँ के क्षेमार्या देवी के मन्दिर के विक्रम की सातवी सदी के एक शिलालेख से ही सिद्ध है।

वसन्तगढ़ मे इस समय भी तीन-चार अर्धध्वस्त दशा में जैन मन्दिर दृष्टिगोचर होते हैं। दो-तीन जैनेतर देवताओ के मन्दिर भी वहा खण्डित

---

१. वाद मे हमने पण्डितजी से उस लेख की नकल भी अजमेर से मगवाई, परन्तु आपके कहने मुजव ही उसके विचले दो पद्य अधिकाश मे अक्षरो के घिस जाने से पढ़े नही गये थे, फिर भी हमे पण्डितजी की नकल से दो एक शब्द नये अवश्य मिले और उनके आधार से उन पद्यो का भाव समझने मे कुछ सुगमता हो गई।

२. वसन्तगढ़ से करीव डेढ मील के फासले पर एक "चवली" नाम का गाव है, उसी के ऊपर से "चवलियो रो गढ़" कहते हैं।

मूर्तियां अच्छी हालत में है परन्तु ध्यान से देखने से इनकी भुजाओं में श्वेत धातु के टाके स्पष्ट दिखाई देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि इनकी भुजायें अनार्य लोगों ने तोड़ दी होगी अथवा तोडने के लिए इन पर शस्त्र प्रहार किये होंगे, जिससे भुजाओं मे गहरी चोटें लगी है, जो बाद मे चादी से भर दी गई मालूम होती हैं।

दो मूर्तियों मे से उक्त बायें हाथ तरफ की मूर्ति के पादपीठ पर ५ पक्ति का एक सस्कृत भाषा मे लेख है जो विवेचनपूर्वक आगे दिया जायगा।

४. मूर्तियों की विशिष्टता :

प्रस्तावित मूर्तियों की विशिष्टता भी देखने योग्य है। गुप्तकालीन शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने होने के कारण तो ये दर्शनीय हैं ही, परन्तु अन्य भी अनेक विशिष्टतायें इनमे सनिहित हैं।

१ आज तक जितनी कायोत्सर्गस्थित प्राचीन जिनमूर्तिया हमने देखी है उन सब के कटिभाग मे तीन पांच अथवा सात सर का कच्छ बधा हुआ और उनके अचल सामने गुह्यभाग से लेकर जंघामध्य तक लम्बे देखे गये है। परन्तु इन मूर्तियो के विषय मे यह बात नही है। इनके कटि-प्रदेश मे कच्छ या लगोट नही किन्तु कदोरा सा बधा हुआ दिखाई देता है, जिसका गठबन्धन सामने ही मूर्ति के दाहिने हाथ की तरफ किया हुआ है और वही उसके छोर लटकते हुए दिखलाये हैं। परन्तु रस्सी का एक छोर सामने की तरफ भी नीचे लटकता हुआ दिखाया गया है, जो कपडे के एक अचल से बधा हुआ सा ज्ञात होता है। इससे मूर्ति के दाहिने भाग मे तो कदोरे की गाठ मात्र ही दीखती है, परन्तु बायी तरफ जघन भाग से सटा हुआ कपडा दिखाई दे रहा है जो सामने के बायें अर्ध भाग को ढकता हुआ घुटनो के भी नीचे पतली जाघो तक चला गया है। बायें भाग मे कपडे पर बल पडे होने से वह स्पष्ट दिखाई देता है। दाहिने भाग मे वैसा न होने से कपड़े का चिह्न स्पष्टतया प्रतीत नही होता, परन्तु दोनो जाघों के निचले भागो मे टखनो के कुछ ही ऊपर कपड़े की किनारी स्पष्ट दिखाई देती है, जिससे "मूर्तियो का कमर के नीचे का भाग वस्त्रावृत है" यह बात

दी गई थी परन्तु बाद मे वहां के एक श्रावक ने गांव के पचों की राय लिये वगैर ही पालनपुर के एक पुरातत्त्व अन्वेषक गृहस्थ को वे दे दी थी, परन्तु साल भर के वाद जब गांव के पचों को इस बात का पता लगा तो देने वाले को मूर्तिया वापिस लाने के लिए तंग किया और ले जाने वाले गृहस्थ से भी मूर्तिया वापिस दे देने के लिए लिखा-पढ़ी की। आखिर वे तीनो मूर्तियां फिर पिण्डवाडे आ गई, जो अभी पिछली देहरी के कपिलामण्डप के दोनो खत्तको मे रक्खी हुई है।

तीन त्रितीर्थिया भी उसी देहरी के मण्डप में भीतर जाते दाहिने हाथ की तरफ विराजमान है। ये परिकर सहित सवा फुट के लगभग ऊँचाई मे होगी। ये मूर्तिया अभी तक अच्छी हालत में हैं।

त्रितीर्थियो के मूलनायक की प्राचीनता उनके लम्बगोल और सुनहरे मुख से ही झलकती है। बाकी उन पर न लेख है, न वस्त्र या नग्नता के ही चिह्न। परन्तु इन त्रितीर्थियो मे जो दो दो कायोत्सर्गस्थित मूर्तिया हैं उनकी आकृति और कटि भाग के नीचे स्पष्ट दिखने वाला वस्त्रावरण इनकी प्राचीनता का खुला साक्ष्य दे रहा है।

इन त्रितीर्थियो मे अर्वाचीन त्रितीर्थियो से दो एक बाते भिन्न प्रकार की देखी गई। अर्वाचीन त्रितीर्थियो मे दोनो कार्योत्सर्गिक मूर्तिया एक ही तीर्थंकर की होतो हैं और उनमे यक्ष-याक्षिणी भी मूलनायक की ही होती हैं परन्तु इन त्रितीर्थियो के सम्बन्ध मे यह बात नही पाई गई। इनमे मूलनायक तो अन्य तीर्थङ्कर हैं ही, परन्तु दो कायोत्सर्गिक भी भिन्न-भिन्न तीर्थङ्कर हैं और केवल मूलनायक के ही नही सब के पास अपने-अपने अधिष्ठायको की मूर्तिया दृष्टिगोचर होती है।

दो अकेली कायोत्सर्गिक मूर्तिया मूलमन्दिर के गूढ मण्डप मे दाहिने और वायें भाग मे सामने ही खड़ी हैं। दोनो मूर्तियो के नीचे धातुमय पाद-पीठ है, जिनसे मूर्तियां काफी ऊँची दीखती हैं। पादपीठ सहित इन कायोत्सर्गिको की ऊँचाई ६ फुट से अधिक होगी। सामान्यतया दोनो

२. अविकृत मूर्तियो की दूसरी विशिष्टता यह है कि इनके मस्तक केशोर्णाग्रो (केशों के मणिको) से भरे हुए है, जब कि दशवी शताब्दी और इसके बाद की जिनमूर्तियों के मस्तक पर ज्यादा से ज्यादा और कम से कम ३ मणिक मालाएँ देखी जाती है, तब प्रस्तुत मूर्तियो की ऊँची शिखाएँ भी मणिको से परिपूर्ण हैं। जवान आदमी का शिर जैसा घुघर-वाले वालो से सुशोभित होता है, ठीक वैसे ही इन मूर्तियो के शिर हैं।

३. इनमे से कुछ खड़ी मूर्तियो के स्कन्धो पर स्पष्ट रूप से जटाये रखी हुई प्रतीत होती हैं, यद्यपि किन्ही-किन्ही अर्वाचीन मूर्तियो के स्कन्धो पर भी जटाओं के आकार देखे जाते हैं। पर वे आकार जटाओ के न होकर कानो के निचले भाग के पास स्कन्धो पर एक दूसरी से चिपटी हुई तीन गोलिया बना दी जाती है जिनको जटा मानकर उनके आधार पर वह मूर्ति ऋषभदेव की कही जाती है। परन्तु इन मूर्तियो के स्कन्धो पर की जटायें हूबहू जटायें होती हैं। मूल मे एक एक होती हुई भी कुछ आगे जाकर वह तीन तीन भागों मे बंट जाती है, जिससे समूचा दृश्य हवा से बिखरी हुई एक जटा सा सुन्दर दीखता है। यह इन मूर्तियो की तीसरी विशिष्टता है।

४. प्रस्तावित मूर्तियो की चौथी विशिष्टता यह है कि वे भीतर से पोली है। आज तक जितनी भी सर्वधातुमयी मूर्तिया हमने देखी सब ठोस ही ठोस देखी, परन्तु उक्त छोटी-बडी सभी कायोत्सर्गिक मूर्तिया भीतर से पोली हैं जो लाख जैसे हल्के लाल पदार्थ से भरी हुई हैं।

५. मूर्ति के लेख का परिचय :

इन सब मे से पूर्वोक्त एक ही बडी कायोत्सर्गिक मूर्ति के पादपीठ पर पाच पक्ति का एक पद्यबद्ध लेख है। लेख को आरम्भ "ॐ कार" से किया गया है, दो श्लोक हैं। तीसरा आर्यावृत्त है, लेख का चौथा पद्य श्लोक है। प्रत्येक पक्ति मे पूरा एक एक पद्य आ गया है। प्रथम पंक्ति मे द्वितीय पद्य के ४ अक्षर आ गये हैं। इनमे से प्रथम तथा चतुर्थ पद्य तो स्पष्ट पढे जा सकते हैं, परन्तु इनके विचले दो पद्य अधिक घिस जाने से ठीक पढे नही

स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है। इस प्रकार की उक्त मूर्तिया न तो कच्छवाली कही जा सकती हैं और न नग्न ही, किन्तु जिस प्रकार श्वेताम्बर जैन साधु आजकल चोलपट्टा पहिन कर ऊपर कन्दोरा बांधते है; ठीक उसी प्रकार ये मूर्तियां भी कमर से जंघा तक कपड़ा पहिनी और ऊपर कन्दोरा बधी हुई प्रतीत होती हैं। प्रस्तुत मूर्तियो की सबसे पहली यह विशिष्टता है और इससे हमारे समाज में चिर प्रचलित एक दन्तकथा निराधार लिखी हुई साबित होती है।

कहा जाता है और अनेक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थो मे लिख भी चुके है कि पूर्वकाल में जैन मूर्तिया न तो नग्न होती थी और न वस्त्रावृत किन्तु वे उक्त दोनो आकारो से विलक्षण आकार वाली होती थी, जिन्हे श्वेताम्बर दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो वाले मानते थे। परन्तु बप्पभट्टि आचार्य के समय मे (विक्रम की नवमी शताब्दी मे) एक बार गिरनार तीर्थ के स्वामित्व हक के बारे मे श्वेताम्बर-दिगम्बरो मे झगडा हुआ। झगडे का फैसला बप्पभट्टि आचार्य के प्रभाव से श्वेताम्बरो के हक मे होकर उक्त तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रमाणित हुआ, परन्तु इस झगडे से दोनो सम्प्रदाय वाले चौकन्ने हो गये और भविष्य मे फिर कभी बाधा न उठे इस वास्ते एक सम्प्रदाय वालो ने अपनी मूर्तिया कच्छ-कन्दोरे वाली बनवाने की प्रथा प्रचलित की और दूसरो ने बिल्कुल नग्नाकार वाली, परन्तु प्रस्तुत मूर्तियो के आकार प्रकार से उक्त दन्तकथा केवल निराधार प्रमाणित होती है। जिस समय बप्पभट्टि का जन्म भी नही हुआ था उस समय भी जब इस प्रकार की वस्त्रधारिणी जैन मूर्तिया बनती थी तब यह कैसे माना जाय कि बप्पभट्टि के समय से ही सवस्त्र जिनमूर्तिया बनने लगी।[1]

---

१. मथुरा के प्राचीन खण्डहरो मे से विक्रम की छठवी सदी के लगभग समय की कुछ जैन मूर्तिया निकली हैं जो आधुनिक दिगम्बर मूर्तियो की तरह बिल्कुल नग्नाकार है। इससे भी उक्त दन्तकथा कि नग्नमूर्तिया बप्पभट्टि के समय से बनने लगी, निराधार प्रमाणित होती है। सच बात तो यह है कि सम्प्रदायो की प्रतिष्ठा के समय से ही उनकी अभिमत मूर्तिया भी अपनी २ मान्यतानुसार बनने लगी थी। परन्तु समय समय पर होने वाली शिल्पशास्त्र की उन्नति अवनति के कारण कालान्तरो मे उनका मूल रूप कई अंशो मे परिवर्तित हो गया और मूर्तिया वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हो गई।

७. उपसंहार :

मारवाड़ मे हजारों प्राचीन जैनमूर्तिया है, परन्तु ज्ञात मूर्तियों में दशवी सदी के पहले की बहुत कम होगी, जो कि विक्रम की पाचवी सदी के पहले ही यह प्रदेश जैन धर्म का क्रीड़ास्थल बन चुका था और छठी, सातवी तथा आठवी सदी तक यह देश जैन धर्म का केन्द्र बना हुआ था। इस हिसाब से उक्त पिण्डवाडा की मूर्तियो से भी यहां प्राचीन मूर्तिया प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होनी चाहिए थी। परन्तु हमारे अनुसधान मे वैसी मूर्तियो का अभी तक पता नही लगा, इसका कारण प्राय: राज्यक्रान्तिया हो सकती है। इस भूमि मे आज तक कई जातिया राज्याधिकार चला चुकी है। राज्यसत्ता एक वश से दूसरे वश मे यो ही नही जाती, कई प्रकार की धमालो और घातक युद्धो के अन्त मे नई राज्यसत्ता स्थापित हो सकती है। इस प्रकार के कष्टमय राज्यक्रान्तिकाल मे प्रजा का अपने जानमाल की रक्षा के लिये इधर-उधर हो जाना अनिवार्य हो जाता है। जिस समय प्राणो की रक्षा होनी भी मुश्किल हो जाती है उस समय मूर्तियो और मन्दिरो की रक्षा की तो बात ही कैसी? लोग मूर्तिया जमीन मे गाडकर जहा तहा भाग जाते, उनमे से जो बहुत दूर निकल जाते वे प्राय वही ठहर जाते थे, जो निकटवर्ती होते शाति स्थापित होने पर फिर आ जाते थे। पर वे भी त्रास से इतने भय-भीत हो जाते थे कि उनकी मनोवृत्तिया स्थिर नही रहतीं। राज्य की तरफ से कब बखेडा उठेगा और कब भागना पडेगा ये ही विचार उनके दिमागो मे घूमते रहते। परिणामस्वरूप भूगर्भशायी की हुई मूर्तिया निकालने का उन्हे उत्साह नही होता, मूर्तिविरोधियो की चढा-इयो के समय तो वे मूर्तियो को भूगर्भ मे रखने मे ही लाभ समझते। राज्य-विप्लवो की शान्ति और मनुष्यो की मनोवृत्तिया स्थिर होते होते पर्याप्त समय बीत जाता। मूर्तियो को जमीन मे सुरक्षित करने वाले या उन स्थानो की जानकारी रखने वाले प्राय. परलोक सिधार जाते; फलत. पिछले भाविक गृहस्थ नयी मूर्तिया और मन्दिर बनवाकर अपना भक्तिभाव सफल करते और भूमिशरण की हुई प्राचीन मूर्तिया सदा के

जा सकते। प्रथम पद्य मे मूर्ति के दर्शन की आवश्यकता की सूचना है, दूसरे पद्य मे मूर्तियुगल का निर्माण करवाने वाले गृहस्थो के नाम हैं जो घिस जाने से पढे नही जा सके। उनमें से सिर्फ एक 'यशोदेव' नाम स्पष्ट पढ़ा गया है। तीसरी पक्ति मे मूर्तिदर्शन से होने वाले लाभो की प्राप्ति की प्रार्थना है। चौथी पक्ति मे प्रतिष्ठा का संवत् है और उसके नीचे पाचवी पक्ति मे मूर्ति बनाने वाले शिल्पी की प्रशंसा लिखी गई है।

६. मूल लेख और उसका अर्थ :

मूल लेख की अक्षरश. नकल नीचे मुजब है—

१ ॐ "नीरागत्वादिभावेन, सर्वज्ञत्वविभावक। ज्ञात्वा भगवता रूप जिनानामेव पावन ॥ द्रो वक ....'

२ "यशादेव देव....................भि.। ....रिह जैन ....कारितं युग्ममुत्तमं ॥"

३ "भवशत परम्पराज्जित-गुरुकर्म्मरसो (जो) त............................ ....वर दर्शनाय शुद्ध-सज्ज्ञानचरण लाभाय ॥"

४ "सवत् ७४४।"

५ "साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूपविधायिना।
शिल्पिना शिवनागेन, कृतमेतज्जिनद्वयम् ॥"

अर्थ—'वीतरागता आदि गुणो से सर्वज्ञत्व सूचित करने वाली जिन-भगवन्तो की पवित्र मूर्ति ही है।

(ऐसा) जानकर यशोदेव.................... ..आदि ने जिनमूर्तियो की यह जोड़ी बनवाई।

सैकडो भव परम्पराओ मे उपार्जन किये कठिन कर्म-रज............ ....(के नाश के लिए तथा) सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान और चारित्र के लाभ के लिए (हो)।

विक्रम स० ७४४ मे (इस मूर्तियुगल की प्रतिष्ठा हुई) साक्षात् ब्रह्मा की तरह सर्व प्रकार के रूपो (मूर्तियो) को बनाने वाले शिल्पी (मूर्ति-निर्माता स्थपति) शिवनाग ने ये दोनो जैन मूर्तिया बनाई।'

: २२ :

प्रतिष्ठाचार्य

प्रतिष्ठा-विधियो-कल्पो मे प्रतिष्ठा-कारक आचार्य, उपाध्याय, गणि, अथवा साधु को "प्रतिष्ठाचार्य" इस नाम से सम्बोधित किया जाता है। तथा श्रीगुणरत्नसूरिजी ने अपने प्रतिष्ठाकल्प के प्रथम श्लोक मे लिखा है—

"महावीरजिन नत्वा, प्रतिष्ठाविधिमुत्तमम् ।
यति-श्रावक-कर्तव्य-व्यक्त्या वक्ष्ये समासतः ॥१॥"

अर्थात्—'महावीर जिन को नमस्कार करके साधु-श्रावक कर्तव्य के विवेक के साथ उत्तम प्रतिष्ठाविधि का सक्षेप से निरूपण करूँगा।

आचार्य श्री गुणरत्न सूरिजी अपने उक्त श्लोक मे "सूरि-श्रावक कर्त्तव्य" ऐसा निर्देश न करके "यति-श्रावक कर्त्तव्य" ऐसा उपन्यास करते है, इससे ध्वनित होता है कि प्रतिष्ठाकर्त्तव्य आचार्य मात्र का नही है, किन्तु मुनि सामान्य का है, जिसमे आचार्यादि सब आ जाते है। विधि-विधान के प्रसग पर भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त "इति गुरुकृत्य" इत्यादि उल्लेखो पर से सावित होता है कि प्रतिष्ठाकर्त्तव्य गुरु सामान्य का है, न कि आचार्य मात्र का। आचारदिनकर मे खरतर श्री वर्धमानसूरिजी प्रतिष्ठाकारक के सम्वन्ध मे कहते है—

"आचार्यैः पाठकैश्चैव, साधुभिर्ज्ञानसत्क्रियैः ।
जैनविप्रै. क्षुल्लकैश्च, प्रतिष्ठा क्रियतेऽर्हतः ॥१॥"

अर्थात्—'आर्हती प्रतिष्ठा आचार्यों, उपाध्यायो, ज्ञानक्रियावान् साधुओ, जैन ब्राह्मणो और क्षुल्लको (साधु-धर्म के उमेदवारो) द्वारा की

लिये भूमि के उदर मे समा जाती । आज हमें अधिक प्राचीन मूर्तियां उपलब्ध नही होतीं उसका यही कारण है । आज यदि प्राचीन स्थानो मे खुदाई की जाय तो बहुत सभव है कि सैकड़ो ही नही, हजारो की सख्या मे हमारी प्राचीन मूर्तिया जमीन मे से निकल सकती है, परन्तु राज्यसत्ता के अतिरिक्त ऐसा कौन कर सकता है ? और जब तक ऐसा न हो और अधिक प्राचीन मूर्तियां उपलब्ध न हो तब तक हमें पिण्डवाडा की उक्त मूर्तियो को ही मारवाड़ की सबसे प्राचीन जैन मूर्तिया मानना रहा ।

बामा
ता० १५-८-२६ — मुनि कल्याणविजय

अर्थात्—'प्रतिष्ठाचार्य आर्य देशजात १, लघुकर्मा २, ब्रह्मचर्यादि गुणोपेत ३, पंचाचारसपन्न. ४, राजादि सत्ताधारियों का अविरोधी ५, श्रुताभ्यासी ६, तत्त्वज्ञानी ७, भूमिलक्षण-गृहवास्तुलक्षणादि का ज्ञाता ८, दीक्षाकर्म मे प्रवीण ९, सूत्रपातादि के विज्ञान मे विचक्षण १०, सर्वतोभद्रादि चक्रो का निर्माता ११, अतुल प्रभाववान् १२, आलस्यविहीन १३, प्रिय वक्ता १४, दीनानाथ वत्सल १५, सरलस्वभावी १६, अथवा मानवोचित सर्व-गुण-सपन्न १७। प्रतिष्ठाचार्य के उक्त १७ गुणों में नम्बर ३, ४, ६, ७, ८, १०, ११ और १३ ये गुण विशेष विचारणीय है। क्योकि आजकल के अनेक स्वयंभू प्रतिष्ठाचार्यों मे इनमे से बहुतेरे गुण होते नही हैं। ब्रह्मचर्य, पंचाचार सपत्ति, श्रुताभ्यास, तत्त्वज्ञातृत्व, सूत्रपातादि विज्ञान, भूमिलक्षणादि वास्तुविज्ञान, प्रतिष्ठोपयोगी चक्रनिर्माणकला और अप्रमादिता ये मौलिक गुण तो प्रतिष्ठाचार्य मे होने ही चाहिये। क्योकि ब्रह्मचर्य तथा पंचाचार संपत्तिविहीन के हाथो से प्रतिष्ठित प्रतिमा मे प्राय. कला प्रकट नही होती। शास्त्र-ज्ञान-हीन और तत्त्व को न जानने वाला प्रतिष्ठाचार्य पग-पग पर प्रतिष्ठा के कार्यो मे शकाशील बनकर अज्ञानतावश विधिवैपरीत्य कर बैठता है, परिणामस्वरूप प्रतिष्ठा सफल नही हो सकती।

भूमिलक्षणादि विज्ञान से शिल्प, सूत्रपातादि विज्ञान से ज्योतिष और चक्रनिर्माण से प्रतिष्ठा-विधि शास्त्र का उपलक्षण समझना चाहिए। शिल्पशास्त्रज्ञाता प्रतिष्ठाचार्य ही प्रासाद, प्रतिमा, कलश दंडादिगत शुभाशुभ लक्षण और गुण-दोष जान सकता है। ज्योतिष शास्त्रवेत्ता प्रतिष्ठाचार्य ही प्रतिष्ठा-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य—अभिषेक, अधिवासना, अंजनशलाका, बिंबस्थापना आदि कार्य शुभलग्न नवमांशादि षड्वर्गशुद्ध समय मे कर सकता है और प्रतिष्ठाविधिशास्त्र का ज्ञाता तथा अनुभवी प्रतिष्ठाचार्य ही प्रतिष्ठा-प्रतिबद्ध प्रत्येक अनुष्ठान को कुशलता-पूर्वक निर्विघ्नता से कर तथा करा सकता है और अप्रमादिता तो प्रतिष्ठाचार्य के लिए एक अमूल्य गुण है। अप्रमादी प्रतिष्ठाकारक ही अपने कार्य मे सफलता प्राप्त कर सकता है। प्रमादी विद्यासाधक ज्यो अपने कार्य मे सफल नही होता, वैसे प्रमादी प्रतिष्ठाचार्य भी अपने कार्य मे सफल नही होता।

जाती है। यहा एक शका को अवकाश मिलता है कि उक्त श्री गुणरत्न-सूरिजी तथा श्री वर्धमानसूरिजी का कथन "प्रतिष्ठाविधि" तथा "प्रतिष्ठा-करण" विषयक है तो भले ही "प्रतिष्ठा"–"जिनबिम्ब-स्थापना" आचार्यादि कोई भी कर सकते हो पर अंजनशलाका–नेत्रोन्मीलन तो आचार्य ही करते होंगे ? इस शका का समाधान यह है कि आचार्य की हाजरी में आचार्य, उनके अभाव मे उपाध्याय, उपाध्याय के अभाव मे पदस्थ साधु और पदस्थ साधु की भी अनुपस्थिति मे सामान्य रत्नाधिक साधु और साधु के अभाव मे जैन ब्राह्मण अथवा क्षुल्लक भी नेत्रोन्मीलन कर सकते हैं। गुणरत्न-सूरि तथा वर्धमानसूरि की प्रतिष्ठा-विधिया वास्तव मे अंजनशलाका की विधिया है, इसलिये इनका कथन स्थापना-प्रतिष्ठा विषयक नही किन्तु अजनशलाका-प्रतिष्ठा विषयक है। क्योकि प्रतिमा को नेत्रोन्मीलन पूर्वक पूजनीय बनाना यही खरी प्रतिष्ठा है, जब कि पूर्व-प्रतिष्ठित प्रतिमा को आसन पर विधि-पूर्वक विराजमान करना यह "स्थापनप्रतिष्ठा" मानी जाती है। गुणरत्नसूरि और वर्धमानसूरि की प्रतिष्ठा-विधियाँ अजनशलाका-प्रतिष्ठा का विधान-प्रतिपादन करती है न कि स्थापनाप्रतिष्ठा का। इससे सिद्ध होता है कि वे "प्रतिष्ठा" कारक के विषय मे जो निरूपण करते हैं वह अजनशलाकाकार को ही लागू होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अजनशलाकाकार योग्यता प्राप्त किया हुआ साधु भी हो सकता है और वह "प्रतिष्ठाचार्य" कहलाता है।

प्रतिष्ठाचार्य की योग्यता : : :

प्रतिष्ठाचार्य की शारीरिक और बौद्धिक योग्यता के विषय मे आचार्य श्री पादलिप्तसूरि अपनी प्रतिष्ठापद्धति मे (निर्वाणकलिकान्तर्गत मे) नीचे मुजब निरूपण करते हैं—

"सूरिश्चार्यदेशसमुत्पन्नः, क्षीणप्रायकर्ममलश्च, ब्रह्मचर्यादिगुण-गणालकृतः, पञ्चविधाचारयुत, राजादीनामद्रोहकारी, श्रुताध्ययनसपन्न, तत्त्वज्ञः, भूमि-गृह-वास्तु-लक्षणाना ज्ञाता, दीक्षाकर्मणि प्रवीणः, निपुणः सूत्रपातादिविज्ञाने, स्रष्टा सर्वतोभद्रादिमण्डलानाम्, असम प्रभावे, आलस्य-वर्जितः, प्रियवद, दीनानाथवत्सलः सरलस्वभावो, वा सर्वगुणान्वितश्चेति।"

"यदागमः" इत्यादि शब्दप्रयोगो द्वारा जिसका आदर किया है उस मूल प्रतिष्ठा-गम मे सुवर्णमुद्रा अथवा सुवर्णकंकरण धारण करने का सूचन तक नही है। पादलिप्तसूरि ने जिस मुद्रा-कंकरण-परिधान का उल्लेख किया है वह तत्कालीन चैत्यवासियों की प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब है। पादलिप्तसूरिजी आप चैत्यवासी थे या नही इस चर्चा मे उतरने का यह उपयुक्त स्थल नही है, परन्तु इन्होंने आचार्याऽभिषेक विधि में तथा प्रतिष्ठा-विधि में जो कतिपय बातें लिखी हैं वे चैत्यवासियो की—पौषधशालाओं में रहने वाले शिथिलाचारी साधुओ की है, इसमें तो कुछ शंका नही है। जैन सिद्धान्त के साथ इन बातो का कोई सम्बन्ध नही है। आचार्याऽभिषेक के प्रसग मे इन्होने भावी आचार्य को तैलादि विधि-पूर्वक अविधवा स्त्रियो द्वारा वर्णक (पीठी) करने तक का विधान किया है। यह सब देखते तो यही लगता है कि श्री पादलिप्तसूरि स्वय चैत्यवासी होने चाहिए। कदापि ऐसा मानने में कोई आपत्ति हो तो न मानें फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि पादलिप्त-सूरि का समय चैत्यवासियों के प्राबल्य का था। इससे इनकी प्रतिष्ठा-पद्धति आदि कृतियो पर चैत्यवासियो की अनेक प्रवृत्तियो की अनिवार्य छाप है। साधु को सचित्त जल, पुष्पादि द्रव्यो द्वारा जिन-पूजा करने का विधान जैसे चैत्यवासियो की आचरणा है, उसी प्रकार से सुवर्णमुद्रा, ककरण-धारणादि विधान ठेठ चैत्यवासियो के घर का है, सुविहितो का नही।

श्रीचन्द्र, जिनप्रभ, वर्धमानसूरि स्वय चैत्यवासी न थे, फिर भी वे उनके साम्राज्यकाल मे विद्यमान अवश्य थे। इन्होने प्रतिष्ठाचार्य के लिए मुद्रा ककरण धारण का विधान लिखा इसका कारण श्रीचन्द्रसूरिजी आदि की प्रतिष्ठा-पद्धतिया चैत्यवासियो की प्रतिष्ठा-विधियो के आधार से बनी हुई हैं, इस कारण से इनमे चैत्यवासियो की आचरणाओ का आना स्वाभाविक है। उपर्युक्त आचार्यों के समय में चैत्यवासियो के किले टूटने लगे थे फिर भी वे सुविहितों द्वारा सर नही हुए थे। चैत्यवासियों के मुकाबिले मे हमारे सुविहित आचार्य बहुत कम थे। उनमे कतिपय अच्छे विद्वान् और ग्रन्थकार भी थे, तथापि उनके ग्रन्थो का निर्माण चैत्यवासियो के ग्रन्थो के आधार से होता था। प्रतिष्ठा-विधि जैसे विषयों

वेष-भूषा : : :

यों तो प्रतिष्ठाचार्य की वेष-भूषा, यदि वह सयमी होगा तो साधु के वेष मे ही होगा, परन्तु प्रतिष्ठा के दिन इनकी वेष-भूषा मे थोड़ा सा परिवर्तन होता है। निर्वाणकलिका मे इसके सम्बन्ध मे नीचे लिखे अनुसार विधान किया है—

"वासुकिनिर्मोकलघुनी, प्रत्यग्रवाससी दधानः करांगुलीविन्यस्त-काञ्चनमुद्रिकः, प्रकोष्ठदेशनियोजितकनककङ्कणः, तपसा विशुद्धदेहो वेदि-कायामुदङ्मुखमुपविश्य।" (नि० क० १२–१)

अर्थात्—'बहुत महीन्, श्वेत और कीमती नये दो वस्त्रधारक, हाथ की अगुली मे सुवर्ण-मुद्रिका (वीटी) और मणिबन्ध मे सुवर्ण का ककरण धारण किये हुए उपवास से विशुद्ध शरीर वाला प्रतिष्ठाचार्य वेदिका पर उत्तराभिमुख वैठकर।'

श्री पादलिप्तसूरिजी के उक्त शब्दो का अनुसरण करते हुए आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरि, श्री जिनप्रभसूरि, श्री वर्धमानसूरिजी ने भी अपनी-अपनी प्रतिष्ठा-पद्धतियो मे "तत सूरिः कङ्कणमुद्रिकाहस्त. सदशवस्त्रपरिधानः" इन शब्दो मे प्रतिष्ठाचार्य की वेप-भूषा का सूचन किया है।

जैन साधु के आचार से परिचित कोई भी मनुष्य यहां पूछ सकता है कि जैन आचार्य जो निर्ग्रन्थ साधुओ मे मुख्य माने जाते हैं उनके लिए सुवर्ण-मुद्रिका और सुवर्ण-ककरण का धारण करना कहा तक उचित गिना जा सकता है ? स्वच्छ नवीन वस्त्र तो ठीक पर सुवर्णमुद्रा, ककरण धारण तो प्रतिष्ठाचार्य के लिए अनुचित ही दीखता है। क्या सुवर्ण-मुद्रा-कंकरण पहिने विना अजनशलाका हो ही नही सकती ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है—प्रतिष्ठाचार्य के लिए मुद्रा कंकरण धारण करना अनिवार्य नही है। श्री पादलिप्तसूरिजी ने जिन मूल गाथाओ को अपनी प्रतिष्ठा-पद्धति का मूलाधार माना है और अनेक स्थानो मे

को सावद्य गिन के निषेध करते थे। इस वस्तुस्थिति का निर्देश आचार-दिनकर में नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

"ततो गुरुर्नवजिनबिम्बस्याग्रतः मध्यमांगुलीद्वयोर्व्वीकरणेन रौद्रदृष्ट्या तर्जनीमुद्रा दर्शयति। ततो वामकरेण जलं गृहीत्वा रौद्रदृष्ट्या बिम्बमाछोटयति। केषांचिन्मते स्नात्रकारा वामहस्तोदकेन प्रतिमामाछोटयन्ति।" (२५२)

अर्थात्—उसके बाद गुरु नवीन जिनप्रतिमा के सामने दो मध्यमागुलियां खड़ी करके क्रूर दृष्टि से तर्जनी मुद्रा दिखाये और बायें हाथ में जल लेके रौद्र दृष्टि करके प्रतिमा पर छिडकें। किन्ही आचार्यों के मत से बिम्ब पर जल छिडकने का कार्य स्नात्रकार करते हैं। वर्धमानसूरि के "केषाञ्चिन्मते" इस वचन से ज्ञात होता है कि उनके समय में अधिकाश आचार्यों ने सचित्त जलादि-स्पर्श के कार्य छोड़ दिये थे और सचित्त जल, पुष्पादि सम्बन्वी कार्य स्नात्रकार करते थे।

इस क्रान्ति के प्रवर्तक कौन? : : :

यहा यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि प्रतिष्ठा-विधि मे इस क्रान्ति के आद्यस्रष्टा कौन होगे? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहिले हमको बारहवी तेरहवी शती की प्रतिष्ठाविषयक मान्यता पर दृष्टिपात करना पडेगा। बारहवी शती के आचार्य श्री चन्द्रप्रभसूरि ने पौर्णमिक मत-प्रवर्तन के साथ ही "प्रतिष्ठा द्रव्यस्तव होने से साधु के लिए कर्त्तव्य नही", ऐसी उद्घोषणा की। उसके बाद तेरहवी शती मे आगमिक आचार्य श्री तिलकसूरि ने नव्य प्रतिष्ठाकल्प की रचना करके प्रतिष्ठा-विधि के सभी कर्त्तव्य श्रावक-विधेय ठहरा के चन्द्रप्रभसूरि की मान्यता को व्यवस्थित किया। इस कृति मे भी हम चन्द्रप्रभ और श्री तिलक को प्रतिष्ठा-विधि के क्रान्तिकारक कह नही सकते, किन्तु इन दोनो आचार्यो को हम "प्रतिष्ठा-विधि के उच्छेदक" कहना का पसद करेंगे। क्योकि आवश्यक संशोधन के बदले इन्होने प्रतिष्ठा के साथ का साधु का सम्बन्ध ही उच्छिन्न कर डाला है।

मे तो पूर्वग्रन्थों का सहारा लिये विना चलता ही नही था। इस विषय मे आचारदिनकर ग्रन्थ स्वय साक्षी है। इसमे जो कुछ संग्रह किया है वह सव चैत्यवासियो और दिगम्वर भट्टारको का है, वर्धमानसूरि का अपना कुछ भी नही है।

प्रतिष्ठा-विधियों में क्रान्ति का प्रारम्भ : : :

प्रतिष्ठा-विधियो मे लगभग चौदहवी शती से क्रान्ति आरम्भ हो गयी थी। वारहवी शती तक प्रत्येक प्रतिष्ठाचार्य विधि-कार्य मे सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श और सुवर्ण मुद्रादि धारण अनिवार्य गिनते थे, परन्तु तेरहवी शती और उसके वाद के कतिपय सुविहित आचार्यों ने प्रतिष्ठा-विषयक कितनी ही वातो के सम्बन्ध मे ऊहापोह किया और त्यागी गुरु को प्रतिष्ठा मे कौन-कौन से कार्य करने चाहिए इसका निर्णय कर नीचे मुजव घोषणा की—

"थुइदाण १ मतनासो २, आहवण तह जिणाण ३ दिसिवधो ४।
नित्तुम्मीलण ४ देसण, ६ गुरु अहिगारा इह कप्पे ॥"

अर्थात्—'स्तुतिदान याने देववन्दन करना स्तुतिया बोलना १, मन्त्रन्यास अर्थात् प्रतिष्ठाप्य प्रतिमा पर सौभाग्यादि मन्त्रो का न्यास करना २, जिनका प्रतिमा मे आह्वान करना ३, मन्त्र द्वारा दिग्बंध करना ४, नेत्रोन्मीलन याने प्रतिमा के नेत्रो मे सुवर्णशलाका से अंजन करना ५, प्रतिष्ठाफल प्रतिपादक देशना (उपदेश) करना। प्रतिष्ठा-कल्प में उक्त छः कार्य गुरु को करने चाहिए।'

अर्थात्—इनके अतिरिक्त सभी कार्य श्रावक के अधिकार के हैं। यह व्याख्या निश्चित होने के वाद सचित्त पुष्पादि के स्पर्श वाले कार्य त्यागियो ने छोड दिये और गृहस्थो के हाथ से होने शुरु हुए। परन्तु पन्द्रहवी शती तक इस विषय मे दो मत तो चलते ही रहे, कोई आचार्य-विधिविहित अनुष्ठान गिन के सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श तथा स्वर्ण मुद्रादि धारण निर्दोष गिनते थे, तव कतिपय सुविहित आचार्य उक्त कार्यों

अपने कल्प में ककरण तथा मुद्राएँ ५-५ लिखी है, इनमें से १-१ इन्द्र के लिए और ४-४ स्नात्रकारो के लिए समझना चाहिए।

अन्य गच्छीय प्रतिष्ठा-विधियो मे आचार्य को द्रव्य पूजाधिकार-

विधिप्रपाकार श्री जिनप्रभसूरिजी लिखते है—

"तदनन्तरमाचार्येण मध्यमागुलीद्वयोर्ध्वीकरणेन बिम्बस्य तर्जनो-मुद्रा रौद्रदृष्ट्या देया। तदनन्तरं वामकरे जल गृहीत्वा आचार्येण प्रतिमा आछोटनीया। ततश्चन्दनतिलक, पुष्पपूजनं च प्रतिमायाः।"

अर्थात्—उसके बाद आचार्य को दो मध्यमा अगुलिया ऊचो उठाकर प्रतिमा को रौद्र दृष्टि से तर्जनी मुद्रा देनी चाहिये, बाद मे बाये हाथ मे जल लेकर क्रूर दृष्टि से प्रतिमा पर छिड़के और अन्त मे चन्दन का तिलक और पुष्प पूजा करे।

इसी विधिप्रपागत प्रतिष्ठा-पद्धति के आधार से लिखी गई अन्य खरतरगच्छीय प्रतिष्ठा-विधि में उपर्युक्त विषय मे नीचे लिखा सशोधन हुआ दृष्टिगोचर होता है—

"पछइ श्रावक डावइ हाथिइ प्रतिमा पाणीइ छाटइ।"

खरतरगच्छीय प्रतिष्ठाविधिकार का यह सशोधन तपागच्छ के सशोधित प्रतिष्ठा-कल्पो का आभारी है। उत्तरवर्ती तपागच्छीय प्रतिष्ठा-कल्पो मे जलाछोटन तथा चन्दनादि पूजा श्रावक के हाथ से ही करने का विधान हुआ है जिसका अनुसरण उक्त विधिलेखक ने किया है।

आज के कतिपय अनभिज्ञ प्रतिष्ठाचार्य : : :

आज हमारे प्रतिष्ठाकारक गण मे कतिपय प्रतिष्ठाचार्य ऐसे भी है कि प्रतिष्ठा-विधि क्या चीज होती है इसको भी नही जानते। विधिकारक श्रावक जब कहता है कि "साहिब वासक्षेप करिये" तब प्रतिष्ठाचार्य साहब वासक्षेप कर देते हैं। प्रतिमाओ पर अपने नाम के लेख खुदवा करके नेत्रो मे सुरमे की सलाका से अजन दिया कि अंजनशलाका हो गई। मुद्रा,

क्रान्तिकारक तपागच्छ के आचार्य जगच्चन्द्रसूरि : : :

उपाध्याय श्री सकलचन्द्रजी ने अपने प्रतिष्ठाकल्प मे श्री जगच्चन्द्रसूरि कृत "प्रतिष्ठा-कल्प" का उल्लेख किया है। हमने जगच्चन्द्रसूरि का प्रतिष्ठा-कल्प देखा नही है, फिर भी सकलचन्द्रोपाध्याय के उल्लेख का कुछ अर्थ तो होना ही चाहिए। हमारा अनुमान है कि त्यागी आचार्य श्री जगच्चन्द्र-सूरिजी ने प्रचलित प्रतिष्ठा-विधियो मे से आवश्यक सशोधन करके तैयार किया हुआ सदर्भ अपने शिष्यों के लिए रक्खा होगा। आगे जाकर तपागच्छ के सुविहित श्रमण उसका उपयोग करते होंगे और वही जगच्चन्द्र-सूरि के प्रतिष्ठाकल्प के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। उसी संशोधित संदर्भ को विशेष व्यवस्थित करके आचार्य श्री गुणरत्नसूरिजी तथा श्री विशालराजशिष्य ने प्रतिष्ठा-कल्प के नाम से प्रसिद्ध किया ज्ञात होता है। समयोचित परिवर्तन किये और विधान विशेष सम्मिलित किये हुए प्रतिष्ठा-कल्प मे गुरु को क्या-क्या कार्य करने और श्रावक को क्या-क्या, इसका पृथक्करण करके विधान विशेष सुगम बनाये हैं।

गुणरत्नसूरिजी अपने प्रतिष्ठा-कल्प मे लिखते हैं—

"थुइदाण-मतनासो, आह्वण तह जिणाण दिसिबधो।
नेत्तुम्मीलणदेसण, गुरु अहिगारा इह कप्पे ॥१॥"

"एतानि गुरुकृत्यानि, शेषाणि तु श्राद्धकृत्यानि इति तपागच्छ-सामाचारीवचनात् सावद्यानि कृत्यानि गुरोः कृत्यतयाऽत्र नोक्तानि"

अर्थात्—'थुइदाण' इत्यादि गुरु कृत्य हैं तब शेष प्रतिष्ठा सम्बन्धी सर्व कार्य श्रावककर्त्तव्य है। इस प्रकार की तपागच्छ की सामाचारी के वचन से इसमे जो जो सावद्य कार्य हैं वे गुरु-कर्त्तव्यतया नही लिखे, इसी कारण से श्री गुणरत्नसूरिजी ने तथा विशालराज शिष्य ने अपने प्रतिष्ठा-कल्पो मे दी हुई प्रतिष्ठासामग्री की सूचियो मे कंकण तथा मुद्रिकाओ की सख्या ४-४ की लिखी है और साथ मे यह भी सूचन किया है कि ये कंकण तथा मुद्रिकाएँ ४ स्नात्रकारों के लिए हैं। उपाध्याय सकलचन्द्रजी ने

विधान हो गया। विधिकार भले ही "परमेश्वर के स्थान" पर "परमेश्वरी" की क्षमा मांग कर बच जाय, पर अयथार्थ अनुष्ठान कभी सफल नही होता।

(३) प्रतिष्ठाचार्य और स्नात्रकार :

विधिकार पूर्ण सदाचारी और धर्मश्रद्धावान् होने चाहिए। आज के प्रतिष्ठाचार्यों और स्नात्रकारो मे ऐसे विरल होंगे। इनका अधिकांश तो स्वार्थसाधक और महत्त्वाकांक्षी है, कि जिनमे प्रतिष्ठाचार्य होने की योग्यता ही नही होती। स्नात्रकारो मे पुराने अनुभवी स्नात्रकार अवश्य अच्छे मिल सकते हैं। उनमें धर्म-श्रद्धा, सदाचार और अपेक्षाकृत नि.स्वार्थता देखने मे आती है, पर ऐसो की सख्या अधिक नही है। मारवाड़ मे तो प्रतिष्ठा के स्नात्रकारो का बहुधा अभाव ही है। कहने मात्र के लिए दो चार निकल आयें यह बात जुदी है। हाँ मारवाड में कतिपय यतिजी प्रतिष्ठाचार्य का और स्नात्रकारो का काम अवश्य करते हैं। परन्तु इनमे प्रतिष्ठाचार्य की शास्त्रोक्त योग्यता नही होती, स्नात्रकारो के लक्षण तक नही होते। ऐसे प्रतिष्ठाचार्यो और स्नात्रकारो के हाथ से प्रतिष्ठित प्रतिमाओ मे कलाप्रवेश की आशा रखना दुराशामात्र है।

(४) स्नात्रकार अच्छे होने पर भी प्रतिष्ठाचार्य की अयोग्यता से प्रतिष्ठा अभ्युदयजननी नही हो सकती, क्योकि प्रतिष्ठा के तत्रवाहको मे प्रतिष्ठाचार्य मुख्य होता है। योग्य प्रतिष्ठाचार्य शिल्पी तथा इन्द्र सम्बन्धी कमजोरियो को सुधार सकता है, पर अयोग्य प्रतिष्ठाचार्य की खामिया किसी से सुधर नही सकती। इसलिये अयोग्य प्रतिष्ठाचार्य के हाथो से हुई प्रतिमा प्रतिष्ठा अभ्युदयजनिका नही होती।

(५) प्रतिष्ठा की सफलता मे शुभ समय भी अनन्य शुभसाधक है। अच्छे से अच्छे समय मे की हुई प्रतिष्ठा उन्नतिजनिका होती है। अनुकूल समय मे बोया हुआ बीज उगता है, फूलता, फलता है और अनेक गुनी समृद्धि करता है। इसके विपरीत अवर्षण काल में धान्य बोने से बीज नष्ट होता है और परिश्रम निष्फल जाता है, इसी प्रकार प्रतिष्ठा के

मन्त्रन्यास, होने न होने की भी प्रतिष्ठाचार्य को कुछ चिन्ता नही। उनके पास क्रियाकारक रूप प्रतिनिधि तो होता ही है, जब प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठा-विधि को ही नही जानना तब तद्गत स्वगच्छ की परम्परा के ज्ञान की तो आशा ही कैसी ? हमारे गच्छ के ही एक प्रतिष्ठाचार्य है, उनकी सुविहित साधुओ मे परिगणना है। उनको प्रतिष्ठाचार्य बनकर सोने का कड़ा हाथ मे पहिन कर अजनशलाका करने की बडी उत्कठा रहती है। जहां-तहां वगैर जरूरत अंजनशलाकाएँ तैयार करा कर सोने का कड़ा पहिन के वे अपने आपको धन्य मानते है। परन्तु उस भले मनुष्य को इतनी भी जानकारी नही है कि सुविहित तपागच्छ की इस विषय मे मर्यादा क्या है और वे स्वय कर क्या रहे हैं ?

प्रतिमाओं में कला-प्रवेश क्यों नहीं होता ? : : :

लोग पूछा करते है कि पूर्वकालीन अधिकाश प्रतिमाएँ सातिशय होती है तब आजकल की प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ प्रभाविक नही होती, इसका कारण क्या होगा ? पहिले से आजकल विधि-विषयक प्रवृत्तियां तो बढ़ी हैं, फिर आधुनिक प्रतिमाओ में कला-प्रवेश नही होता इसका कुछ कारण तो होना ही चाहिए।

प्रश्न का उत्तर यह है कि आजकल की प्रतिमाओ मे सातिशयिता न होने के अनेक कारणो मे से कुछ ये है—

(१) प्रतिमाओ में लाक्षणिकता होनी चाहिए जो आज की अधि-कांश प्रतिमाओ मे नही होती। केवल चतु सूत्र वा पचसूत्र मिलाने से ही प्रतिमा अच्छी मान लेना पर्याप्त नही है। प्रतिमाओ की लाक्षणिकता की परीक्षा वडी दुर्वोध है, जो हजार मे से एक दो भी मुश्किल से जानते होगे।

(२) जिन प्रतिष्ठा-विधियो के आधार से आजकल अजनशलाकाएँ कराई जाती हैं, वे विधि-पुस्तक अशुद्धि-वहुल होते हैं। विधिकार अथवा प्रतिष्ठाकार ऐसे होशियार नही होते जो अशुद्धियो का परिमार्जन कर शुद्ध विधान करा सके। जैसा पुस्तक मे देखा वैसा वोल गये और विधि-

(७) प्रतिष्ठाचार्य, स्नात्रकार और प्रतिमागत गुण दोष :

उक्त त्रिकगत गुण-दोष भी प्रतिष्ठा की सफलता और निष्फलता मे अपना असर दिखाते हैं, यह बात पहिले ही कही जा चुकी है और शिल्पी की सावधानी या बेदरकारी भी प्रतिष्ठा मे कम असरकारक नही होती। शिल्पी की अज्ञता तथा असावधानी के कारण से आसन, दृष्टि आदि यथा-स्थान नियोजित न होने के कारण से भी प्रतिष्ठा की सफलता मे अन्तर पड़ जाता है।

(८) अविधि से प्रतिष्ठा करना यह भी प्रतिष्ठा की असफलता मे एक कारण है। आज का गृहस्थवर्ग यथाशक्ति द्रव्य खर्च करके ही अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ मान लेता है। प्रतिष्ठा सम्बन्धो विधिकार्यों के साथ मानो इसका सम्वन्ध ही न हो ऐसा समझ लेता है। मारवाड़ जैसे प्रदेशो मे तो प्रतिष्ठा मे होने वाली द्रव्योत्पत्ति पर से ही आज प्रतिष्ठा की श्रेष्ठता और हीनता मानी जाती है। प्रतिष्ठाचार्य और विधिकार कैसे है, विधि-विधान कैसा होता है इत्यादि बातो को देखने की किसी को फुरसत ही नही होती। आगन्तुक सघजन की व्यवस्था करने के अतिरिक्त मानो स्थानिक जैनो के लिए कोई काम ही नही होता। प्रतिष्ठाचार्य और विधिकारो के हाथ मे उस समय स्थानिक प्रतिष्ठा कराने वाले गृहस्थो की चुटिया होती है, इसलिये वे जिस प्रकार नचाये, स्थानिक गृहथो को नाचना पड़ता है। इस प्रकार दस पन्द्रह दिन के साम्राज्य मे स्वार्थी प्रतिष्ठाचार्य अपना स्वार्थ साधकर चलते वनते है। पीछे क्या करना है इसको देखने की उन्हे फुरसत ही नही होती, पीछे की चिन्ता गाम को है। अच्छा होगा तव तो ठीक ही है पर कुछ ऊचा-नीचा होगा तो प्रत्येक नगे सिर वाले को पूछेगे—मन्दिर और प्रतिमाओ के दोष ? परन्तु यह तो "गते जले क खलु पालिवन्ध." इस वाली बात होती है।

स्यार्थसाधक प्रतिष्ठाचार्यो के सम्बन्ध मे आचार्य श्री पादलिप्तसूरि की फिट्कार देखिये—

"अवियाणिऊण य विहि, जिणबिंब जो ठवेति मूढमणो।
अहिमाणलोहजुत्तो, निवडइ ससार-जलहिंमि ॥७७॥"

सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए। ज्योतिष का रहस्य जानने वाले और अनभिज्ञ प्रतिष्ठाचार्य के हाथ से एक ही मुहूर्त मे होने वाली प्रतिष्ठाओ की सफलता मे अन्तर पड़ जाता है। जहा शुभ लग्न शुभ षड्वर्ग अथवा शुभ पचवर्ग में और पृथ्वी अथवा जल तत्त्व मे प्रतिष्ठा होती है वहाँ वह अभ्युदय-जनिका होती है, तव जहा उसी लग्न मे नवमाश, षड्वर्ग, पंचवर्ग तथा तत्त्वशुद्धि न हो ऐसे समय मे प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है तो वह प्रतिष्ठा उतनी सफल नही होती।

(६) प्रतिष्ठा के उपक्रम मे अथवा बाद में भी प्रतिष्ठा-कार्य के निमित्तक अपशकुन हुआ करते हो तो निर्धारित मुहूर्त मे प्रतिष्ठा जैसे महाकार्य न करने चाहिए, क्योकि दिनशुद्धि और लग्नशुद्धि का सेनापति 'शकुन' माना गया है। सेनापति की इच्छा के विरुद्ध जैसे सेना कुछ भी कर नही सकती, उसी प्रकार शकुन के विरोध में दिनशुद्धि और लग्नशुद्धि भी शुभ फल नही देती। इस विषय मे व्यवहार-प्रकाशकार कहते हैं—

"नक्षत्रस्य मुहूर्त्तस्य, तिथेश्च करणस्य च।
चतुर्णामपि चैतेषा शकुनो दण्डनायकः ॥१॥"

अर्थात्—नक्षत्र, मुहूर्त, तिथि और करण इन चार का दण्डनायक अर्थात् सेनापति शकुन है।

आचार्य लल्ल भी कहते हैं—

"अपि सर्वगुणोपेत, न ग्राह्य शकुन विना।
लग्नं यस्मान्निमित्तानो, शकुनो दण्डनायकः ॥१॥"

अर्थात्—भले ही सर्व-गुण-सम्पन्न लग्न हो पर शुभ शकुन विना उसका स्वीकार न करना। क्योकि नक्षत्र, तिथ्यादि निमित्तों का सेनानायक शकुन है। यही कारण है कि वर्जित शकुन मे किये हुए प्रतिष्ठादि शुभ कार्य भी परिणाम में निराशाजनक होते हैं।

: २३ :

क्या क्रियोद्धारकों से शासन की हानि होती है?

पं० कल्याणविजय गणि

ता० १ तथा ८ वी जून सन् १९४१ के 'जैन' पत्र मे मुनि श्री ज्ञान-सुन्दरजी का एक लेख छपा है जिसका शीर्षक "क्या उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराज ने क्रिया उद्धार किया था" यह है। इस लेख मे मुनिजी ने अपनी समझ का जो परिचय दिया है वह अति खेदजनक है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने क्रियोद्धार किया था या नही, इस प्रश्न को एक तरफ छोड़कर पहले हम मुनिजी की उन दलीलो की जाँच करेंगे जो उन्होने उपाध्यायजी के क्रियोद्धारक न होने के समर्थन में दी है।

आप कहते हैं—"क्रिया उद्धारको से होने वाली शासन की हानि से भी आप अपरिचित नही थे। क्रिया उद्धारक समाज की सगठित शक्ति को अनेक भागो मे विभक्त कर शासन को क्षति पहुंचाते है यह भी आप से प्रच्छन्न नही था।"

क्या ही अच्छा होता, अगर मुनिजी पहले क्रिया उद्धार का अर्थ समझ लेते और फिर इस विषय पर लिखने को कलम उठाते। मुनिजी की उक्त पंक्तियो को पढ़ने से तो यही ज्ञात होता है कि क्रियोद्धारको को आप मत-पन्थवादी समझ वैठे हैं, जो निराधार ही नही शास्त्रविरुद्ध भी है। क्रिया उद्धार का अर्थ मतवाद नही शिथिलाचार के नीचे दवी हुई चारित्राचार की क्रियाओ को ऊपर उठाना है।

शास्त्र मे क्रियोद्धारक दो प्रकार के वताये हैं—

(१) उपसम्पन्नक और (२) शिथिलाचारवर्जक।

अर्थात्—"प्रतिष्ठा-विधि को यथार्थ रूप में जाने विना अभिमान और लोभ के वश होकर जो "जिनप्रतिमा को स्थापित करता है, वह ससार-समुद्र मे गिरता है।"

उपसंहार : : :

प्रतिष्ठाचार्य और प्रतिष्ठा के सम्वन्ध में कतिपय ज्ञातव्य वातो का ऊपर सार मात्र दिया है। आशा है कि प्रतिष्ठा करने और कराने वाले इस लेख पर से कुछ वोध लेंगे।

जैन विद्याशाला,
अहमदावाद
ता० १६–८–५५

कल्याणविजय गणी

त्याग मार्ग का स्वीकार करने मे असमर्थ रहा, परिणामस्वरूप श्री विजयदेवसूरि तथा श्री विजयसिंहसूरि के समय तक शिथिलाचार बहुत फैल गया। यदि लोग खुल्लखुल्ला द्रव्यसग्रह करके व्याज वट्टा खाने और वौहरगत करने लग गये थे। उत्तर गुणों की तो वात ही क्या, मूल गुणो का भी ठिकाना नही रहा था। साधुमार्ग का यह पतन प० श्री सत्यविजयजी आदि आत्मार्थी श्रमणगण को बहुत अखरा। उन्होने अपने गच्छपति आचार्य की आज्ञा लेकर क्रियोद्धार किया और त्यागी जीवन गुजारने लगे।

प० पद्मविजयजी महाराज के लेखानुसार पन्यासजी के इस क्रियोद्धार मे उनके समकालीन विद्वान् उपाध्याय श्री विनयविजयजी, न्यायाचार्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि बहुतेरे आत्मार्थी साधुजन शामिल हुए थे। क्या मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी वतायेंगे कि उक्त क्रियोद्धारक महानुभाव विद्वान् साधुओं से शासन की क्या हानि हुई, अथवा इन्होने समाज की सगठित शक्ति को किस प्रकार विभक्त किया? वास्तविकता तो यह कहती है कि श्री जगच्चन्द्रसूरि, श्री आनन्दविमलसूरि और श्री सत्यविजयजी पंन्यास जैसे महापुरुषो ने अपने-अपने समय मे क्रियोद्धार द्वारा श्रमणमार्ग की शुद्धि न की होती तो तपागच्छीय सविज्ञ श्रमणो की भी आज वही दशा हुई होती जो 'मथेरण' तथा 'पौषालवासी भट्टारकों' की हुई है।

खरतर, आचलिक आदि गच्छो मे जो थोड़ा बहुत साधु-साध्वियो का समुदाय दृष्टिगोचर होता है वह भी इनके पुरोगामी नायको के क्रियोद्धार का ही फल है।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी जिसका उद्धार करने की चेष्टा कर रहे है उस "ऊकेश गच्छ" के एक आचार्य "श्री यक्षदेवसूरि ने भी चन्द्रकुल प्रवर्तक श्री चन्द्रसूरिजी के पास उपसम्पदा लेकर क्रियोद्धार किया था और वे पार्श्वस्थावस्था छोडकर महावीर की सुविहित श्रमण परम्परा मे दाखिल हुए थे।" अगर मुनिजी इस प्रसग को भूल गये हो तो "ऊकेश गच्छ चरित्र" की वही प्राचीन प्रति मगाकर किसी विद्वान् के पास समझ लें।

(१) जिसकी गुरुपरम्परा सात-आठ पीढ़ी से शिथिलाचार मे फंसी हुई है, ऐसा कोई शिथिलाचारी आचार्य अथवा साधु यदि उग्रविहारी बनना चाहे तो उसे अपने पूर्व गच्छ और पूर्व गुरु का त्याग कर दूसरे सुविहित गच्छ और गुरु को स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार का क्रियोद्धार करने वाले का नाम शास्त्र मे "उपसम्पन्नक" लिखा है।

(२) जिसकी गुरुपरम्परा मे दो तीन पीढी से ही शिथिलाचार प्रविष्ट हुआ हो ऐसा आचार्य अथवा साधु क्रियोद्धार करना चाहे तो अपनी गुरुपरम्परा मे जो जो असुविहित प्रवृत्तियाँ प्रचलित हों उनका त्याग कर सुविहित मार्ग पर चलें। उसे अपने गच्छ और गुरु को त्याग कर नया गुरु धारण करने की आवश्यकता नही रहती।

विक्रम की १३वी शती मे चैत्रगच्छीय श्रीदेवभद्र गणि और बृहद्-गच्छीय श्री जगच्चन्द्र सूरिजी ने जो क्रियोद्धार किया था वह इसी प्रकार का था। देवभद्र गणि और जगच्चन्द्रसूरि की गुरु-परम्पराओं का शिथिलाचार नया ही था इस कारण से उन्होने एक दूसरे की सहायता से क्रियोद्धार किया था। जगच्चन्द्रसूरि और देवभद्र गणि इन दोनो महापुरुषो ने शिथिलाचार को छोडकर जो उग्रविहार और सुविहिताचार का पालन किया था उसके प्रभाव से निर्ग्रन्थ श्रमण मार्ग फिर एक बार अपने खरे रूप मे चमक उठा और लगभग दश पीढी तक ठीक ढग पर चलता रहा।

दुष्पमकाल के प्रभाव और जनप्रकृति के निम्नगामी स्वभाव के कारण फिर धीरे-धीरे गच्छ मे शिथिलता का प्रवेश होने लगा। श्री-आनन्दविमल सूरिजी के समय तक यतियो मे चोरी छिपी से द्रव्य संग्रह तक की खराबियाँ उत्पन्न हो गयी थी। श्री आनन्दविमल सूरिजी ने अपने गच्छ मे से इन बदियो को दूर करने का निश्चय किया। उन्होंने सं० १५८२ मे क्रियोद्धार कर गच्छ मे जो जो शिथिलताएँ घुसी थी उनको दूर करने का प्रयत्न किया। परन्तु आपका यह क्रियोद्धार गच्छ की पूर्ण शुद्धि नही कर सका। गच्छ का एक वडा भाग आपके उग्रविहार और

पड़ता है कि मुनिजी श्री उपाध्यायजी के उक्त वचनों का मर्म ठीक नही समझे। उ० महाराज का उक्त उपदेश क्रियोद्धारको के लिए नही पर ढुढक, वीजामती आदि गुरुगच्छ-वर्जित स्वयम्भू साधुओ के लिए है। जड़मलधारी, गुरुगच्छ छडी, मारग लोपो आदि विशेषण ही कह रहे है कि यह शिक्षा ढुढक और वीजामतियो के लिए है। क्रियोद्धारक जड़ नही पर सभी विद्वान् थे, वे मलधारी नही पर शास्त्रानुसारो साधु-वेषधारी थे। उन्होने न गुरु को छोड़ा था, न गच्छ को। वे अपने गुरु और गच्छ की आज्ञा में रहकर क्रियोद्धारक बने थे और चारित्र पालते थे। उनके ही क्यो, उनके शिष्यो तक के ग्रन्थो की प्रशस्तिया देखिये, वे उनमे अपने गच्छ और गच्छपति गुरु का आदरपूर्वक उल्लेख करते है।

क्रियोद्धारको को मार्ग का लोपक समझना बुद्धि का विपर्यास है। क्योकि उन्होने मार्ग लोपा नही, बल्कि मार्ग की रक्षा की थी, यह जग-ज्ज़ाहिर है। गीतार्थ विना उस समय कौन भूले भटके थे, इसका भी मुनिजी ने कोई विचार नही किया। पन्यास सत्यविजयजी और उनके सहकारी क्रियोद्धारक सभी विद्वान् थे। उनको उपाध्यायजी का उक्त वर्णन कभी लागू नही हो सकता।

वास्तविकता तो यह है कि सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे लोकामत में से विजयऋषि ने अपना एक स्वतन्त्र मत निकाला था। वे मूर्ति-पूजा को मानते थे। श्वेताम्बर साधुओ की तरह दड कबल वगैरह भी रखते थे। फिर भी उनके वेष मे कुछ लोकापन्थ की झलक रह गई थी।

वीजा ऋषि बड़े ही तपस्वी थे। आपने इस तपोबल से लोगो का काफी आकर्षण किया था। लोंकापन्थ से निकलकर के भी उन्होने कोई नया गुरु धारण नही किया और न किसी सुविहित गच्छ मे ही प्रवेश किया था। फलतः उनकी परम्परा का उन्ही के नाम से "विजयगच्छ" यह नाम प्रसिद्ध हुआ। मेवाड, मेवात-प्रदेश आदि देशो मे इसका विशेष प्रसार हुआ। उपाध्यायजी के समय तक इस मत ने अपना निश्चित रूप धारण कर लिया था।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी का कथन है कि—"उपाध्यायजी महाराज ने क्रिया उद्धार नही किया था, पर यतिसमुदाय मे रहकर ही उभयपक्ष को (क्रिया उद्धारक श्रमणो को एव शिथिलाचारी यतियो को) हित शिक्षा दी थी।

क्या मुनिजी बतायेंगे कि उभय को शिक्षा देने वाले उपाध्याय श्री यशोविजयजी खुद किस वर्ग में थे ? शिथिलाचारियो मे अथवा उग्रविहारियो मे ? यदि वे स्वय शिथिलाचारी थे तब तो शिथिलाचारियो को उपदेश देने का उन्हे कोई अधिकार ही नही था। वैसा उपदेश करने को उनकी जबान ही न चलती पर आपने शिथिलाचारियो को उपदेश दिया है और खूब दिया है। "उन्हे परमपद के चौर और उन्मत्त तक कह कर फटकारा है", इससे प्रकट है कि उपाध्यायजी आप शिथिलाचारी नही थे। आप भी अन्त मे यह तो कबूल करते हैं कि उपाध्यायजी महाराज शिथिलाचारियो मे नही थे। जब वे शिथिलाचारी नही थे तो अर्थतः वे 'उग्रविहारी थे' यही कहना होगा। आप सुविहिताचारी श्रमण कहते है इसका अर्थ भी उग्रविहारी ही होता है और उग्रविहारी मान लेने के वाद उन्हे क्रियोद्धारक मानना ही तर्कसगत हो सकता है।

उपाध्यायजी कृत–विज्ञप्ति स्तवन की—

"विषम काल ने जोरे, केई उठ्या जड़मलधारी रे।
गुरु गच्छ छंडी मारग लोपी, कहे अमे उग्रविहारी रे ॥१॥'

× × × × ×

"गीतारथ विण भूला भमता, कष्ट करे अभिमाने रे।
प्राये गठी लगे नवि आव्या, ते खूंता अज्ञाने रे ॥श्री॥३॥
तेह कहे गुरु गच्छ गीतारथ, प्रतिवधे शु कीजे रे।
दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदरिये, आपे आप तरीजे रे ॥श्री॥४॥"

इत्यादि गाथाएँ उद्धृत करके मुनिजी कहते है—इसमे उपाध्यायजी ने क्रियोद्धारको को हित शिक्षा दी है। इस पर हमे दुःख के साथ लिखना

उग्रविहारियो का साथ नही छोड़ा और कई शिथिलाचारियों को प्रेरणा करके क्रियोद्धारक बनाया पर उनकी उपेक्षा नही की। इस स्थिति मे उपाध्यायजी क्रियोद्धारक हो सकते है या नही इसका मुनिजी स्वय विचार करें।

श्रीमान् मुनि ज्ञानसुन्दरजी ने क्रियोद्धार का जो निष्कर्ष निकाला वह इस विपय के आपके कच्चे ज्ञान का परिचायक है और क्रियोद्धारकों पर शासनभेद का वार-वार इल्जाम लगाते है, यह क्रियाविपयक कुरुचि का द्योतक है।

वास्तव मे जिन्होने क्रियोद्धार किया था उन्होने शासन का उत्कर्ष किया था। शिथिलाचार के निरकुश वेग को रोक कर जैन श्रमण-सस्कृति की रक्षा करने के साथ ही शिथिलाचारियो को सुधारने की चुनौती दी थी।

उस समय कतिपय यति ही शिथिलाचारी नही हुए थे, अपितु सारा समुदाय ही विगड़ चुका था। गच्छपति और उनके निकटवर्ती कतिपय गीतार्थ अवश्य ही मूल गुणो को वचाये हुए थे, परन्तु अधिकाश यतिवर्ग की स्थिति यहा तक विगड़ चुकी थी कि क्रियोद्धार के विना विशुद्ध जैन श्रमण-मार्ग का अस्तित्व रहना मुश्किल था। यही कारण है कि आत्मार्थी विद्वानो ने क्रियोद्धार करने का निश्चय किया और तत्कालीन गच्छनायक ने उनके शुभ विचार का अनुमोदन किया था।

मुनिजी क्रियोद्धारको को निर्नायक कहकर अपने इतिहास विपयक अज्ञान का परिचय मात्र दे रहे हैं। वास्तव मे तो यतियो के ऊपर जो नायक थे वे ही क्रियोद्धारको के भी नायक थे। क्रियोद्धारक भी उन्ही की आज्ञा से विचरते, चातुर्मास्य करते और सयम पालते थे। मुनिजी ने क्रियोद्धारक-सविग्न श्रमणो के और उनकी शिष्यपरम्परा के ग्रन्थ पढे होते तो सभव है कि आप यह कहने का कभी दुस्साहस नही करते कि क्रियोद्धारक निर्नायक थे। क्रियोद्धारक श्रमण ही नही किन्तु उनकी शिष्य-परम्परा उन्नीसवी सदी तक गच्छपति श्रीपूज्यो को किसी अश मे मानती थी। हाँ जव से श्री पूज्यो ने रुपया लेकर यतियो को क्षेत्रादेश पट्टक देना

इधर सत्रहवी शताब्दी के अन्त में ऋषि लवजी, ऋषि अमीपालजी, धर्मसी आदि कतिपय व्यक्तियो ने लोकापन्थ में से निकलकर उग्रविहार शुरु किया। बाह्य कष्ट-क्रियाओं के प्रदर्शन से इनकी तरफ भी लोक-प्रवाह पर्याप्त रूप से बहने लगा, आगे जाकर यही परम्परा "ढुढक" इस नाम से प्रसिद्ध हुई।

उक्त दोनो मत (बीजा मत और ढुढक मत) के साधु प्रायः निरक्षर होते थे, फिर भी मलिन वस्त्र, उग्रविहार, कठोर तप आदि गुणो से वे जन-समूह को अपनी तरफ खीच रहे थे और प्रतिदिन उनका पंथ वृद्धिगत हो रहा था।

उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी ने अपनी कृतियों में इन्ही दो मत के उग्रविहारी जड एव गुरुगच्छ विहीन साधुओं को लक्ष्य करके हित शिक्षा दी है, जिसे मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी मार्गगामी और गच्छप्रतिबद्ध विद्वान् क्रियोद्धारको के साथ जोडने की भूल कर बैठे हैं।

उपाध्यायजी की भाषा-कृतियो के कुछ पद्य उद्धृत करके ज्ञानसुन्दर-जी कहते है—"उपरोक्त प्रमाणो से स्पष्ट पाया जाता है कि श्रीमान् उपाध्यायजी महाराज ने न तो क्रिया उद्धार ही किया था और न शासन से छेद-भेद डालकर आप क्रिया करना ठीक ही समझते थे। इस समय कतिपय यति शिथिलाचारी हो गये थे, पर उनके ऊपर एक विशेष नायक तो अवश्य ही था, पर क्रियोद्धारको पर तो कोई नायक ही नही रहा। परिणाम यह निकला कि आज इस निर्नायकता के साम्राज्य मे एक ही गच्छ मे अनेक आचार्य और अनेक प्रकार के बाह्य मतभेद दृष्टिगोचर होने लगे।"

उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी ने उग्रविहारियों को लक्ष्य कर जो भी कथन किया है वह गच्छानुयायी क्रियोद्धारको को लागू नही हो सकता।

उपाध्यायजी क्रियोद्धारको के विरोधी नही पर उनके परम सहायक थे। इसके बदले में वे यतियो द्वारा कई बार सताये भी गये थे, पर आपने

"सुष्ठु विहित विधान येषा ते सुविहिताः उग्रविहारिण., सुविहिताना माचारः सुविहिताचारः सो यस्यास्तीति "सुविहिताचारी" इस प्रकार सुविहित शब्द मात्र का अर्थ भी आप समझ लेते तो उपाध्यायजी के क्रियोद्धार का विरोध करने की कदापि भूल नही करते ।

अब भी मुनिजी समझ लें कि सुविहिताचारी मुनि वही कहलाते है जो मूल और उत्तर गुणो को समयानुसार शुद्ध पालते हुए अप्रतिबद्ध विहार करते हैं ।

यदि उपाध्यायजी ऐसे थे तो आप माने, चाहे न माने वे क्रियोद्धारक थे यह स्वत. सिद्ध हो जाता है ।

अन्त मे मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी से सानुरोध प्रार्थना करूँगा कि क्रियोद्धारको के सम्बन्ध मे आपने जो अभिप्राय व्यक्त किया है, वह एकदम गलत है । क्रियोद्धारकों से शासन की हानि नही पर हित हुआ है और होगा । भूतकाल में समय-समय पर क्रियोद्धार होते रहे है, तभी आज तक निर्ग्रन्थ श्रमणो का आचार-मार्ग अपना अस्तित्त्व टिका सका है और भविष्य मे भी क्रियोद्धारको द्वारा ही श्रमणो का क्रियामार्ग अक्षुण्ण रहेगा यह निश्चित समझियेगा ।

आशा है, मुनिजी क्रियोद्धार विषयक अपने अभिप्राय की अयथार्थता महसूस करेंगे और शासन के हित के खातिर उसे बदलने की सरलता दिखायेंगे ।

हमें आशा ही नही बल्कि विश्वास है कि इस थोडे से विवेचन से ही मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी क्रियोद्धार विषयक अपनी भूल को समझ सकेंगे और समाज के हितार्थ उसका परिमार्जन करने की सरलता दिखायेंगे ।

हरजी (राजस्थान) ता० २८-६-१९४१

शुरु किया, तब से सविग्न शाखा ने उनसे क्षेत्रादेश पट्टक लेना बद कर दिया था और इसका अनुकरण कतिपय यतियो ने भी किया था, जिससे मजबूर होकर क्षेत्रादेश पट्टक के बदले मे रुपया लेना श्रीपूज्यो को बन्द करना पडा था। फिर भी गच्छपतियो के पतन की कोई हद नही रही थी। प्रतिदिन मूल उत्तर गुणों से वचित होते जाते थे और समाज की श्रद्धा उन पर से हटती जाती थी। समय रहते यदि गच्छपतियो ने भी क्रियोद्धार कर लिया होता तो न सविग्न साधुपरम्परा उनके अकुश से बाहर निकलती और न जैन सघ ही उनसे मुह मरोड़ता। पर यति नही चेते और गच्छपति के स्थान के वारिशदार श्रीपूज्य भी नही चेते, जिसका परिणाम प्रत्यक्ष है। जैन ससार से ही नही आज जगत् भर से उनका नामोनिशान मिटने की तैयारी मे है। कोई अज्ञानी इस दशा का कारण भले ही सविग्न साधुओ का प्राबल्य मानने की भूल करे, पर जो धर्म-सिद्धान्त के जानकार हैं वे तो यही कहेगे कि इस दशा के जवाबदार श्रीपूज्य और यति स्वय है। क्योकि खासकर के जैनसमाज हमेशा से धर्मगुरुओ को पूजता आया है, पर धर्मगुरुओं के निर्गुण खण्डहरो को नही, इस सत्य को वे नही समझ सके।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी आधुनिक श्रमणसघ की अव्यवस्था और पारस्परिक अनमेल की जिम्मेदारी क्रियोद्धारको के ऊपर किस अभिप्राय से मढते है यह समझ में नही आता। कोई दस पीढ़ी पहले के क्रियोद्धारको की सतति मे आज कुछ दोष दीखे तो वह क्रियोद्धार का परिणाम नही किन्तु क्रियोद्धार की जीर्णता का परिणाम है और इससे तो उल्टा यो कहना चाहिए कि क्रियोद्धार हुए बहुत समय हो गया है। उसका असर किसी अश मे मिट गया है अत. नये क्रियोद्धार की आवश्यकता निकट आ रही है। अन्त मे मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी लिखते हैं—

"उपाध्याय महाराज ने न क्रियोद्धार किया और न यतियो की स्वाभाविक शिथिलता को ही सेवन किया। वे तो थे "तटस्थ-सुविहिताचारी श्रमण" जिन्होने समयानुकूल सभी को सदुपदेश दिया।"

उपाध्यायजी को सुविहिताचारी श्रमण मानते हुए भी मुनिजी उन्हे क्रियोद्धारक नही मानते। यह बात तो "माता मे वन्ध्या" जैसी हुई।

और सविग्नो की तरफदारी करने के कारण यति लोगो ने श्री पूज्य की सलाह से उपाध्यायजी को तीन दिन तक एक कमरे मे कैद कर रक्खा था। जिसका गर्भित सूचन आपने "शंखेश्वर पार्श्वनाथ के स्तवन" मे किया है फिर भी आपने यतियो के पक्ष मे रहना मजूर नही किया था।

उपाध्यायजी ने स्वच्छन्द विहारियो के लिए कुछ भी लिखा हो पर वह क्रियोद्धारको के लिए नही हो सकता। चाहे उन्होने सवेगी या सविग्न शब्दो का भी प्रयोग किया हो, पर वर्तमान संवेगी परम्परा को लक्ष्य करके नही हो सकता। कई जगह आपने प्राचीन ग्रन्थो का अर्थ ही नही लिया बल्कि उनके शब्द तक अपनी कृतियो में उतारे है। ऐसे प्रसगो मे प्रयुक्त सवेगी, सविग्न आदि शब्द, जो वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थो से इनकी कृतियो मे आए हुए हैं, उनको वर्तमान व्यक्तियो को लागू करना अनुचित है। उपदेशपद, उपदेशमाला, पोडशक, पचाशक, अष्टक आदि प्राचीन ग्रन्थो को पढकर आप उपाध्यायजी के स्तवन, द्वात्रिंशिकायें, अष्टकादि प्रकरण पढिये। आपको यही ज्ञात होगा कि उपाध्यायजी के ग्रन्थ वास्तव मे प्राचीन ग्रन्थो का रूपान्तर मात्र है।

प० सत्यविजयजी आदि विद्वानो ने आचार्य श्री विजयप्रभसूरिजी की आज्ञा से उनके गच्छपतित्व के समय मे क्रियोद्धार किया था, तब उ० श्री यशोविजयजी ने जिन कृतियों में स्वेच्छा विहारियो की टीका की है, वे वहुधा विजयदेवसूरिजी के समय मे वन चुकी थी, जब कि क्रियोद्धार अभी भविष्य के गर्भ में था। इससे भी सिद्ध है कि उपाध्यायजी के टीका-पात्र क्रियोद्धारक सवेगी नही पर गच्छविहीन 'विजयमती' और 'ढुंढक' आदि थे। सवेगी शब्द को किसी भी क्रियोद्धारक ने अपने लिये रजिस्टर्ड नही करवाया था। कोई भी त्यागी और तपस्वी उस समय 'सवेगी' कहलाता था।

आपका जिन की तरफ सकेत है वे चन्द्रप्रभ, आर्य रक्षित, जिनवल्लभ आदि आचार्य क्रियोद्धारक नही पर मताकर्षक थे। इन्होने क्रियोद्धार नही पर क्रियाभेद और मार्गभेद किया था। इनको क्रियोद्धारक कहना

मु० हरजी, पो० गुड़ा वालोतरा (मारवाड़) ता० ६-७-४१;

विनयादि गुणविभूषित मुनिराज श्री मुनि ज्ञानसुन्दरजी आदि
फलोदी-मारवाड़

अनुवन्दना सुख शाता के वाद निवेदन कि पत्र मिला, समाचार विदित हुए।

उ० श्री यशोविजयजी ने क्रियोद्धार किया था ऐसा उल्लेख उनके किसी वडे स्तवन के टिबे मे प० श्री पद्मविजयजी ने किया है, ऐसा मुझे स्मरण है। पर यहा पुस्तक न होने से निश्चित नही बता सकता।

प० पद्मविजयजी, रूपविजयजी, वीरविजयजी आदि सविग्न शाखा के पिछले विद्वानो ने पूजा आदि ग्रन्थो में अपने समय के श्री पूज्यों को गच्छपति के तौर पर स्वीकार करके उनके धर्म-राज्य मे कृति निर्माण होने के निर्देश किये हैं, इसी तरह इनके गुरु, प्रगुरु आदि ने भी गच्छपतियों को अपना गच्छपति गुरु माना है। यदि वे उनको छोडकर स्वतन्त्र हुए होते तो अपनी कृतियो मे तत्कालीन गच्छपतियो के धर्म-राज्य का उल्लेख करना असंगत होता।

उपाध्यायजी क्रियोद्धार मे शामिल हुए थे इस बात के समर्थन में उपाध्यायजी के—

"परिग्रह ग्रहवशे लिंगीया, लेई कुमति रज सीस,
सलूणे जिम तिम जग लवता फिरे, उन्मत्त हुइ निस दीस सलूणे ॥५॥"

इत्यादि वचन ही प्रमाण है।

प० पद्मविजयजी कृत उपाध्यायजी के स्तवन के टवे के उपरान्त आज कोई पूरावा नही है। पर श्री उपाध्यायजी ने यति समाज की जो लीलाएँ प्रकाशित की हैं इससे ही स्पष्ट होता है कि वे यतियो के कट्टर विरोधी थे। दन्तकथा तो यहा तक प्रचलित है कि यतियो का विरोध

"विषम काल ने जोरे केई" इत्यादि पांचों ही गाथाएँ नवीन वेष-धारियों के लिये हैं। मैं ही नही इस स्तवन के टवार्थ लेखक भी जो उपाध्यायजी के अधिक पश्चाद्वर्ती नही थे, यही कहते हैं कि उपाध्यायजी का यह उपदेश ढुंढको के लिए है। देखिये नीचे का उल्लेख—

"प्राइं ए ढाल ढुंढीया लूंका आश्रिने छे, पछें बीजीइं जीव ने सीपामरण छैं, हवें तें ढुंढिया ने माथें गुरु नथी ते माटे इम कह्यु जे "उठ्या जड़ मलधारी" इत्यादि शब्दो मे अर्थकार ने उपाध्यायजी का उक्त कथन ढुढको में घटाया है और "श्रुत हीलनोत्पत्ति" कारको के विषय में लिखे गये "वग चूलिया" प्रकरण का पाठ उद्धृत किया है।

"गुरु गच्छ छोडी" इन शब्दो ने आपके दिमाग को भ्रमित कर दिया है, इसलिये आप कहते हैं कि इनके गुरु गच्छ नही थे तो छोड़ना कैसा? परन्तु स्वस्थ चित्त से सोचेंगे तो इसमे अनुपपत्ति कुछ भी नही है। गुरु गच्छ छोड़ने का अर्थ "गुरु गच्छ मे से निकल कर" यह नही है किन्तु इसका अर्थ 'गुरु गच्छ की निरपेक्षतावाले' ऐसा होता है, जैसे "कौआ सरोवर को छोड़कर छीलर जल पीता है" यहा सरोवर छोड़ने का अर्थ उसमें से निकलना नही होता, किन्तु उसकी उपेक्षा करना होता है। इसी तरह प्रकृत मे श्री गुरु गच्छ छोडने का अर्थ गुरु गच्छ की उपेक्षा मात्र होता है। उपेक्षक गच्छ मे से निकला हो या स्वयंभू हो, जब तक वे गुरु गच्छ की दरकार न करेंगे दोनो गुरु गच्छ छोड़ने वाले ही कहलायेंगे।

"नाणतणो संभागी होवे' इत्यादि गाथाये भी गुरु की जरूरत न समझने वाले ढुढको के लिये हैं। देखिये उनमे के नीचे के शब्द—

"दुख पाम्या तिम गच्छ तजी ने, आपमती मुनि थाता रे"

क्या गुरु के पास दीक्षा लेकर क्रियोद्धार करने वालो के लिए "आपमती मुनि थाता" ये शब्द सगत हो सकते हैं? कभी नही, गुरु के पास सघ समक्ष पंच महाव्रत उच्चरने के उपरान्त अधिक समय तक गुरु के पास रहकर सिद्धान्त पढ़ने के वाद उग्रविहार करने वाले क्रियोद्धारको के

सरासर भूल होगी। इन्होने संघभेद करके शासन की हानि की है यह बात मैं मानता हूँ, मतप्रवर्तक अथवा नूतन गच्छ प्रवर्तकों के नाते आप इनके लिये कुछ भी लिखे हमारा विरोध नही, बाकी इनको 'क्रियोद्धारक' मानकर कुछ भी लिखना वास्तविकता से दूर होगा। "ऊकेश गच्छ चरित्र" का वह प्रसग याद होगा जहा कि ऊकेश गच्छ के एक प्रसिद्ध आचार्य के– "चन्द्रकुल प्रवर्तक श्री चन्द्रसूरिजी" के निकट क्रियोद्धार करके उपसंपदा ग्रहण करने का उल्लेख किया गया है। तेरहवी शती में "श्री देवभद्र गणि" तथा "श्री जगच्चन्द्रसूरि" और उन्ही की परम्परा मे "श्री आनन्द-विमलसूरिजी" आदि प्रसिद्ध क्रियोद्धारक हो गये हैं, पर आप यह नही बता सकेंगे कि इन्होने कोई मत पथ खडा किया था, अथवा संघभेद किया था।

यदि उपर्युक्त क्रियोद्धारको पर आपका कटाक्ष नही है तो आप जो कुछ लिखे (मत प्रवर्तक) अथवा (नूतन गच्छ सर्जक) इस हेडिंग के नीचे लिखें और उसमे "क्रियोद्धारक शब्द" का प्रयोग करने की गल्ती न करे।

भवदीय :
कल्याणविजय

मु० हरजी, पो० गुढा बालोतरा
(मारवाड) ता० २७–७–४१

विनयादि गुणविभूषित मुनिराज श्री ज्ञानसुन्दरजी गुणसुन्दरजी,
फलोदी–मारवाड

अनुवन्दना सुख शाता के साथ निवेदन कि पत्र आपका मिला समाचार जाने।

आप उपाध्यायजी के जिन उल्लेखो के आधार पर क्रियोद्धारको का खण्डन करना चाहते हैं, वास्तव में वे उल्लेख क्रियोद्धारको के लिए नही पर तत्काल निकले हुए स्थानकवासी वेषधारियो, ढुंढकों तथा पासत्थो के लिये हैं।

की इन गाथाओ मे पूर्व ग्रन्थो की छायामात्र है। वर्तमान के साथ इनका खास सम्बन्ध नही है ।

तत्कालीन यतियो मे भी "उग्रविहारी वर्ग होने की आपकी कल्पना निराधार है।" अठारहवी सदी में जहा तक मैं समझ सका हूँ यतियों में व्यापक रूप से शिथिलाचार फैल चुका था। यदि तब तक उग्रविहारी विद्यमान होते तो क्रियोद्धार कर उग्रविहार स्वीकार करने की पं० सत्य-विजयजी आदि को कभी जरूरत नही पड़ती। यह सही है कि कितनेक यति सर्वथा पतित अवस्था को पहुँच चुके थे, तब एक वर्ग ऐसा भी था जो मूल गुणो को लिए हुए था। पर उग्रविहारी जैसी कोई चीज नही रही थी ।

अभी न तो हमारे पास उपाध्यायजी के ग्रन्थ है और न उतनी फुरसत हो है कि उन्हे मगवाकर पढूँ। हमारी तरफ मे इस विषय मे जो कुछ मतव्य था लिख दिया है।

श्री विजयप्रभसूरिजी स्वय उग्रविहारी तो न थे, पर उनके मूल गुणो मे कोई खामी नही थी। उनके पास मध्यम और कनिष्ठ स्थिति के यति थे। अतः वहाँ रहकर उग्रविहारीपन रखना मुश्किल था इस कारण मे सत्यविजयजी आदि ने गच्छपति की सम्मति से क्रियोद्धार करके यतियो का संसर्ग छोड़ा था। पर गच्छपति के साथ वन्दन-व्यवहार रखते थे और उनकी धार्मिक आज्ञाओ को भी मानते थे।

सवेगी और सविग्न शब्द पुराने हैं। क्रियोद्धारको के लिए ही नही, किसी भी त्यागी तपस्वी के लिये व्यवहृत होते थे।

"सबोधप्रकरण" आदि ग्रन्थ पढने से आपको इन शब्दों की प्राचीन रूढ़ता का पता लगेगा। यही नही बल्कि उपाध्यायजी के बहुत से वचन उक्त ग्रन्थ के अनुवाद मात्र हैं यह भी ज्ञात होगा।

"ऊकेश गच्छचरित्र" के अनुसार "श्री यक्षदेवसूरि ने श्री चन्द्रसूरिजी के पास उपसम्पदा ली थी" और यही हकीकत सत्य भी है।

लिये "पंच महाव्रत किहाँ उच्चरियाँ सेव्यु केहनु पासुं रे" इत्यादि कथन किया जा सकता है ? ये शब्द उन्ही के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं जो गुरु निरपेक्ष होकर स्वय साधु बने हों। सचमुच ही ढुंढकादि ऐसे थे और उन्ही को लक्ष्य करके उपाध्यायजी ने उक्त शब्द लिखे हैं।

"चढ्या पढ्यानो अन्तर समझी" इत्यादि दो गाथाएँ भी ऐसे ही स्वयम्भू साधुओ की उत्कृष्टता की पोल खोलने के लिये कही गई हैं और इनके नीचे की "पासत्थादिक सरीखे वेषे" यह गाथा उन उद्भट वेषधारी यतियो के लिये है, जो पासत्थो की कोटि में प्रविष्ट हो चुकने पर भी अपने को साधु मानते थे। वर्ण बदल कर कपड़े पहनने वालो का इससे कोई वास्ता नही है।

"हीणो निज परिवार वढावे" इत्यादि तीन गाथागत उपदेश ढुंढकों के लिए है।

"पहेली जे व्रत झूठ उच्चरिया" यह कथन स्वयम्भू साधुओ को लक्ष्य करके किया गया है।

उपाध्यायजी कहते हैं—'तुमने पहले जो महाव्रत गुरु विना स्वय उच्चरे हैं वे प्रामाणिक नही हैं, इसलिए तुम फिर गुरुसाक्षिक महाव्रत धारण करो।'

जो क्रियोद्धारक गुरु-आज्ञा से उत्कृष्ट चारित्र पालते थे उनके लिये उक्त कथन कभी संगत नही हो सकता।

"पासत्थादिक ज्ञाति न तजई" ये शब्द उन यतियो के लिये हैं जो आप "पासत्थो के लक्षण युक्त तथा पासत्थो से संसक्त रहते हुए भी साधु होने का दावा करते थे।"

उपाध्यायजी के इन वचनो से यही सिद्ध होता है कि उपाध्यायजी स्वय पासत्थो और पासत्थो के शामिल रहने वाले यतियो से दूर रहते थे। इसके आगे की गाथायें उन कपटी साधु नामधारियो के सम्बन्ध मे हैं जो त्यागी होते हुए भी आत्मप्रशसक और परनिन्दक होते थे। उपाध्यायजी

: २४ :

जैन संघ के बंधारण की रूपरेखा की अशास्त्रीयता

लेखक पं० कल्याणविजय गणि

❖

कुछ दिन पहले यहा के धार्मिक अध्यापक ने हमे एक छोटी पुस्तिका दी, जिसका शीर्षक "जैन सघ के वधारण की रूपरेखा" था। पुस्तिका को पढ़कर अपनी सम्मति प्रदान करने का भी अनुरोध किया। इस पर पुस्तिका को पढ़ने के उपरान्त हमे जो कुछ इसके सम्बन्ध मे विचार स्फुरित हुए वे नीचे लिखे अनुसार है।

रूपरेखा की पुस्तिका पर लेखक का कोई नाम नही है, परन्तु प्रकाशक के "आमुख" के पढ़ने से ज्ञात हुआ कि इसके लेखक दो हैं। पहले एक साधुजी जो गणिपदधारी है और दूसरा गृहस्थ है जो पण्डित कहलाता है। लेखको ने अपना नाम टाइटल पेज पर नही दिया इसका कारण तो वे ही जाने, परन्तु ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण लेख मे लेखको को अपने नाम अवश्य देने चाहिए थे।

लेखको ने पीठवन्ध मे ही "जैन शासन" अर्थात् "सघ" की व्यवस्था करने मे भूल की है। क्योकि जैन शासन का प्राथमिक सूत्र तत्त्वत्रयी है, जिसमे देव, गुरु और धर्म का समावेश होता है। देवतत्त्व मे अरिहन्त और सिद्ध, गुरु तत्त्व मे आचार्य, उपाध्याय तथा श्रमणगण और धर्म-तत्त्व मे सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र सन्निविष्ट हैं। "जैन-प्रवचन", "जैन-सघ" या "जैन-तीर्थ" सब तत्त्वत्रयी में समा जाते हैं। ज्ञानाचारादि पचाचार (पाच आचार) आदि सभी बातें इसके प्रत्यग मात्र हैं, मौलिक अग नही।

तत्कालीन पार्श्वनाथ संतानीय साधु पूर्णरूपेण शिथिलाचारी हो चुके थे और कुगुरुओ में पासत्था के नाम से वे पहले नम्बर मे गिने जाते थे, इसलिये पार्श्वसंतानीय आचार्य ने सुविहित गच्छ की उपसम्पदा धारण कर अपने को शिथिलाचार से मुक्त किया था। "ऊकेश गच्छ चरित्र" फिर पढकर निर्णय कर लीजिये। उपकेश गच्छीय पट्टावली मे जो इस विषय में विपरीत लिखा है, वह पिछले यतियो की करतूत है और सर्वथा अप्रामाणिक है।

इस विषय मे अब मैं आपसे ज्यादा लिखा-पढी नही करूँगा, यदि आपको जचे तो अपने विचारो को परिष्कृत कर प्रकट कीजिये अन्यथा जनता के भ्रमनिवारण के लिए जो उचित होगा लेख के रूप मे प्रतीकार किया जायगा।

भवदीय :
कल्याणविजय

इस स्थिति मे "चौवीस तीर्थङ्करो के यक्ष, यक्षिणियो को जिन-शासन का अधिष्ठायक देव मानना अथवा कहना शास्त्र-विरुद्ध है।"

(२) "शासन की संपत्ति के संचालन के अधिकारी" :

शासन की सम्पत्ति के अधिकारियो का निरूपण करते हुए लेखक कहते है—"शासन की मिलकत का रक्षण करने का अधिकार चतुर्विध सघ को है। परन्तु यह लिखना भी जैन निर्ग्रन्थ श्रमणसघ की शासन-व्यवस्था-पद्धति सम्बन्धी लेखकों की अनभिज्ञता का सूचक है, क्योकि "श्रमणसघ की शासन-व्यवस्था अपने आचारो, विचारो, पठनो, पाठनो, परस्पर के सम्बन्धो को ठीक रखने और विशेष संयोगों मे सघस्थविर द्वारा सघ समवसरण बुलाकर झगडो वखेड़ो का निपटारा करने तक ही सीमित थी।" जगम, स्थावर मिलकतो पर न श्रमणो का दखल था, न अधिकार। इन बातो मे श्रमणगण उपदेशक रूप मे गृहस्थो को मार्ग-दर्शन करा सकते थे। जगम-स्थावर मिलकतो का रक्षण और व्यवस्था करना, जैन गृहस्थो तथा उपासको का काम था, न कि जैन श्रमण-श्रमणियो का। जब से श्रमण वनवास को छोड़कर अधिकांश मे ग्रामवासी हुए, उसके बाद धीरे-धीरे चैत्यवास और चैत्यो की व्यवस्था मे उनका सम्पर्क बढता गया। परिणाम यह हुआ कि श्रमणसघ की मौलिक विशुद्ध शासन-व्यवस्था निर्वल होती गई और चैत्यवासी साधुओ के प्रावल्य से उनके बहुमत से शासन-पद्धति ने नया रूप धारण किया जो किसी अश मे आज तक चला आ रहा है। परन्तु ऐसी शिथिलाचारियो के बहुमत से दृढमूल बनी हुई अनागमिक शासन-व्यवस्था को जैन सघ के बधारण मे स्थान देना शास्त्रीय-दृष्टि से उचित नही है।

आगे लेखक कहते हैं—"संघ के शाश्वत अधिकारो को क्षति पहुँचाने वाले और सघ का अनुशासन नही मानने वाले जैन नामधारियों को सडे पान की तरह सघ से दूर कर देना चाहिए। लेखकों के इस कथन से हम सम्पूर्णतया सहमत हैं, परन्तु लेखक महोदय यदि पिछले २१०० वर्षों का जैन सघ का इतिहास जान लेते तो उपर्युक्त कथन करने का साहस ही

(१) शासन-रक्षक देव और देवियाँ :

लेखक मानते हैं कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन का रक्षक एक देव-देवी युगल होता है, जैसे ऋषभदेव के शासन का रक्षक "गोमुख यक्ष; चक्रेश्वरी देवी ।' लेखको का यह कथन जैनागम से विरुद्ध है । जैनागमों तथा उसके प्राचीन अगो मे इन देव-देवियो का नाम निर्देश तक नही है । सर्वप्रथम "निर्वाणकलिका" और उसके बाद "प्रवचनसारोद्धार" नामक प्रकरण मे ये देव-देवी युगल दिखाई देते हैं, परन्तु वे शासनरक्षक के रूप मे नही किन्तु तीर्थङ्करो के "चरणसेवको" के रूप मे बताये गये है । 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ के बाद के तीर्थङ्कर-चरित्र-ग्रन्थो मे भी उन यक्ष-यक्षिणियो के नाम मिलते हैं । परन्तु उन्हे 'शासन-रक्षक' वा 'प्रवचन-रक्षक' कहना भूल है । प्राचीन काल मे जब सपरिकर जिनमूर्तियां प्रतिष्ठित होती थी, उस समय इन देव-युगलों को जिनमूर्ति के आसन के निम्न भाग मे दिखाया जाता था । परिकरपद्धति हट जाने के बाद उस प्रकार के सिंहासन भी हट गए और मन्दिरो मे से इन देव-युगलो का अस्तित्व भी मिट सा गया था, परन्तु गत शताब्दी से इन देव-युगलो की पृथक् मूर्तिया बनवाकर मन्दिरो मे बैठाने की प्रथा चल पड़ी है, जो शास्त्रीय नही है , इन देवयुगलो का आवश्यक-निर्युक्ति मे निरूपण बताना लेखको की आवश्यक-निर्युक्ति से अनभिज्ञता सूचित करता है । आवश्यक-निर्युक्ति मे इन देव-देवियो का निरूपण तो क्या इनका सूचन तक नही है ।

जैन प्रतिष्ठाकल्पादि ग्रन्थो मे "पवयणदेवया; सुयदेवया" अथवा "शासन देवया" नाम से जिन देवताओ के कायोत्सर्ग अथवा स्तुतियाँ बताई हैं, वे वास्तव में जिनप्रवचन पर भक्ति रखने वाली देवियों के पर्याय नाम हैं । कही-कही तीर्थङ्कर-विशेष पर भक्ति रखने वाले अजैन देवों को भी शासन देव के नाम से निर्दिष्ट किया है, जैसे "सर्वानुभूति-यक्ष", "ब्रह्मशान्ति देव" इत्यादि । परन्तु इनके जैनशासन-देव होने का यह तात्पर्य नही है, कि ये जिनप्रवचन अथवा जिनशासन के अधिष्ठायक हैं ।

बात है, न लेखको की शासन-संस्था का शिस्त भग करने वाले व्यक्ति को सघ से निकाल देने की बात । १५ वी सदी के अन्त मे बने हुए 'आचार-प्रदीप' मे ज्ञानाचारादि पांच प्रकार के आचारो को शुद्ध पालने का उपदेश है और उनमे अतिचार लगाने पर भवान्तर मे उनको अशुभ फल मिलने के दृष्टान्त हैं । 'आचार दिनकर' १५वी सदी का एक ग्रन्थ है, इसमे शिथिलाचार्यों की मान्यताओ का निरूपण है और दिगम्बर भट्टारको के प्रतिष्ठा-पाठ, पूजा-पाठ और पौराणिक शान्तियो का सग्रह है । यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार प्रामाणिक कहा नही जा सकता और इसमे भी सघ के बधारण का निरूपण नही है । "आचारोपदेश" सत्रहवी सदी के लगभग प्रारम्भ का छोटा-सा ग्रन्थ है, इसमे श्रावकों के उपयुक्त पूजा आदि आचार मार्ग का प्रतिपादन किया गया है । सघ के बधारण मे इसकी कोई उपयोगिता नही । "गुरुतत्त्वविनिश्चय" ग्रन्थ मे गुरुतत्त्व की पहिचान के लिए शिथिलाचारियो का खण्डन किया है और गुरु कैसे होने चाहिए, इस बात का प्रतिपादन किया है । इसमे भी सघ के बंधारण की रूपरेखा का कोई साधन नही है, न शासन सस्था का शिस्त भग करने वालो के लिए प्रतिकार है ।

"व्यवहार" और "बृहत्कल्प" दोनो छेद सूत्र हैं । कल्प मे किन-किन बातो से श्रमण-श्रमणी को प्रायश्चित लगता है, यह निरूपण है । व्यवहार मे भी वर्णन तो अपराध पदो तथा प्रायश्चित पदो का ही है, परन्तु इसमे प्रायश्चित देने का तरीका विशेष रूप से बताया गया है, जिसके कारण इसका नाम "व्यवहार" रखा ।

"निशीथ" उपर्युक्त छेद-सूत्रो के बाद व्यवस्थित किया गया छेद-सूत्र है । इसमे कल्प, व्यवहार, दोनो सूत्रो का प्राय सारभाग आ जाता है । "महानिशीथ" प्राचीनकाल मे जो था, वह अब नही है । वर्तमान महानिशीथ प्राय. विक्रम की नवमी शताब्दी का सन्दर्भ है । इसके उद्धारक प्रसिद्ध श्रुतधर हरिभद्रसूरि कहे गए हैं, परन्तु हरिभद्रसूरि के समय मे इसका अस्तित्व ही नही था । यह बात अनेक प्रमाणो के आधार पर निश्चित हुई है । महानिशीथ के सप्तम अध्याय मे प्रायश्चितों का निरूपण

नही होता। अन्तिम श्रुतधर आर्यरक्षित सूरि के समय तक कोई भी श्रमण जिनवचन का विरोध कर विपरीत प्ररूपणा करता तो उसे संघ बाहर कर दिया जाता था। यह सघ बाहर की परम्परा महावीर-निर्वाण के बाद ६०० वर्ष तक चलती रही। इस समय के दर्म्यान जमालि से लेकर गोष्ठा माहिल तक सात साधु सघ बाहर किए गए, जो जैन शास्त्र में "निन्हव" के नाम से प्रख्यात हैं। इसके बाद धीरे-धीरे साधुओं का निवास वसति मे होता गया, गृहस्थो से सम्पर्क बढता गया। पहले जो दिनभर का समय पठन-पाठन तथा स्वाध्याय मे व्यतीत होता था, उसका कुछ भाग जिनचैत्य निर्माण, उनकी व्यवस्था आदि का उपदेश देने में बीतने लगा, गृहस्थो का परिचय बढा। इसके फलस्वरूप सघ बाह्य करने का शस्त्र धीरे-धीरे अनुपयोगी हो जाने से तत्कालीन श्रुतधरों ने इस शस्त्र का प्रयोग करना ही बन्द कर दिया। यदि कोई शास्त्र अथवा प्रामाणिक प्रणाली के विरुद्ध की बात कहता भी तो उसके आचार्य उसे समझा देते, इस पर भी कोई अपना हठाग्रह न छोडता तो उसे अपने समुदाय से जुदा कर देते। सघ बाहर करने तक की नौबत आती नहीं थी। अन्तिम शताब्दी के पिछले ५५ वर्षों के भीतर मैंने देखा कि सघ बाहर के हथियार का उपयोग कुछ साधु श्रावको ने अमुक व्यक्तियों पर किया, परन्तु उसमे कुछ भी सफलता नही मिली और जब तक श्रमण समुदाय मे ऐक्य न होगा और गृहस्थो का अतिससर्ग न मिटेगा, तब तक सघ से बाहर करने की बात, बात ही रहेगी।

(३) शासन-संचालन किस आधार पर ? :

उक्त शीर्षक के नीचे लेखक कुछ ग्रन्थो और सूत्रो का नामोल्लेख करते है, जैसे 'आचार-दिनकर, आचार-प्रदीप, आचारोपदेश, गुरु-तत्त्व-विनिश्चय, व्यवहार, बृहत्कल्प, महानिशीथ, निशीथ; इन ग्रन्थ-सूत्रो के नामोल्लेखो से तो ज्ञात होता है कि उन्होने इन ग्रन्थ सूत्रो मे से एक को भी पढ़ा या तो सुना तक नही है। मैंने इन सभी को पढा है और महा-निशीथ, निशीथ को दो-दो बार पढा है। अन्तिम चार सूत्रो के नोट तक मैंने लिये है। इन आठ ग्रन्थो मे से एक मे भी न सघ के बधारण की

देश-प्रदेशो मे लोक-हितार्थ उपदेश करते हैं। तीर्थङ्कर स्वय भी धर्म तथा तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया करते है और उनके उपदेश से जो वैराग्य प्राप्त कर उनके श्रमरण सघ मे दाखिल होना चाहते हैं, उन्हे निर्ग्रन्थ श्रमण की प्रव्रज्या देकर श्रमरण-श्रमरिणयो के प्रमुखत्व मे श्रमरण श्रमरणीगरण की व्यवस्था शिक्षा करने वाले स्थविरो तथा प्रवर्तिनियो को सुपुर्द करते है और वे अभिनव श्रमरण-श्रमणियो को ग्रहरण, आसेवन नामक दो प्रकार की शिक्षा से ज्ञान तथा आचार मे प्रवीरण बनाते हैं, यही श्रमरण सघ का सचालन है। तीर्थङ्कर इस सचालन मे उपदेश प्रदान के अतिरिक्त कोई उत्तरदायित्व नही रखते। गरणधरो के निर्वाण के बाद उनके उत्तराधिकारी आचार्य इसी क्रम से शासन सचालन करते हैं। श्रमरण समुदाय के सामान्य कार्यों मे हस्तक्षेप न कर केवल ग्रहरण-शिक्षा मे अर्थानुयोग प्रदान करते है और जैन प्रवचन के ऊपर होने वाले अन्य धर्म-शासको के आक्षेपो-आक्रमरणो का सामना करने का उत्तरदायित्व रखते है। इन कार्यो का सुचारु रूप से सचालन हुआ करे, इसके लिए अपने सम्प्रदाय मे से योग्य व्यक्तियो को भिन्न-भिन्न कार्यों पर नियुक्त कर देते है। ऊपर कहा गया है कि आचार्य विद्यार्थी साधुओ को अर्थ का अनुयोग मात्र देते हैं। वे सूत्र-पाठ देने के लिए अन्य श्रमरण को नियुक्त करते है, जो साधुओ को सूत्र पढाता है और उपाध्याय कहलाता है। समुदाय के साधुओ को उनकी योग्यता-नुसार कार्यों मे नियुक्त करने के लिए एक योग्य बुद्धिमान् साधु नियुक्त होता था, जो गरण के साधुओ को अपने-अपने कार्यों मे प्रवृत्त करने और प्रमाद न करने का उपदेश दिया करता था। यह अधिकारी "प्रवर्त्ती" अथवा "प्रवर्तक" कहलाता था। साधुओ से प्रमादवश होने वाले अपराधो; राग-द्वेष से होने वाले मतभेदो और झगडो का निराकरण करने के लिए, एक गीतार्थ समभावी वृद्ध श्रमरण नियुक्त किया जाता था, जो श्रमरणो को प्रायश्चित-प्रदान और आपसी झगडो का न्याय देता था। यह पुरुष "स्थविर" अथवा "रत्नाधिक" नाम से सम्बोधित होता था। गरण के साधुओ के गच्छ (टुकड़ियाँ) बनाकर भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे विहार कराना और टुकड़ियो मे से साधुओ को इधर-उधर अन्यान्य टुकड़ियो मे जुटाना

है, जो जैन संघ में कभी व्यवहार मे नही आए। शेष अध्यायों मे से कुछ औपदेशिक गाथाओ से भरे हुए हैं, तब अधिकाश कथा दृष्टान्तो से भरे हुए हैं, जिनमे कि कई बातें प्रचलित आगमो से विरुद्ध पड़ती हैं।

उपर्युक्त सूत्रों मे से प्रथम के तीन सूत्रो मे केवल साधु-साध्वी के आचार मार्ग मे होने वाले अपराधो का प्राश्चित निरूपण है। लेखकों की चतुर्विध सघात्मक शासन-सस्था का वधारण नही।

महानिशीथ मे भी अधिकाश श्रमण-श्रमणियो के योग्य उपदेश और दृष्टान्त है, श्रावक श्राविकात्मक सघ की कोई चर्चा नही।

जिस सघ के वधारण की रूपरेखा घड़ने मे सहायक होनें की बात लिखी गई है। उन ग्रन्थों मे वास्तविक क्या हकीकत है, इसका सक्षिप्त दिग्दर्शन ऊपर कराया है, लेखक इस पर विचार करेंगे तो उक्त ग्रन्थो के नाम बताने मे उनकी भूल हुई है, यह बात वे स्वय समझ सकेंगे।

(४) संचालकों की कथाएँ :

उपर्युक्त शीर्षक नीचे लेखको ने शासन सचालन के अधिकारियो की नामावली देते हुए कहा है कि "शासन सचालको मे सर्वोच्च अधिकारी तीर्थङ्कर, उनके बाद गणधर, फिर आचार्य, गौणाचार्य, फिर गणि गणावच्छेदक, वृषभ, गीतार्थ मुनि, पन्यास आदि पदस्थो को क्रमशः शासन सचालन के अधिकार दिए गए हैं।"

लेखको के उपर्युक्त विवरण मे भी अनेक आपत्तिजनक बाते है। तीर्थङ्करो को शासन सचालन के सर्वोच्च अधिकारी कहना भ्रान्ति-पूर्ण है। तीर्थङ्कर सचालक नही, किन्तु तीर्थ के प्रवर्तक होते है। वे अपने प्रधान शिष्यो को प्रवचन का बीज "उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" यह त्रिपदी सुनाते हैं और शिष्य इससे शब्द विस्तार द्वारा द्वादशाङ्गी की रचना करते हैं और अपने परम गुरु तीर्थङ्कर भगवन्त की आज्ञा पाकर इस प्रवचन अथवा द्वादशाङ्गी रूप तीर्थ का

सम्बन्धी कक्षाओ का निरूपण कितना भ्रान्तिजनक है। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि लेखक शासन अथवा प्रवचन का अर्थ तो करते हैं— साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध सघ और सचालको की कक्षाओ मे श्रावक-श्राविका-रूप द्विविध सघ को कोई स्थान ही नही देते। इस स्थिति मे शासन-सस्था के संचालन मे चतुर्विध संघ को अधिकारी मानने का क्या अर्थ होता है, इसका लेखक स्वय विचार कर।

(५) श्रीसंघ की कार्यपद्धति के आधार तत्त्व :

उपर्युक्त शीर्षक के नीचे लेखको ने 'पाच व्यवहारो' की चर्चा की है, परन्तु नाम आगम, श्रुत, धारणा और जीत चार लिखे है। मालूम होता है, तीसरा 'आज्ञाव्यवहार' उन्हे याद न होगा। इन पांच व्यवहारो को लेखक सघ की व्यवस्था के नियम और सचालन पद्धति के मुख्य तत्त्व मानते हैं।' लेखको के इस कथन को पढकर हमारे मन मे यह निश्चय हो गया है कि पाँच व्यवहार किस चिड़िया का नाम है, यह उन्होंने समझा तक नही। सुनी सुनायी पच-व्यवहार की बात को आगे करके सघ की व्यवस्था और उसके सचालन की बाते करने लगे हैं। इन पाच व्यवहारो को सामान्य स्वरूप भी समझ लिया होता तो प्रस्तुत प्रसग पर इन व्यवहारो का उल्लेख तक नही करते, क्योंकि इन व्यवहारो का सम्बन्ध श्रमण-श्रमणियो के प्रायश्चित्त प्रदान के साथ है, अन्य किसी भी व्यवस्था, विधि-विधान या सचालन-पद्धति से नही। "केवली, मन.पर्याय-ज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर, दशपूर्वधर तथा नवपूर्वधर" श्रमण-श्रमणियो की दोषापत्तियो का गुरुत्व लघुत्व अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से जानकर उस दोष की शुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्त प्रदान करते थे, उसे "आगमव्यवहार" कहते थे। इसी को "प्रत्यक्ष व्यवहार" भी कहते थे। बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ-सूत्र, पीठिका आदि के आधार से श्रमण-श्रमणियो को जो प्राय-श्चित्त दिया जाता है वह "श्रुतव्यवहार" कहलाता है।

एक प्रायश्चित्तार्थी आचार्य अपने अपराध पदो को साकेतिक भाषा मे लिखकर अपने अगीतार्थ शिष्य द्वारा अन्य श्रुतधर आचार्य से प्राचश्चित्त

इत्यादि कार्यों के लिए एक योग्य श्रमरण नियुक्त होता था, जो "गणाव-च्छेदक" नाम से पहिचाना जाता था।

उपर्युक्त गण-व्यवस्थापक का पाँच पुरुषों की नामावलि के साथ कभी-कभी "गणी" तथा "गणधर" इन दो नामो से भी निर्देश होता है। "गणी" का अर्थ निशीथचूर्णि मे "इन्चार्ज अधिकारी" के रूप मे किया गया है। आचार्य की अनुपस्थिति में वह "आचार्य" का काम बजाता था और उपाध्याय की अनुपस्थिति में "उपाध्याय" का। इसी से "गणी" शब्द का अर्थ कही आचार्य और कही उपाध्याय किया गया है। "गणधर" शब्द का तात्पर्य यहा गणवच्छेदक-कृत श्रमणो की टुकड़ियो के नेता गीतार्थ श्रमण से हैं, न कि तीर्थङ्कर-दीक्षित मुख्य शिष्य गणधर से।

उपर्युक्त आगमोक्त गणव्यवस्था का दिग्दर्शन मात्र है। सर्व गणों का सम्मिलित समुदाय सघ कहा गया है। इससे समझना चाहिए कि गणो की व्यवस्था ही सघ-शासन-व्यवस्था थी। सघ सम्बन्धी विशेष कामों के लिए ही संघ समवसरण होता था और उसमे विशेष कामो का खुलासा होता था, बाकी सव श्रमणगण अपने-अपने गणाधिकारियो की शास्त्रीय व्यवस्थानुसार चलते थे। सघ के कार्यों में वृषभ, पन्न्यास आदि को कोई अधिकार प्राप्त नही थे। वृषभ उस साधु को कहते थे, जो शारीरिक वल वाला और कृतपरिश्रम होने के उपरान्त गीतार्थ होता। समुदाय के साधुओं के लिए वस्त्र-पात्रादि की प्राप्ति कराना और चातुर्मास्य योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना करना, ये वृषभ साधु के मुख्य काम होते थे। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त गुणो के उपरान्त वृद्धावस्था वाला वृषभ श्रमणियो के विहार मे भी उनका सहायक बना करता था। पन्यास यह कोई अधिकार-सूचक पद नहीं है, किन्तु व्यक्ति के पाण्डित्य का सूचक पद है। इस पदधारी मे जैसी योग्यता होती, वैसे अधिकार पर वह नियुक्त कर लिया जाता था और उस हालत में वह अपने अधिकार-पद से ही सम्बोधित होता था, न कि पन्यासपद से।

उपर्युक्त शास्त्रीय संघ-शासन की व्यवस्था का निरूपण पढ़कर विज्ञ पाठकगण अच्छी तरह समझ सकेंगे कि लेखको का शासन-संचालन

अनेक बातें उपस्थित होती थी और उन पर वाद-विवाद होकर सर्व-सम्मति से अथवा बहुमति से प्रस्ताव मान्य किये जाते थे। लेखकों ने चुनाव की बात को विदेशियो की कहकर जैन शास्त्रो से अपनी अनभिज्ञता मात्र प्रकट की है।

(७) अनुकम्पा :

सघ के बधारण की रूपरेखा के १५वे फिकरे मे दिए गए "अनुकम्पा" इस शीर्षक के नीचे लेखक लिखते हैं—"जिनेश्वर प्रणीत पाँच प्रकार के दानो मे अनुकम्पा का समावेश है।"

ऊपर के अवतरण मे लेखक अभय, सुपात्र, अनुकम्पा, उचित और कीर्ति दान इन पाँच दानो को अर्हत्प्रणीत मानते हैं, जो जैन शास्त्र-विरुद्ध है। प्राचीन आगमो, प्रकरणो और विक्रम की दसवी शताब्दी तक के चरित्रादि ग्रन्थो मे केवल तीन दानो का ही प्रतिपादन मिलता है। वे तीन दान १ अभयदान, २ ज्ञानदान, ३ उपष्टम्भदान इन नामो से वर्णित हैं। अनुकम्पा दान का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी की "समराइच्चकहा" मे मिलता है। उपर्युक्त तीन दानो का सविस्तार प्रतिपादन करने के बाद आचार्य हरिभद्रजी कहते हैं—"अनुकम्पा दान का जिनेश्वरो ने निषेध नही किया है" अर्थात् अनुकम्पा दान का न शास्त्र मे विधान है, न उसका प्रतिषेध। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आगमो मे अनुकम्पादान की चर्चा ही नही है। आचार्य हरिभद्रसूरि के उपर्युक्त उल्लेख के बाद लगभग तीन सौ वर्षों के पश्चात् अनुकम्पा-दान को उपर्युक्त तीन दानो के समीप स्थान मिला और उचित तथा कीर्तिदान धार्मिक रूप मे कब माने गये इसका तो कोई आधार ही नही मिलता। अर्वाचीन औपदेशिक ग्रन्थो मे स्थान प्राप्त—

"अभय सुपत्तदाण, अणुकम्पा उचिय कित्तिदाणाइ।
दुण्णिहि मुक्खो भणियो, तिण्णि य भोगाइय दिति ॥"

इस गाथा मे पाच दानो का निरूपण मिलता है, परन्तु यह गाथा किस ग्रन्थ की है, इसका कोई पता नही मिलता। इस प्रकार की अर्वाचीन

मगवाते थे। तब प्रायश्चित्तदाता श्रुतधर भी सांकेतिक भाषा मे ही दोषों का प्रायश्चित्त लिखकर पत्र द्वारा मगाने वाले आचार्य के पास भेजते हैं। इस रीति से लिए-दिए जाने वाले प्रायश्चित्त-व्यवहार को "आज्ञाव्यवहार" कहते थे। आचार्य अपने शिष्यादि को जिन अपराधो का जो प्रायश्चित्त देते उनको साथ मे रहने वाले शिष्य प्रतीच्छकादि याद रखकर अपने शिष्यादि प्रायश्चित्तार्थियो को प्रदान करें तो वह "धारणाव्यवहार" कहलाता है। जिस गच्छ में जो प्रायश्चित्त-विधान-पद्धति प्रचलित हो उसके अनुसार प्रायश्चित्त प्रदान करना उसका नाम "जीत-व्यवहार" है। इस प्रकार से पाच प्रकार के व्यवहारों का सम्बन्ध प्रायश्चित्त प्रदान से है। इन व्यवहारो मे से "आगम-व्यवहार" पूर्वधर अधिकारियो के साथ कभी का विच्छिन्न हो चुका है। दूसरा, तीसरा और चौथा व्यवहार भी आजकल बहुत ही कम व्यवहृत होता है। वर्तमान समय मे बहुधा "जीत-व्यवहार" प्रचलित है, जिसका यथार्थ रूप मे व्यवहार करने वाले मध्यम तथा जघन्य गीतार्थ होते हैं, पर इस प्रकार के गीतार्थ भी अल्प सख्या में पाये जाते है। वर्तमान समय मे "जीत" शब्द का "कर्त्तव्य" के अर्थ मे भी प्रयोग हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु इस जीत का जीत-व्यवहार से कोई सम्बन्ध नही है। वर्तमान समय मे कतिपय साधु अपनी गुरु-परम्पराओं को "जीत-व्यवहार" के नाम से निभाते हैं। वे आगमिक व्यवहारो से अनभिज्ञ हैं, यही समझना चाहिए।

(६) शासन के प्रतिकूल तत्त्व :

ऊपर के शीर्षक के नीचे मतदानपद्धति को विदेशीय पद्धति कहकर कोसते हैं और जैन शासन के लिए अहितकर मानते है। हमारी राय में लेखको के दिमागो मे विदेशीय अनेक बातो के विरुद्ध का जो भूसा भरा हुआ है उसी का यह एक अंश बाहर निकाला है, अन्यथा इस चर्चा का यहा प्रसग ही क्या था। मतदान-प्रदान की पद्धति विदेशीय नही बल्कि भारतीय है। जैन-सूत्रो तथा जैनेतरो के साहित्य मे ऐसी अनेक घटनाएँ उपलब्ध होती हैं कि जिनका निर्णय सर्वसम्मति से अथवा बहुमति से किया जाता था। संघसमवसरण, स्नानमह आदि प्रसंगो पर सघहित की

व्यवस्था आदि करने वाले के गुणों का।" लेखको ने गोलमाल बात लिख-कर चैत्य-द्रव्यादि धन-सम्पत्ति की व्यवस्था करने वालो को भी इस योग्यता मे शामिल करने की चेष्टा की है, परन्तु इस प्रकार करना प्रामाणिकता से विरुद्ध है। पूर्वकाल मे न तो धार्मिक क्षेत्रो मे इतना खर्च था, न उन क्षेत्रों मे आज की तरह लाखो की सम्पत्ति का सचय ही किया जाता था। चैत्य की प्रतिष्ठा के समय चैत्यकारक स्वय तथा उसके इष्टमित्रादि अपनी तरफ से अमुक द्रव्य इकट्ठा करके आवश्यकता के समय चैत्य मे खर्च करने के लिए एक छोटा फण्ड कायम कर लेते थे, जो "नीवि, मूलधन अथवा समुद्रक" इन नामो से व्यवहृत होता था। इस समुद्रक का धन चैत्य के रिपेयरिङ्ग, जीर्णोद्धार अथवा देश मे विप्लव होने पर गाँव छोड़कर चले जाने के समय वेतन से पूजक को रखकर प्रतिमा पुजाने के काम मे खर्च किया जाता था, इसलिए उसकी रक्षा को विशेष चिन्ता ही नही होती थी। धन को इकट्ठा करने वाला गृहस्थ ही बहुधा उस समुद्रक को सम्भाले रखता था अथवा "गोष्ठिक मण्डल" के हवाले कर देता था, जिससे उसके नाश की आशंका ही नही रहती और न अमुक योग्यता वाले मनुष्य की खोज करनी पड़ती।

जैन सघ के बधारण की रूपरेखा "लिखने वाले लेखक युगल मे से एक लेखक की इच्छा इस "रूपरेखा" के सम्बन्ध मे मेरी सम्मति जानने की है। यह बात जानने के बाद मैंने "बधारण की रूपरेखा" की समीक्षा के रूप मे उपर्युक्त छोटा-सा विवरण लिखा है, जिसके अन्तर्गत जैन सघ के मौलिक नियमो का भी दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव मे वर्तमान जैन सघ की कतिपय रूढ़ियो को लक्ष्य मे लेकर लेखकों ने यह रूपरेखा खीची है, जो किसी भी समय के जैन सघ की व्यवस्था के लिये उपयोगी नही है। जैन-सघ की व्यवस्था के लिये इस प्रकार की अगीतार्थ, अल्पश्रुत साधुओ और भिन्न-भिन्न वाड़ो मे रहने वाले गृहस्थो से बनी हुई इस प्रकार की शासन-सस्था कभी सफल नही हो सकती। मेरा स्पष्ट मत तो यह है कि यदि जैन-सघ को दृढबल बनाना है तो श्रमण-श्रमणियों को गृहस्थों का अतिपरिचय और अतिभक्ति का मोह छोड़कर श्रमण-श्रमणी

गाथा के आधार पर पांच दानो को अर्हत्प्रणीत कहना अनभिज्ञता का सूचक है।

(८) जीवदया :

उसी परिशिष्ट के १६वें फिकरे मे लेखकों ने "जीवदया" यह शीर्षक देकर अनुकम्पा से जीवदया को पृथक् किया है। अनुकम्पा-दान के पात्र लेखको ने मनुष्यों को बताया है; तब जीवदया के पात्र पशु, पखियो को। लेखको के इस पृथक्करण का आधार शास्त्र अथवा प्रामाणिक परम्परा तो नही है। अत इसका आधार इनकी कल्पना ही हो सकती है।

दान-क्षेत्रो की सख्या आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने सात होना लिखा है—जिनप्रतिमा, जिनचैत्य; ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, ये सात स्थान जैन समाज मे सात क्षेत्र के नाम से पहिचाने जाते हैं। बारहवी शताब्दी के आचार्य जिनचन्द्रसूरिजी ने साधारण, पौषधशाला, जीवदया, इन तीन को बढाकर दानक्षेत्रो को १० बनाया। परन्तु "रूपरेखा" के लेखको ने तो एक-एक स्थान को अनेक विभागो मे बाटकर दान के स्थानक १७ बना दिए। जिन-शासन सस्था के नियमों के शाश्वतपन की बातें करने वाले लेखकों को कोई पूछेगा, कि आपने दानक्षेत्रो की यह लम्बी सूची किस शास्त्र अथवा प्रामाणिक परम्परा के आधार पर बनाई है। हम तो निश्चय रूप से मानते हैं, कि ये सभी लेखकों की फलद्रूप कल्पनाओं के नमूने हैं।

(९) संचालन का अधिकारी :

इस शीर्षक के नीचे के विवेचन मे लेखकों ने पचाशक की दो गाथाएँ दी हैं और उनका स्वाभिमत अपूर्ण अर्थ लिखकर बताया है, कि "इन गुणो से युक्त, श्रद्धावान्, गृहस्थ चैत्यादि कार्य का अधिकारी है।" उक्त गाथाओं मे वास्तव मे "जिनचैत्य बनाने का अधिकारी कैसा होना चाहिए, इस विषय का आचार्यश्री ने वर्णन दिया है, न कि चैत्य-द्रव्यादि की

: २५ :

बंधारणीय शिस्त के हिमायतिओं को

ले० : पं० कल्याणविजय गणि

ता० ११–७–६१ के "हितमित-पथ्य सत्यम्" नामक एक मासिक पाने मे "महत्त्वनी नोधो" इस शीर्षक के नीचे उक्त पाने के सम्पादक अरविन्द अेम० पारख ने पण्डित बेचरदासजी दोसी ने "कल्याण-कलिका" की प्रस्तावना के आधार पर कुछ समय पहले "जैन" पत्र मे एक लेख प्रकाशित कराया था, उस लेख को पढ़कर शासनसस्था के अनुशासन की हिमायत करते हुए सम्पादक महोदय ने हमे सलाह देने का साहस किया है। जो कि उन्होने "कल्याण-कलिका" को अथवा उसकी प्रस्तावना को पढ़ा नही है, न हमारी अन्य कतियो को ही पढकर हमारे विचारो से परिचित हुए हैं। केवल "जिन-पूजा-पद्धति" को ही पढा हो इतना उनके लेख से ज्ञात होता है।

सम्पादक की टिप्पणी का सार यह है कि 'पन्यासजी को ऐसी प्रस्तावना लिखने के पूर्व शासन-सस्था के अनुशासन के खातिर इस विषय के ज्ञाता पुरुषों से परामर्श करके ऐसी कोई प्रामाणिक प्रस्तावना लिखनी चाहिए थी।'

श्री पारख को हम पूछना चाहते है कि किसी भी शास्त्रविषयक लेख के लिखने के पहले उस विषय के ज्ञाताओ से सलाह लेना हमारे लिए ही जरूरी है अथवा अन्य लेखकों के लिए भी ? यदि हमारे लिए ही उनका यह मार्ग-दर्शन है, तो इसका कोई अर्थ ही नही। सम्पादक ने हमारा कोई ग्रन्थ पढा नही, हमारे विचारो से परिचित नही और हमको हित सलाह देने को तत्पर होना, इसका हम कोई अर्थ नही समझते। हमारी "जिन-

रूप द्विविध संघ को सघटित करना चाहिए और श्रमणधर्म के विरुद्ध जो-जो आचार-विचार प्रवृत्तिया उनमे घुस गई है उनका परिमार्जन करना चाहिए। इसी प्रकार श्रावक-श्राविकात्मक द्विविध संघ को भी गच्छ-मतों की वाड़ा-वन्दियों से मुक्त होकर जैन-संघ के एक अंग रूप से अपना संघटन करना चाहिए। इस प्रकार संघ के दो विभाग अपने-अपने कर्त्तव्य की दिशा मे आगे बढ सकेंगे और गृहस्थवर्ग साधुओं के कार्य में हस्तक्षेप न करते हुए अपने कार्यों को बजाते हुए जैन-शासन-संस्था की उन्नति कर सकेंगे, इसमे कोई शक नही है ! तथास्तु।

卐 卐

ऐसी सैकडो पुस्तके छपकर जैनो के हाथ मे गई है। उनमे रही हुई अल्पश्रुत-कर्ताओ की भूले, अल्पज्ञ और अनुभवहीन सम्पादको की भूले और प्रेस की भूले गिनकर इकट्ठी कर दी जाये तो उनकी सख्या हजारों के ऊपर चली जायेगी। इन साहित्यिक भूलो के परिणामस्वरूप जैन सस्कृति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। इसका शासन-सस्था के अनुशासनवादियों ने कभी विचार किया है ?

(४) उपर्युक्त साहित्यिक भूलो से भी अधिक भयङ्कर घटना तो यह घटी है कि हमारे श्वेताम्बर साहित्य मे कुछ ऐसे ग्रन्थ चल पड़े है, जो जैन सस्कृति के लिए बहुत ही अहितकर हैं। इनमे कुछ ग्रन्थ तो कल्पित उपन्यासो की तरह गढे हुए हैं, तब कतिपय ग्रन्थ अर्वाचीन और मध्य-कालीन शिथिलाचारी साधुओ को कृतियो होने पर भी प्राचीन तथा प्राचीनतर प्रामाणिक आचार्यों के नाम पर चढ़े हुए हैं। ऐसे अनेक ग्रन्थो का हमने पता लगाया है, इन कृत्रिम ग्रन्थो का प्रभाव इतना गहरा पड़ा है कि विक्रम की १०वी शती से २०वी शती तक की जैन सस्कृति का कायापलट-सा हो गया है, जिससे आगमिक और अशठगीतार्थाचरित मार्गों और शिथिलाचारी शठगीतार्थों तथा अल्पज्ञ साधुओ द्वारा प्रचारित परम्पराओ का पृथक्करण करना कठिन हो गया है। क्या शासन-सस्था के अनुशासनवादी और श्री पारख इस अन्धेरगर्दी पर विचार कर सकते है ?

श्री पारख के कथन का ध्वनि हमे तो यही मालूम हुआ कि 'शास्त्र का सशोधन भले ही हो पर जो परम्पराएँ आज तक चली आ रही हैं, उनका खण्डन नही होना चाहिए।' हम कहना चाहते हैं कि श्री पारख तथा इनके शासन-सस्था के अनुशासनवादी "जैन सस्कृति किसे कहते है यह पहले समझ लेते।" "हम स्वय तो जैन-आगम और अशठ-गीतार्था-चरित मार्गों मे व्यवस्थित धार्मिक परम्परा को हो जैन-सस्कृति समझते हैं और इसका रक्षण करना जैन मात्र का कर्त्तव्य मानते है। इस सस्कृति का उच्छेद करने वाला जैन नही, अजैन कहलाने योग्य है। यदि अना-गमिक, अगीतार्थ-शठाचरित परम्पराओं तथा अल्पज्ञ साधुओं, यतियो द्वारा

पूजा-पद्धति' के सम्बन्ध मे विद्वान् साधुओ ने बहुतेरा ऊहापोह किया, फिर भी वे उस पुस्तक का एक शब्द भी अप्रामाणिक ठहरा नही सके। यह सब जानते हुए भी सम्पादक महाशय "जिन-पूजा-पद्धति" को भयभीत दृष्टि से क्यों देखते है, यह वात हमारी समझ मे नही आती।

(१) १७वी शताब्दी मे मूर्तिपूजक जैन-गच्छों में कलहाग्नि भडकाने वाले उपाध्याय श्री धर्मसागरजी ने "सर्वज्ञशतक" नामक ग्रन्थ बनाकर सभी जैन-गच्छों को उत्तेजित किया। इतना ही नही परन्तु कई ऐसी शास्त्रविरुद्ध बातें लिखी कि जिनसे उनके गुरु आचार्य भी बहुत नाराज हुए और उन्हे अपने गच्छ से बाहर उद्घोषित किया। इस कड़ी शिक्षा के परिणामस्वरूप इनकी आँखें खुली और गुरु से माफी ही नही मागी वल्कि "सर्वज्ञ-शतक" का संशोधन किये विना प्रचार न करने की प्रतिज्ञा की। वही "सर्वज्ञ-शतक" ग्रन्थ थोडे वर्ष के पहले एक साधु द्वारा छपकर प्रकाशित हुआ है। जिन जैनशास्त्र-विरुद्ध वातो की प्ररूपणा के अपराध मे उसके कर्ता उपाध्याय श्री धर्मसागरजी गच्छ से बाहर हुए थे, वे सभी विरुद्ध प्ररूपणाएँ मुद्रित सर्वज्ञ शतक पुस्तक मे आज भी विद्यमान हैं। क्या श्री पारख तथा इनके मुरब्बी ज्ञाता-पुरुष इस विषय मे उक्त पुस्तक के प्रकाशक मुनिजी को शासन-सस्था के अनुशासन की सलाह देगे ?

(२) उक्त उपाध्याय श्री धर्मसागरजी के शिष्य श्री पद्मसागरजी ने दिगम्बराचार्य श्री अमितगति की "धर्मपरीक्षा" मे से १५०–२०० श्लोक हटाकर उसे अपनी कृति के रूप मे व्यवस्थित किया था और उसे उसी रूप में और उसी नाम से कुछ वर्षों पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की एक पुस्तक प्रकाशक सस्था ने छपवाकर प्रकाशित भी कर दिया है। वास्तव मे पद्मसागर की यह "धर्मपरीक्षा" आज भी दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है। उसमे अनेक दिगम्बरीय मान्यताएँ ज्यो की त्यो विद्यमान हैं, जो श्वेताम्बर परम्परा को मान्य नही हैं। क्या श्री पारख तथा इनके शासन-सस्था के अनुशासनवादियों ने इस विषय पर कभी विचार किया है ?

(३) आज के यान्त्रिक युग मे प्रतिवर्ष कितनी ही संस्कृत, प्राकृत तथा लोक-भाषा की पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। पिछले सौ वर्षों में

: २६ :

तिथि-चर्चा पर सिंहावलोकन

❖

(१)

१ सावत्सरिक पर्व की आराधना मे मतभेद खड़ा करने वाले श्री सागरानन्दसूरिजी थे, यह मैं ही नही लगभग सारा जैन समाज मानता है। सं० १९५२ तथा १९८९ मे सागरजी और उनके शिष्यो ने भा० शु० ३ का सावत्सरिक पर्व किया था, यह सब जानते हैं।

स० १९९३ मे और १९९४ मे (गुजराती १९९२–१९९३ मे) भाद्रपद शुक्ल ५ की वृद्धि में सागरजी अकेले ही जुदा पडते। परन्तु इस समय इनको श्री नेमिसूरिजी, श्री वल्लभसूरिजी, श्री नीतिसूरिजी आदि सहायक मिल जाने से श्री सागरजी का साथ बढ़ गया। तीन-तीन वार पचमी के क्षय मे चतुर्थी को आगे-पीछे न करने वाले हमारे पूज्य मुरब्बियों ने पचमी की वृद्धि मे तृतीया अथवा चतुर्थी की वृद्धि करके तपागच्छ के श्रमण-सघ को दो विभागो मे बाट लिया। यह चक्र कैसे फिरा इसका भी इतिहास है, परन्तु गत वस्तु को आज ताजा करने की आवश्यकता नही। १९९४ के वर्ष मे यह चर्चा उग्र हो उठी, आमने-सामने शास्त्रार्थ की चेलेंजें दी गई। किसी भी समुदाय के प्रतिनिधित्व के विना ही श्री सागरानन्दसूरिजी अपनी जवाबदारी से शास्त्रार्थ के लिये तैयार हुए। श्री विजयसिद्धिसूरिजी तथा श्री विजयप्रेमसूरिजी की तरफ से तिथि-चर्चा करने के अधिकार-पत्र लिखकर मुझे सुपुर्द किये गये थे। इतना होने पर भी उस प्रसग पर प्रचार के सिवा अधिक कुछ नही हुआ।

२. चातुर्मास्य के बाद हमने अहमदाबाद से मारवाड़ की तरफ विहार किया। तिथि-चर्चा वर्षो तक चलती रही। मारवाड में जाने के

प्रचालित रूढ़ियों तथा निर्मूलक गुरु-परम्पराओ को जैन-संस्कृति मे सम्मिलित किया जाय तो धीरे-धीरे खरी सस्कृति इन कुपरम्पराओ के नीचे लुप्त ही हो जायेगी, जिस प्रकार वस्त्र पर लगे हुए मैल के स्तर क्षार और निर्मल जल के द्वारा दूर हटते हैं और वस्त्र शुद्ध होता है, इसी प्रकार आगमिक तथा गीतार्थाचरित मार्गों मे घुसी हुई निरर्थक परम्पराओ को दूर हटाने से ही जैन-संस्कृति अपने विशुद्ध स्वरूप मे रह सकती है।"
हमारी इस मान्यता के साथ श्री पारख तथा इनके अनुशासनवादी मुरब्बी सहमत नही हो सकते है तो उनकी मर्जी की बात है। कोई भी मनुष्य अपनी शुद्ध बुद्धि से अपने सच्चे मन्तव्य पर दृढ़ रहे और उसका प्रतिपादन करे, उसे बुरा कहना सभ्य मनुष्य का काम नही ।

अनागमिक और शठ-अगीतार्थाचरित परम्पराओ को खुला न पाड़ने से आज जैन-धर्म, इसका उपदेश कई बातो में आगमिक न रहकर पौराणिक बन गया है। यही नही पर कई मनस्वी मुनियों ने तो अपनी पौराणिक मान्यताओ को प्रामाणिक साबित करने के लिए नकली ग्रन्थ तक बना डाले हैं, जो "कृत्रिम-कृतिया" इस शीर्षक के नीचे दिए हुए वर्णनों से पाठकगण समझ सकेंगे ।

卐 卐

अब कल का दिन ठहरो तो इसकी फेयर कॉपी लिख देंगे। परन्तु उनके लिये तो एक-एक घड़ी एक मास हो गया था, कहने लगे—"साहब ! बड़ा अर्जेन्ट काम है, अब तो हमको जल्दी से जल्दी रवाना करो इसी मे लाभ है।" हमने रफ कॉपी और ४ हमारे पट्टक इनको देकर कहा— "देखो ! ये हमारे ४ पट्टक और जवाबदावे की यह हमारे हाथ की रफ कॉपी वहाँ का काम निपटने के बाद हमको वापिस भेजना होगा। बापालाल ने कबूल किया और साझ का भोजन कर वे गुडा-बालोतरा से एरनपुरा रोड स्टेशन के लिए रवाना हुए।

३. हम मारवाड मे थे तब "जैनविकास" के एक मासिक अङ्क में "श्री आनन्दविमलसूरि" के नाम पर चढे हुए एक नकली पन्ने का छपा हुआ ब्लोक देखा। उस पन्ने मे श्री आनन्दविमलसूरि के समय मे श्रावण शुदि १५ की वृद्धि मे त्रयोदशी की वृद्धि की थी ऐसा उल्लेख था, जिस पर से ब्लोक बनाया था। वह पन्ना लिपि की दृष्टि से बीसवी शती का लिखा हुआ था और भाषा तथा इतिहास की दृष्टि से भी वह स्पष्टतया कल्पित था। यह सब होते हुए भी गणित की कसौटी पर चढा कर जाच करने के लिये हमने उसे "जोधपुर आर्कियोलोजिकल सुप्रिन्टेण्डेन्ट की ऑफिस में" भेजा। गणितीय तपास होने के बाद वहा से रिपोर्ट मिली कि जिस वर्ष मे श्रावण पूर्णिमा की वृद्धि होना इसमे लिखा है उस वर्ष में वास्तव मे श्रावणी पूर्णिमा की वृद्धि नही हुई थी और न उस दिन तथा उसके पूर्व तथा अगले दिन भी मंगलवार था।" यह रिपोर्ट भी श्री रामचन्द्रसूरि पर भेजी गई थी। इसी अर्से के दर्मियान श्री सागरानन्दसूरिजी की तरफ से "शास्त्रीय पुरावा सग्रह" इस नाम से कतिपय कूट पन्ने छपकर प्रकाशित हुए थे। हमने इन सब पन्नो को ध्यान से पढ़ा और वे बहुधा कूट साबित हुए थे और लगभग ८० पृष्ठो मे उन सब का हमने खण्डन लिखकर तैयार किया था और वह खण्डन भी श्री रामचन्द्रसूरिजी के पास भेज दिया था।

वादि-प्रतिवादियो के वक्तव्यो पर गम्भीर विचार करने के बाद पच श्री वैद्य ने तिथि-मतभेद विषयक फैसला दिया था जिसमे हमारे पक्ष की

बाद हम इस प्रकरण से सर्वथा लक्ष्य खीचकर अन्य कार्यों मे व्यस्त हो गये थे। इतने में पालीताना में श्री सागरानन्दसूरिजी तथा श्री रामचन्द्र-सूरिजी के बीच सेठ श्री कस्तूरभाई लालभाई द्वारा तिथिविषयक शास्त्रार्थ करके इस चर्चा का अन्त लाने का निर्णय हुआ। निर्णायक पच श्री पी० अेल. वैद्य की सेठ द्वारा नियुक्ति हुई। वादी की योग्यता से श्री सागरानन्द-सूरिजी ने श्री वैद्य को अपना वक्तव्य सुपुर्द किया। निर्णायक पच ने वादी के वक्तव्य के उत्तर के लिए उसकी कॉपी श्री रामचन्द्रसूरिजी को दी। श्री रामचन्द्रसूरिजी ने उक्त वक्तव्य अहमदाबाद वाले जौहरी बापालाल चूनीलाल तथा श्री भगवानजी कपासी को देकर पहिली ट्रेन से हमारे पास भेजा। दोनो गृहस्थ सुमेरपुर से जाने-आने का इक्का लेकर हमारे पास गुडा-बालोतरा (मारवाड़) आये। सध्या समय हो गया था, हम प्रति-क्रमण करने बैठ गये थे। प्रतिक्रमण हो जाने पर वे धर्मशाला मे आये, सर्व हकीकत कहकर सागरानन्दसूरिजी का वक्तव्य हमारे हाथ में देकर बोले—"साहिब ! अभी का अभी आप इसे पढ लें और मुद्दो पर विचार कर प्रात: समय इनके लिखित उत्तर हमे देने की कृपा करे। हमे बहुत उतावल है, इक्का वाला ठहरेगा नही।" हमने कहा—हम दीपक के प्रकाश में पढ़ते नही हैं और ऐसे गम्भीर मामलो मे पूर्ण विचार किये विना कुछ भी लिखना योग्य नही है। इस पर वे कुछ ठण्डे पड़े और परदे की ओट में दीपक रखकर सागरजी का वक्तव्य पढ सुनाया। हमने कहा—"इसका उत्तर कल चार बजे तक तैयार कर देंगे।" थोड़ा समय बैठकर वे सोने को चले गये।

प्रात:कालीन आवश्यक कार्यो से निपट कर हमने सागरजी महाराज का वक्तव्य ध्यान से पढा और एक एक मुद्दे के उत्तर मन मे निश्चित किये। साधन-सामग्री प्रस्तुत करके लिखने की तैयारी करते पहर दिन चढ़ गया। आहार-पानी करके ११॥ बजे ऊपर एकान्त मे बैठकर सागरा-नन्दसूरिजी के पूरे वक्तव्य के उत्तर १४ पृष्ठो मे पूरे किये। एक साथ लगभग ४॥ घण्टो तक लिखने से हाथ ने भी उत्तर दे दिया था। शाम को ४॥ बजे दोनो को बुलाकर कहा—जवाबदावा का मसविदा तैयार है।

करना पड़ा । इस घटना वाले वर्ष मे श्री विजयनीतिसूरिजी महाराज का चातुर्मास्य मारवाड़ मे वाकली मे था । उनकी तवियत नादुरुस्त थी और चातुर्मास्य के वाद ज्यादा नादुरुस्त होने के कारण से श्री कल्याणसूरि भी मारवाड़ मे आये थे । ये समाचार हम को भीनमाल तरफ के विहार मे मिले । कल्याणसूरि की सिद्धिसूरिजी को दी हुई नोटिस को मैं भूला नही था, तुरन्त श्री नीतिसूरिजी महाराज पर पत्र लिखा और सूचित किया कि "आपकी तवीयत अस्वस्थ सुनकर बड़ा दुःख हुआ । अब तवीयत कैसी है, कृपया सूचित करायें । आप श्रीजी की तवीयत अस्वस्थ रहा करती है, हमारे पूज्य आचार्य श्री सिद्धिसूरिजी भी तद्रूप हैं । आप दोनो पूज्य पुरुषो की उपस्थिति मे तिथि-चर्चा का कुछ निपटारा हो जाता तो अपने गच्छ मे से यह मतभेदजन्य जघन्य क्लेश हमेशा के लिए शात हो जाता ।"

हमारे इस पत्र के उत्तर मे श्री नीतिसूरिजी महाराज की तरफ से श्री कल्याणसूरि द्वारा लिखा हुआ पत्र हमे नीचे लिखे भाव का मिला—

"तुम और तुम्हारा पक्ष किस रीति से तिथि-मतभेद का निपटारा करना चाहते हो वह लिखना, ताकि उस पर विचार किया जायेगा ।"

हमने उक्त पत्र के उत्तर मे लिखा—"दूसरे सभी प्रमाण पुरावो को एक तरफ रखकर "जैन विकास" मे जिसका ब्लोक छपाया है उसी श्री आनन्दविमलसूरिजी के पन्ने की परीक्षा कराई जाय और यह ब्लोक वाला पन्ना सच्चा सावित हो जायगा तो हम तथा हमारा पक्ष सव मजूर कर लेंगे । पाने मे लिखे मुजव दो पूर्णिमाओ की दो त्रयोदशी करेंगे और यदि पन्ना जाली ठहरेगा तो आपको प्रचलित मान्यता को छोडकर हमारी मान्यता को स्वीकार करना होगा ।"

हमारे उक्त पत्र का श्री नीतिसूरिजी या अहमदावाद मे नोटिस देकर पराक्रम वताने वाले श्री कल्याणसूरि की तरफ से कुछ भी उत्तर नही मिला । हमको जरा निराशा हुई और साथ-साथ सतोष भी हुआ कि सिद्धिसूरिजी को नोटिस देने वाले कितने गहरे पानी मे हैं ।

मान्यता को सत्य ठहराया था। परन्तु इस फैसले को सागरानन्दसूरिजी ने नामन्जूर किया। सागरजी के नामन्जूर करने पर उनकी पार्टी के अग्रगण्य आचार्य महाराजो ने कहा—"जिन्होंने शास्त्रार्थ किया है वे जाने। हमारा इस निर्णय के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है।"

पच का निर्णय छपकर बाहर पड़ने पर हमने श्री रामचन्द्रसूरिजी का उत्तर ध्यान से पढा तो ज्ञात हुआ कि हमारे लेख का एक भी शब्द उन्होने छोड़ा नही था। केवल हमारे लेख को उन्होंने अपनी भाषा में परिवर्तित किया था। श्री रामचन्द्रसूरिजी ने अपने उत्तर मे "हमारे पट्टक को श्री दानसूरि ज्ञान-मदिर का पट्टक लिखा था।" इसका कारण शायद यह होगा कि "इस विषय मे श्री रामचन्द्रसूरिजी ने कल्याणविजय की सहायता ली है ऐसी किसी को शका न हो।" कुछ भी हो, परन्तु हमारे पक्ष की सत्यता सावित हुई इतना ही हमे तो सतोषप्रद हुआ।

४ जहां तक हमे स्मरण है १९९६ की साल का चातुर्मास्य बदला उस समय हमारे आराध्य आचार्यप्रवर श्री सिद्धिसूरीश्वरजी के श्रीमुख से इनके नादान भक्तो ने जाहिर करवाया था कि "वह पन्ना आनन्दविमल-सूरिजी का है ऐसा कोई भी साबित कर देगा तो हम उसके अनुसार चलने को तैयार हैं।" जिस पन्ने की हम ऊपर चर्चा कर आये हैं उसी पन्ने के सम्बन्ध मे पूज्य आचार्य की उक्त जाहिरात थी और बिल्कुल सच्ची वात थी। परन्तु उसे सच्चो करके वताने वाला उस समय उनके पास कोई मनुष्य न था। इस अवसर का लाभ लेके श्री हर्षसूरिजी के शिष्य कल्याण-सूरि उछल पड़े और "वह पन्ना आनन्दविमलसूरि का ही है यह सिद्ध करने को मैं तैयार हू" यह नोटिस पढकर मुझे वड़ा दु.ख हुआ।

कल्याणसूरि पर उतनी नाराजगी नही हुई, जितनी कि हमारे पक्ष के उन नादान मित्रो पर हुई। जब यह पाना नकली है यह वस्तु सिद्ध करने की किसी में शक्ति न थी, तब इस विषय मे पूज्य वृद्ध आचार्य को आगे करने की क्या जरूरत थी? परन्तु हो क्या सकता था, हम दो सौ माईल के अन्तर पर थे। मन मसोस कर रह गये और वृद्ध आचार्य को मौन

आचार्य के उक्त उद्‌गार को सुनके मुझे आश्चर्य हुआ और उनके जाने के बाद पूज्य बावजी महाराज को इस भावुकता का कारण पूछा और उत्तर मे बापजी महाराज ने इस विषय का इतिहास सुनाया।

श्री नीतिसूरिजी की पूज्य बापजी को तरफ की सद्‌भावना जानने के बाद मुझे लगा कि यदि श्री नीतिसूरिजी महाराज और हमारे बीच कुछ समझौता हो जाय तो अहमदाबाद मे तो प्राय तिथि-विषयक समाधान हो जाय। ऐसा विचार करके मैंने पूज्य आचार्य महाराज की सलाह ली तो आपने कहा—नीतिसूरि का अपनी तरफ सद्‌भाव है इसमे शक नही, पर तिथि-चर्चा के विषय में ये कुछ कर नही सकेंगे। मुझे नही लगता कि इनके शिष्य इनको कुछ भी करने दे। मैने कहा—'आपकी आज्ञा हो तो मैं इनको मिलूँ? यदि कुछ होगा तो ठीक अन्यथा अपना कुछ जाता तो नही।' पूज्य आचार्य श्रीजी ने मुझे लुहार की पोल मे श्री नीतिसूरिजी के पास जाने की आज्ञा दी। मैंने पूछा—किस प्रकार का समाधान आपको स्वीकार्य होगा? उत्तर मिला—"तुमको जो योग्य लगे वैसा करना" मैंने कहा—नीतिसूरिजी दूसरे पचाग के आधार से भाद्रपद सुदि ६ की वृद्धि मानकर बुधवार को सावत्सरी करने का कबूल करे तो अपने कबूल करना या नही? आपने कहा—"अपने दो पचमिया माने और वे दो षष्ठी माने इसमें कुछ फरक नही पडता, अपने तो औदयिक चतुर्थी और बुधवार आना चाहिए।" पूज्य आचार्य के इस खुलासा के बाद मैंने एक दूसरा प्रश्न पूछा—यदि श्री नीतिसूरिजी पूर्णिमा की क्षय-वृद्धि मे त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करवाने की अपने पास स्वीकृति मागे तो अपने क्या करना? वैसी स्वीकृति देकर भी समाधान करना या आ जाना? पूज्य आचार्य देव ने कहा—"यदि सावत्सरिक पर्व के सम्बन्ध मे एकमत्य हो जाता हो तो दूसरे सामान्य मतभेदो को महत्त्व न देना चाहिए।"

पूज्य गुरुदेव के पास ऊपर लिखित बातो का खुलासा लेकर तीसरे दिन मैं लुहार की पोल विराजते श्री विजयनीतिसूरिजी के पास गया। वे धर्मशाला के पिछले भाग मे अकेले बैठे थे। वन्दनादि करके

५. सं० २०१२ की बात है, हमको अधिकार-पत्र देने वाले पक्ष के साधुओ की एक पार्टी की तरफ से हमारे ऊपर भलामन पत्र आया कि "प्रतिपक्ष यदि समाधान की भावना वाला हो तो अपने पक्ष को भी समाधान का कोई मार्ग सोच रखना जरूरी है।"

ऐसे पत्र लिखने वालो को हमारे मूल उद्देश्य की खबर न थी, इसीलिये वे हमको समाधान के लिए अनुकूल बनाते थे, अन्यथा हमारा तो मूल से उद्देश्य यही था कि जिस तिथि-क्षय-वृद्धि-विषयक भूल के परिणाम-स्वरूप वार्षिक पर्व तक भूल पहुँची है उस मूल भूल को खुल्ली पाड़ने से ही सावत्सरिक पर्वविषयक भूल का सुधारा हो सकेगा। पिछले १०० वर्ष से देवसूरि गच्छ के यतियो और श्रीपूज्यो ने पूर्णिमा के क्षय-वृद्धि मे त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करने का मार्ग निकाला है और इस मार्ग को प्रामाणिक मानकर ही पचमी के क्षय-वृद्धि मे तृतीया का क्षय-वृद्धि करने की कल्पना मूर्तिमती हुई है, इसलिए मूल भूल को पकड़ने से ही वार्षिक पर्व में नयी घुसी हुई भूल सुधर सकेगी और जब इस विषय की चर्चा निपटारे की परिस्थिति मे आयेगी तब यदि १०० वर्षों की भूल को चलाने के बदले मे सावत्सरिक भूल सुधरती होगी तो उन पुरानी भूलो को चलाने की हम आनाकानी नही करेंगे। १९९३-९४ मे हमने इस वस्तु को समझ कर ही अपने पक्ष को चर्चा के मोर्चे पर खडा किया था।

६. १९९४ की साल मे श्री विजयनीतिसूरिजी महाराज अहमदाबाद चातुर्मास्यार्थ आये तब नगर-प्रवेश के दिन आप विद्याशाला मे आकर पूज्य विजयसिद्धिसूरिजी को वन्दन करके आगे गये थे। उस समय के उनके हृदयोद्गारो को सुनने से मुझे नवाई लगी, उन्होने वन्दन करने के बाद कहा—

"मेरे पर आपका बडा उपकार है, मैं इनके नाम की नित्य माला गिनता हूँ।"

सिद्धिसूरि की विरोधी पार्टी को दृढ़ बनाने के लिए पाटन का नियत चातुर्मास्य रद्द करके शिष्यपरिवार के साथ अहमदाबाद आने वाले

नीतिसूरि के शिष्य उनको रास्ते चढने नही देंगे। सचमुच ही वृद्ध आचार्य श्री की वाणी सच्ची हुई। तीसरे दिन मैं लुहार की पोल के उपाश्रय मे श्री नीतिसूरिजी के पास गया, पर इस समय उस भले आचार्य के मुख पर प्रसन्नता नही थी।

वन्दनादि अनन्तर पूछा—"साहिबजी! कुछ निर्णय हुआ?" उत्तर मिला "निर्णय जो होना था वह गतवर्ष हो गया था। अब कोई नया निर्णय होने के सयोग ज्ञात नही होते।" ये अन्तिम शब्द उनके मुख से निकले तब मुझे कुछ ग्लानि-सूचक ध्वनि लगी। मैंने कहा—इसमे निराशा जैसी कोई वस्तु न होनी चाहिए। जो भावी होता है, वह होकर ही रहता है। मैं क्षणभर रुका फिर विदा हुआ। चर्चा के सिंहावलोकन में दी जा सकें ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, परन्तु उन सर्व का सग्रह कर अवलोकन को विस्तृत करना बेकार है। जो महत्त्वपूर्ण और अद्यावधि अप्रकाशित बातें थी उनमे से कतिपय आवश्यक बातों का ऊपर निर्देश कर दिया है।

हमारा उद्देश्य तब और अब

(२)

१ सं० १९०० के आसपास में देवसूरि गच्छ के श्रीपूज्यो और यतियो ने जो तिथि-विषयक परम्पराएँ प्रचलित की थी उनको तपागच्छ पालता था। पूर्णिमा के क्षय-वृद्धि प्रसग मे त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करने की रीति वास्तव मे गलत थी तथापि श्रीपूज्य और यतियो के प्राबल्य-काल में प्रचलित हुई कतिपय रीतियो को पालने के लिए हमारी सविग्न शाखा को भी बाध्य होना पड़ा था और एक बार कोई भी वस्तु व्यवहार में प्रविष्ट होने के बाद वह खरी है या खोटी इसकी कोई परीक्षा नही करता। हमारे प्रगुरुओं, गुरुओं और हमने किसी भी परम्परा को एक रीति रूढि के रूप मे भी पालन किया कि वह "गीतार्थाचरणा" हो गई। यह तिथि-विषयक रूढ़ मान्यता खोटी होने का सर्वप्रथम श्री विजयदान-सूरिजी महाराज ने जाहिर किया था, परन्तु उन्होने भी इस चीले को छोड़ने का साहस नही किया। कारण कि एकरूढ और सर्वमान्य बने

मैं भी बैठ गया और प्रसग आते पर्युषणाराधन के सम्बन्ध में बात निकाली। आसपास की बहुत-सी अन्य बाते भी हुई। अन्त मे मैंने १९८९ की साल मे उनकी तरफ से छपकर बाहर पडी हुई एक पुस्तिका की तरफ उनका ध्यान खीचकर कहा—"नवासी मे आपने भाद्रपद शुदि ५ का क्षय माना था तो इस साल मे भाद्रपद शुदि ५ की वृद्धि मानने मे क्या आपत्ति है ?

श्री नीतिसूरि ने कहा—"१९८९ मे हमने भा० शु० ५ का क्षय नही माना था, किन्तु दूसरे पचाग के आधार से भाद्रपद शु० ६ का क्षय माना था।"

मैंने कहा—"भले ही आपने ६ का क्षय किया होगा तो इस वर्ष मे भी अन्य पचागों मे ६ की वृद्धि भी है। वैसे आप भी उन पचांगो के आधार से ६ की वृद्धि मानकर चतुर्थी के दिन पर्व करें, इसमे हमको कोई आपत्ति नही।"

सूरिजी ने विचार करके कहा—"हाँ ऐसा करे तब तो बात बैठ सकती है।"

मैंने कहा—आपको जिस प्रकार ठीक लगे वही कहिये, ताकि मैं पूज्य श्री सिद्धिसूरिजी महाराज को सूचित करूँ।"

सूरिजी ने कहा—कल्याणविजयजी ! ६ की वृद्धि करके चतुर्थी कायम रखने की बात ही हमको समाधानकारक लगती है। पर इसका निश्चित उत्तर मैं आज नही दे सकता।"

मैंने पूछा—"निश्चित उत्तर के लिए मैं कब आऊँ ?"

श्री नीतिसूरिजी ने कहा—"निश्चित उत्तर मै परसो दे सकूंगा।"

मैं खड़ा हुआ और बोला—"तब मैं परसो आऊँगा" कहकर मत्थएण वदामि कर विद्याशाला पहुँचा। पूज्य आचार्य श्रीजी को सब वृत्तान्त कहा। पूज्य बापजी ने कहा—"हमको कुछ होने की आशा नही लगती,

फाइलो में जाच करवाकर देखा गया तो श्री विजयहीरसूरिजो की कारकोर्दो दर्मियान ३ वार भा० शु० ५ की वृद्धि आई थी। पर सावत्सरिक पर्व प्रत्येक बार औदयिक चतुर्थी को ही हुआ था।

प्राचीन कालीन जैन-तिथि पत्रको मे भी पूर्णिमाएँ तथा पंचमिया जहाँ-जहाँ बढ़ी थी वहा सर्वत्र दो ही लिखी थी और उनमे दूसरी पूर्णिमा और पचमियो को पालनीय तिथि लिखा था। सब खुलासो को हृदयगत करने के बाद ही हमने नवीन भीतिये तिथि-पत्रको का प्रचार करवाया था। यह बात भी हमारे ध्यान बाहर नही थी कि हमारा यह कार्य एक पाक्षिक है, सब मान्य होने की आशा नही है। लगभग १०० वर्षों से जो वस्तु रूढ हो चुकी है उसे गलत समझ कर सत्य मार्ग को ग्रहण करने वाले मनुष्य विरले निकलेंगे। कुछ समय के लिए मतभेद तो रहेगा ही, पर बार बार के सघर्ष से भविष्य मे इस विषय मे ऊहापोह होता रहेगा और कोई शुभ समय भी आयेगा कि जब सांवत्सरिक पर्व के दिन का ऐक्य हो जायगा। बाद मे दो पूर्णिमादि का ही मतभेद रहेगा, क्योकि यह भूल प्राचीन है। हमने तथा हमारे गुरु-प्रगुरुओं ने भी यह भ्रान्त मान्यता मानी है। किसी भी प्रकार इसका समाधान न हुआ तो हम इस विषय की सत्य वस्तु को छोड़ के भी गच्छ मे समाधान कर लेंगे। यदि तपागच्छ का सर्व सघ औदयिक चतुर्थी के दिन को इधर-उधर न करने का विश्वास दिलायेगा तो दूसरे सब बखेडों को छोडकर समाधान कर लेंगे।

इस समय अहमदाबाद आने के बाद यहा का वातावरण समाधान के लिए अनुकूल लगा। हमने सोचा यदि पूज्यपाद आचार्यदेव श्री विजय-सिद्धिसूरीश्वरजी की भावना समाधान की हो और पूर्णिमा त्रयोदशी की हानि वृद्धि का बखेडा छोड दें तो तिथि-मतभेद का अन्त आ जाय। पूज्यपाद के जीवन की शताब्दी पूरी होने के प्रसग पर नयी शती के प्रवेश मे आपके मुख से समाधानकारक चार शब्द कहला दिये जाये तो सघ के लिए आनन्ददायक होंगे और धीरे धीरे तपागच्छ मे से तिथि-विषयक मतभेद दूर होने का मार्ग भी निकल आयेगा, इस आशय से हमने पूज्यपाद से कोई निवेदन बाहर पड़वाने का निश्चय किया और समय पाकर पूज्य

हुए गल्त चीले का बदलना भी विचारणीय बन जाता है। जब तक समाज गलत चीज को भी गलत के रूप मे न समझ ले तब तक वह उसे छोड़ने के लिए तैयार नही होता। परन्तु असत्य प्रवृत्ति को सदा उसी रूप मे चलाते जाना यह भी कभी हानिकारक हो जाता है।

स० १९९३ के पर्युषणा-प्रसग पर अनेक आचार्य अपनी चलती परम्परा से हटकर तृतीया की वृद्धिकारक श्री सागरजी की मान्यता की तरफ झुके। इसका यही कारण था कि प्राचीन भूल का परिमार्जन किसी ने नही किया था। स० १९९३ के भाद्रपद शुदि ५ को वृद्धि थी। परन्तु पर्युषणा तिथि भा० शुदि ६ की होने से मतभेद को अवकाश नही था, पर सागरानन्दसूरिजी जिन्होने स० १९५२ मे भाद्रपद शु० चतुर्थी के क्षय मे तृतीया का क्षय मानकर वार्षिक पर्व तपागच्छ की परम्परा से विरुद्ध होकर भाद्रपद शु० ३ को किया था।

स० १९९३ मे किसी ने तृतीया दो मानी, किसी ने चतुर्थी दो मानी पर सांवत्सरिक पर्व भाद्रपद शुदि प्रथम पचमी रविवार को किया। इसी प्रकार स० १९९४ को भाद्रपद शुदि प्रथम पचमी गुरुवार को वार्षिक पर्व किया तब हमारे पक्ष ने तथा खरतर गच्छ ने भा० शु० ४ बुधवार को वार्षिक पर्व मनाया था।

उस समय हमें लगा कि पूर्णिमा अमावस्या की वृद्धि में त्रयोदशी की वृद्धि और उनके क्षय मे त्रयोदशी का क्षय करने की जो गलत परम्परा लगभग १०० वर्षों से चली है उसके परिणामस्वरूप ही भा० शुक्ल ५ के क्षय-वृद्धि मे तृतीया की क्षय-वृद्धि करने की सागरजी को कल्पना सूझी है। अतः अब मूल भूल को सुधारना आवश्यक है, यह निर्णय कर हमने मूल चण्डु पचाँग मे हो उसी मुजब तिथि का क्षय-वृद्धि मानने का निर्णय किया और उसी प्रकार भीतियें। जैन-तिथि पत्रको मे छपवाने का जारी किया। यह बात हमने लम्बी छानबीन के बाद प्रचलित की थी। जोधपुर दरबार के पुस्तक प्रकाश मे रहे हुए १६०१ से १८०० तक मे बने हुए तमाम पचांगो की

पश्चात्कृत ने तब से हमारे पास आना छोड़ दिया और खण्डकपाली की मार्फत पूज्यपाद का सम्पर्क विशेष साधने लगा। पूज्यपाद के ध्यान-रूम मे घुस, द्वार बन्द कर दोनो उन पर दबाव डालते और कहते-"ऐसा करने से तो सेठ कस्तूरभाई नाराज हो जायेगे। आपके पक्ष मे रहने वालो का एक प्रकार से विश्वासघात किया माना जायेगा" इत्यादि बाते कानों पर डालकर इस भद्र स्थविर का मन डावाडोल कर दिया।

कतिपय दिनो के बाद मुझे दोपहर को ध्यान के रूम मे बुलाकर कहा-"भाई! मैं तो वोलते-वोलते भूल जाता हूँ, सभा में एक के स्थान में दूसरा कुछ बोल जाऊँ तो कैसा गिना जाय।

मैंने कहा-साहिवजी आपका वक्तव्य आप ही सुनायें, ऐसा कोई नियम नही है। आप दूसरे से कहला सकते हैं, अथवा पढ़वा सकते हैं।

मेरे स्पष्टीकरण के वाद उनके मुह से ऐसी अनेक बाते निकली जो पश्चात्कृत ने भराई थी। सेठ कस्तूरभाई की नाराजगी के सम्बन्ध मे मैंने कहा-साहिव! सेठ कस्तूरभाई को यह निवेदन पहले पढ़ाकर उनका अभिप्राय ले लेंगे। जो वे कहेगे कि इसमे कुछ बाधा नही है, तब तो यह निवेदन वाहर पाडना अन्यथा नही। मेरे उक्त कथन से वे मौन रहे।

मैंने आगे कहा-आपको कुछ भी वात गले नही उतरती? आपने कहा-"भाई, मुझे तो कुछ भी गम नही पडता और सकल्प विकल्प हुआ करते हैं।

मैंने कहा-साहिवजी! वात प्रसंग के अनुरूप थी, आपका महत्त्व वढाने वाली थी। इस पर भी आपके गले न उतरती हो तो छोड़ दीजिये; मैं अपनी प्रार्थना वापिस खीच लेता हूँ। आप अव इस विषय मे कुछ भी सकल्प विकल्प न करें।

मेरे उपर्युक्त कथन पर उन्होंने कहा-"दूसरे वारोवार कर लेते हो तो मैं कव इन्कार करता हूँ। सव दो तेरस करेंगे तो मैं कहाँ जुदा पड़ने वाला हूँ। अहमदावाद मे श्रीपूज्य ने दो पूनम की दो तेरस कराई तव से

बापजी महाराज को उक्त निवेदन करने की प्रार्थना की। कुछ समय तक हमने दो के बीच परस्पर विचारो का आदान-प्रदान होने के बाद पूज्यपाद बोले—ठीक है! पर्युदशा तक मे कुछ हो जाय तो बहुत अच्छा 'तहत्ति' कह कर मै उनसे जुदा पड़ा।

प्रथम भाद्रपद शुदि १२ की शाम को जब मैंने वन्दना कर प्रत्याख्यान मागा तब पूज्यपाद ने पूछा—कौन ? मैंने कहा 'कल्याणविजय' इन्होने कहा—'कल्याणविजयजी' उस विपय मे—मेरे कहने योग्य जो हो उसे लिख रखना। "महावीर स्वामी के जन्मवाचन-प्रसग पर मैं व्याख्यान की पाट पर बैठता हूँ उस समय उसे सुना दूगा"। मैंने 'तहत्ति' कहकर आभार माना। दूसरे ही दिन पूज्यपाद के नाम से जाहिर करने का निवेदन तैयार किया।

"श्रेयासि बहुविघ्नानि" इस कथनानुसार अच्छे कार्य विघ्नबहुल तो होते ही हैं। मैंने इस कार्य सम्बन्धी गुप्तता नही रखी थी, न गुप्तता रखने के सयोग ही थे। पूज्य आचार्य की श्रवणेन्द्रिय बहुत ही कमजोर हो गई थी। बात कुछ भी हो, जोरो से कहने पर ही आप सुनते थे। "खंड-कपाली" जो आपका टाइमकीपर था और हर समय समीपवर्ती रहता था, आपको कही हुई बात सर्वप्रथम सुनता था और उसमे वह बात "पश्चात्कृत" के पास जाती। मानो ये दोनो रामचन्द्रसूरि के एजेन्ट थे, मैं बापजी महाराज को बहका न दूँ इसके लिये दोनो नियुक्त थे। हमारी भावना समाधान कराने की अवश्य थी, परन्तु उनके मन का समाधान कायम रख कर। दुर्जनो की उल्टी-सुल्टी बातो से डावाडोल होकर उनका मन आर्त-ध्यान मे पड़े ऐसो परिस्थिति को दूर रखने का हमारा ध्येय था। हमारे कार्य मे विघ्नकारक दो मनुष्य थे, इसलिये हमने पहले ही उनको सूचना कर दी थी कि मैं पूज्य बापजी महाराज की जन्म-शती के प्रसग पर उनकी तरफ से एक निवेदन बाहर पड़वाना चाहता हूँ। खंडकपाली ने निवेदन पढकर कहा—"ठीक है, परन्तु मुझे नही लगता कि वे ऐसा वक्तव्य बाहर पाड़े। पश्चात्कृत ने वक्तव्य पढकर कहा—साहब यह तो उल्टा होता है। मैंने कहा—तुम और तुम्हारे गुरु दो ही गीतार्थ की पूँछड़ी हो जो सच्चे झूठे को समझते हो। दूसरा कोई समझने वाला रहा ही नही।"

सुवाजी ने असत्य प्ररूपणा जानकर उनके व्याख्यान मे जाना बन्द किया, फिर भी दो तेरस उन्होने भी की थी। वैसे दो तेरस करना शास्त्रीय है नही, फिर भी दूसरे कर लेगे तो हम अकेले दो पूनम पकड़ कर नही बैठेंगे। तथापि जो बात झूठी है उसे हम सच्ची के रूप मे कैसे स्वीकार करे।

मैंने कहा—साहिबजी, अब इस बात को छोड़िये, दूसरे जैसा करना होगा कर लेंगे। आपको उनको कुछ कहने की आवश्यकता नही, आप किसी प्रकार के सकल्प-विकल्पो मे न पडियेगा।

निबन्ध-निचय

तृतीय खण्ड

卐 卐

दिगम्बर जैन साहित्य
का
अवलोकन

卐

ऐसा उनके निरूपित विषयो और परिभाषाओ से ज्ञात होता है। पिछले दो ग्रन्थो मे श्वेताम्वरमान्य आगमो और उनकी निर्युक्तियो की सैकड़ो गाथाएँ संग्रहीत हैं। यहा पर हम सर्वप्रथम "षट्-खण्डागम" "मूलाचार" और "भगवती आराधना" पर ऊहापोह करके फिर अन्य पठित ग्रन्थों का अवलोकन लिखेगे।

卐 卐

दिगम्बर जैन परम्परा का प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य

दिगम्बर परम्परा, श्वेताम्वर सघ तथा यापनीय सघ से सर्वथा पृथक् हो गई थी और उनके आगमो तक का त्याग कर दिया था। तब उसे अपने साहित्य की चिन्ता उत्पन्न हुई। पार्थक्य के समय तक श्वेताम्बर-मान्य आगमो की दो वाचनाएँ हो चुकी थी, इसलिए श्वेताम्बर मान्य आगमो का मिलना दुष्कर नही था। दिगम्बर मुनियो ने अपने धार्मिक दानो मे "पुस्तकदान" को महत्त्व दिया और भक्त गृहस्थो ने कही से भी हस्त-लिखित पुस्तक प्राप्त कर अथवा उसकी प्रति लिखवाकर अपने पूजनीय मुनियो को दान देने की प्रथा प्रचलित की। परिणामस्वरूप उन सूत्र पुस्तको का आधार लेकर विद्वान् साधुओ ने सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थो का सूत्रो मे अथवा गाथाओ मै निर्माण किया। इस प्रकार के ग्रन्थो मे "षट् खण्डागम, भगवती आराधना, मूलाचार" आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। "षट्-खण्डागम" का प्रथम खण्ड भूतवलिकी और शेष पाच खण्ड पुष्पदन्त की कृति मानी जाती है। "भगवती आराधना" आचार्य शिवार्य की कृति है, ऐसा उसकी प्रशस्ति मे ग्रन्थकार स्वय लिखते हैं। "मूलाचार" नामक ग्रन्थ आचार्य "वट्टकेर" अथवा तो "वट्टकेरल" की कृति मानी माती है।

उपर्युक्त तीनो ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति को मानने वाले है। पिछले दो ग्रन्थ साधुओ के लिए आपवादिक उपधिका भी प्रतिपादन करते हैं और "षट्-खण्डागम" सूत्र मे भी कुछ ऐसे विषय हैं जो इन ग्रन्थो का अर्वाचीनत्त्व सूचित करते हैं। हमारी राय मे इन तीनो प्राचीन ग्रन्थों का निर्माण विक्रम की सप्तम शती के पूर्व का और अष्टम शती के बाद का नही है,

वाली "तिलोयपण्णत्ति" भी बारहवी शती के आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती "माघनन्दी" तथा उनके शिष्य सिद्धान्तचक्रवर्ती "बालचन्द्र" की कृति है।

षट्-खण्डागम मे प्रथम खण्ड से लेकर पचम खण्ड के दो भागो तक सूत्र दिए गए हैं। तृतीय भाग के प्रारम्भ मे थोडे से सूत्र आये हैं, शेप भाग वीरसेन की टीका से भरे हुए है। इसके बाद "महाबन्ध" प्रारम्भ होता है। महाबन्ध मे भी सूत्र जैसी कोई वस्तु नही है, केवल टीकाकार वीरसेनसूरि ने इस बन्ध के विषय को भङ्गोपभङ्ग प्रस्तारो द्वारा पल्लवित करके महाबन्ध को एक खण्ड के रूप मे तैयार किया है। इसके साथ पुष्पदन्त तथा भूतबलि का कोई सम्बन्ध नही है। इस स्थिति मे वीरसेन स्वय महाबन्ध को "भट्टारक भूतबलि की रचना" कहते हैं, यह आश्चर्य-जनक है।

इन आगम-सूत्रो को ध्यानपूर्वक पढकर हमने यह निश्चय किया, कि ये सूत्र विक्रम की अष्टम शती से परवर्ती समय मे बने हुए हैं। इनके भीतर अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इनका अर्वाचीनत्व सिद्ध करते हैं। स्थविर धरसेन के सत्ता समय और खण्डो के रचनाकाल के बीच कम से कम ५०० वर्षों का अन्तर बताते हैं। इस दशा मे "आचार्य धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को गिरि नगर मे "षट्-खण्डागम का ज्ञान दिया।" यह मान्यता किस प्रकार सत्य हो सकती है, यह एक गम्भीर और विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है।

हमारी राय मे षट्-खण्डगम के टीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी स्वयं रहस्यमय पुरुष प्रतीत होते है। इन्होने अपनी टीकाओ मे तथा इनकी अन्तिम प्रशस्तियो मे अपने लिए जो विशेपरण प्रयुक्त किये है, वे अवश्य विचारणीय हैं। "एक खण्ड की टीका मे आप अपने को प्रसिद्ध सिद्धान्तो का सूर्य, समस्त वैयाकरणो का सिरताज, गुणो की खान तार्किको के चक्रवर्ती, प्रखरवादियो मे सिंह समान बतलाते है।" अन्तिम प्रशस्ति मे भी आपने इन्ही विशेषणो को प्राकृत भाषा मे परिवर्तित करके प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त प्रशस्ति मे आपने अपने को "छन्द शास्त्र तथा

: २७ :

षट् खण्डागम

❖

षट्-खण्डागम—यह दिगम्बर जैन परम्परा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसके षट्-खण्डो के नाम क्रमशः—(१) जीवस्थान, (२) क्षुद्रबन्ध, (३) बन्धस्वामित्व, (४) वेदनाखण्ड, (५) वर्गणाखण्ड और (६) महाबन्ध है। दिगम्बर परम्परा मे प्रथम खण्ड के कर्त्ता पुष्पदन्त और शेष पाच खण्डो के कर्त्ता भूतबलि मुनि माने जाते है, जो अर्हद्बलि के शिष्य थे। टीकाकार भट्टारक वीरसेन ने भी पाँच खण्डो के कर्त्ता भूतबलि को ही माना है। परन्तु आगम के सम्पादको ने पिछले पाँच खण्डों के नामो के साथ भी पुष्पदन्त का नाम जोड़ दिया है। इसका कारण पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों ने यह आगम-ज्ञान धरसेन से प्राप्त किया था, ऐसी किवदन्ती हो सकती है।

सटीक इस सिद्धान्त के पढ़ने से जो विचार हमारे मन मे स्फुरित हुए है उनका दिग्दर्शन निम्न प्रकार से है—

अर्हद्बलि के पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो शिष्य थे, ऐसा दिगम्बर परम्परा के प्राचीन साहित्य से अथवा शिलालेखो से ज्ञात नही होता। दिगम्बरीय मान्यता के अनुसार यतिवृषभ की मानी जाने वाली "तिलोय-पण्णत्ति" मे ये नाम उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर जैन विद्वान् यतिवृषभ का समय विक्रम की षष्ठ शती मानते हैं, परन्तु हमारे मत से "यतिवृषभ", ऐतिहासिक व्यक्ति हुए ही नही है। "यतिवृषभ" यह नाम धवला टीका के कर्त्ता भट्टारक वीरसेन का एक कल्पित नाम है और उनकी कही जाने

: २८ :

धवला की प्रशस्ति

"सिद्धत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण ।
भट्टारएण टीका, लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥
अट्ठत्तीसम्हि सासियविक्कमरायम्हि एयाइ सरंभो ।
पोसे सुतेरसीए, भावविलग्गे धवलपक्खे ॥६॥
जगतुंगदेवरज्जे, रि(हि)यम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए सते, गुरुम्हि कुलविल्लए होते ॥७॥
चावम्हि वर (घर) णिवुत्ते, सिघे सुक्कम्मि मेढि चंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा, टीका हु समापिआ धवला ॥८॥
वोद्दण रायणरिंदे, णरिंदचूडामणिम्हि भुजते ।
सिद्धंतगंथमत्थिय-गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥९॥"

भट्टारकजी ने प्रशस्ति की ५ से ९ तक की ५ गाथाओ से यह धवला टीका कब लिखी यह बात सूचित की है। परन्तु निर्माण के समय के सूचक "अट्ठत्तीसम्हि" इन दो शब्दों के अतिरिक्त कोई शब्द नही है। "सासिय" अथवा "सामियविक्कमरायम्हि" इन शब्दो से भी कोई स्पष्टार्थ नही होता। शासक अथवा स्वामी विक्रम राज्य के समय क्या हुआ? इसका कोई फलितार्थ नही मिलता। "अट्ठत्तीसम्हि" से विक्रम का सम्बंध नही मिलता, क्योकि दोनो सप्तम्यन्त हैं। इसके अतिरिक्त "जगतुगदेवरज्जे" और अन्त मे "वोद्दण रायणरिंदे, णरिंद चूडामणिम्हि भुजते" इस प्रकार दो राजाओ के सप्तम्यन्त नाम लिखे हैं। "विक्रमराज, जगत्तुङ्गदेव और वोद्दणराजनरेन्द्र" इन तीन राजाओ का सम्मेलन करके भट्टारकजी क्या कहना चाहते हैं, इसका तात्पर्य समझ मे नही आता। प्रशस्ति की गाथाओ

ज्योतिष शास्त्र का वेत्ता भी बताया है।" इतना ही नही, इस महती टीका मे आपने छोटे से छोटे अनुयोग द्वार तथा प्रकरण के प्रारम्भ मे "वण्णइस्सामो, कस्सामो" आदि बहुवचनान्त क्रियाओ का प्रयोग करके अपने महत्त्व का परिचय दिया है। मालूम होता है, टीकाओ का पुनरुक्तियो द्वारा दुगुना तिगुना कलेवर बढाने मे भी उनका महत्त्वाकांक्षीपन ही काम कर गया है, अन्यथा धवला जयधवला टीकाओ मे जो कुछ लिखा है, वह एक चतुर्थांश परिमाण वाले ग्रन्थ मे भी लिखा जा सकता था। इसका आपने कई स्थानो पर बचाव भी किया है कि हमने अतिमुग्ध-बुद्धि-शिष्यो के बोधार्थ यह पुनरुक्ति की है। हमारी राय मे यह बचाव एक बहाना है। एक वस्तु को घुमा-घुमाकर लिखने से तो मुग्ध-बुद्धि मनुष्य उल्टे चक्कर मे पडते हैं। खरी बात तो यह है कि भट्टारकजी को इन ग्रन्थों का कलेवर बढाकर इस तरफ अपने अनुयायियो का मन आकृष्ट करना था और इस कार्य में आप पूर्णतया सफल भी हुए हैं।

टीका की प्रशस्ति में आपने अपने इस निर्माण का समय सूचित करने मे भी जाने-अजाने गोलमाल किया है।

आधुनिक दिगम्बर विद्वान् भट्टारक वीरसेन स्वामी का सत्तासमय विक्रम की नवमी शती मे रखते हैं। तब भट्टारकजी स्वय धवला टीका मे "तिलोयपण्णत्ति, तिलोयसार' आदि ग्रन्थो के नाम निर्देश करते है। "तिलोयपण्णत्ति" बारहवी शती के पूर्व का सन्दर्भ नही है और "तिलोय-सार" इससे भी अर्वाचीन ग्रन्थ है। इस स्थिति मे "धवला" मे इन ग्रन्थो का नाम निर्देश होना क्या रहस्य रखता है, यह प्रश्न विचारको के लिए एक समस्या बन जाती है। इसके अतिरिक्त "धनञ्जयनाममाला" एव "गोम्मटसार" की पचासो गाथाओं के उद्धरणो का धवला मे मिलना भी कम रहस्यमय नही है। एक स्थान पर तो वीरसेन भट्टारकजी ने प्रसिद्ध दिगम्बर न्यायाचार्य भट्टारक "प्रभाचन्द्र" का नाम निर्देश भी किया है और "सिद्धि-विनिश्चय टीका" का उद्धरण भी दिया है। इन सभी बातो की समस्या दो प्रकार से ही हल हो सकती है, एक तो यह कि भट्टारक वीरसेन को ग्यारहवी शती का माना जाय। दूसरा यह कि इनको टीकाओ मे जिन २ अर्वाचीन ग्रन्थो के अवतरण तथा अर्वाचीन ग्रन्थकारो के नाम आते हैं वे बाद मे प्रक्षिप्त हुए माने जायें। इसके अतिरिक्त समन्वय का तीसरा कोई उपाय नही है। हमारी राय मे आचार्य वीरसेन को नवमी शताब्दी का न मानकर ग्यारहवी शती का मानने से ही सब बातो का समाधान हो सकता है।

धवला टीका की प्रशस्ति जिसकी चर्चा ऊपर कर आये है, वीरसेन के समय पर स्पष्ट प्रकाश नही डालती, न उसमे दिये हुए राजाओ के नामो से ही समय की सिद्धि होती है। यह प्रशस्ति स्वय उलझी हुई है। इसके भरोसे पर ग्रन्थकार को पूर्वकालीन ठहराना किसी प्रकार सिद्ध नही हो सकता। धवला के अन्तर्गत दूसरे भी अनेक शब्दप्रयोग ऐसे मिलते है कि जिनसे ग्रन्थकार ग्यारहवी शताब्दी के पूर्ववर्ती सिद्ध नही हो सकते।

षट्-खण्डागम के माने जाने वाले सूत्रो को वीरसेन ने "सूत्र" तथा "चूर्णि" इन दो नामो से निर्दिष्ट किया है। परन्तु हमारी राय मे इनको "चूर्णि" कहना ठीक नही जँचता, क्योकि "चूर्णि" एक प्रकार की टीका मानी गई है और टीका गद्य अथवा पद्यबद्ध ग्रन्थो के ऊपर बनती है।

मे मास, पक्ष, तिथि, लग्न और लग्न-कुण्डली स्थित ग्रहों की राशियाँ बताई हैं। इससे इतना जाना जा सकता है कि यह प्रशस्ति विक्रम की दशवी शती अथवा उसके बाद की हो सकती है पहले की नही।

आचार्य वीरसेन ने वेदना-खण्ड की टीका मे दिगम्बर साधुओ के पाँच कुलो के नाम दिए है, वे ये हैं—"पंचस्तूप, गुहावासी, शालमूल, अशोकवाटक और खण्डकेसर।" इसके साथ ही "गण" तथा "गच्छ" की व्याख्या देते हुए लिखा है—"तिपुरिसओ गणो" "तदुवरि गच्छो" अर्थात् तीन पुरुपो की परम्परा के समुदाय को "गण" कहते है। उसके ऊपर होता है उसे "गच्छ" कहते हैं। भट्टारकजी ने "कुल, गण और गच्छ" की यह व्याख्या किस ग्रन्थ के आधार से की है यह कहना कठिन है। धवला के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रन्थ मे कुलो के इन नामो को हमने नही देखा, न "त्रिपुरुषकगण" होता है—यह व्याख्या भी हमने कही पढी। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे "नन्दिगण, सेनगण, देवगण, सिहगण, देशीयगणादि" गणो के नाम मिलते हैं। परन्तु "त्रिपुरुपकगण" होता है ऐसा कही भी लेख नही मिलता। न "गणो" के ऊपर "गच्छ" होते हैं, यह वात देखने मे आई। प्रत्युत गण शब्द ही प्राचीनकाल से साधु-समुदाय के अर्थ मे प्रचलित था। "गच्छ" शब्द तो बाद मे प्रचलित हुआ है। जहाँ तक हमने देखा है, साधु-समुदाय के अर्थ मे "गच्छ" शब्द ग्यारहवी तथा बारहवी शती के ग्रन्थो मे तथा शिलालेखो मे साधु-समुदाय के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। तव भट्टारक वीरसेन गणो के ऊपर गच्छ कहते हैं। इसका क्या वास्तविक अर्थ है, सो विद्वान् विचार करें। हमारी राय मे तो दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन परम्पराओ मे सर्वोपरि सघ होता है और सघ के छोटे विभाग "गण" होते हैं। गणो के विभागों को "गच्छ" कहते हैं। श्वेताम्बर परम्परा मे छठी, सातवी शताब्दी से "गच्छ" शब्द साधु-समुदाय के अर्थ मे प्रचलित हुआ है। तव दिगम्बर परम्परा मे तो इसके बहुत पीछे ग्यारहवी, वारहवी शती से "गणो" मे से "गच्छों" की उत्पत्ति हुई है। इस दशा मे भट्टारकजी वीरसेन का उक्त कुलगण-गच्छो का निरूपण एक रहस्यपूर्ण समस्या वन जाती है।

और न प्राकृत। इसमे शौरसेनी का एक ही लक्षण मजबूत पकडे रखा है कि "त" को "द" बनाना। मागधी का लक्षण एक ही पकड़ा है कि ती के "त" को "ड़" बनाना। बाकी प्राकृत प्रयोग भी अधिकाश अलाक्षणिक ही हैं, जैसे–"खुद्दाबन्ध, नामागोद, नीचागोद, रहस्स, सघडण" इत्यादि सैकड़ो ऐसे अलाक्षणिक शब्द हैं जो प्राकृत व्याकरण से सिद्ध नही हो सकते। इन अलाक्षणिक शब्दो को लाक्षणिक बनाने की इच्छा "प्राकृत शब्दानुशासनकार–श्री त्रिविक्रमदेव" को हुई थी और प्रारम्भ मे उन्होने लिखा भी था कि "वीरसेन आदि प्रयुक्त शब्दो को सिद्ध करने की भी मेरी इच्छा है।" पर बाद मे शब्दानुशासन की समाप्ति तक देखा तो वीरसेन अथवा उनके द्वारा प्रयोग मे लाए गए प्राकृत शब्दो की सिद्धि कही भी दृष्टिगोचर नही हुई। मालूम होता है कि त्रिविक्रम देव को भट्टारकजी के अलाक्षणिक शब्दो को लाक्षणिक बनाने का कार्य असम्भव प्रतीत हुआ होगा। इसी से उन्होने अपने व्याकरण मे कही उल्लेख तक नही किया।

भट्टारकजी अपनी भाषा की अलाक्षणिकता जानते थे, इसी से इन्होंने एक स्थान पर प्राकृतव्याकरण के नाम से अर्धपद्य के रूप मे एक बॉम फेका कि "प्राकृत मे ए, ऐ आदि सन्ध्यक्षरो के स्थान मे आ, ई आदि अक्षर परस्पर एक दूसरे के स्थान मे हो जाते हैं।"

आपकी होशियारी का पार ही नही आता, स्थान-स्थान पर "केवि आयरिया, आयरियोवदेसेण, महावाचक-खमासमणा" आदि साक्षी के रूप मे तुक्का धर देते है, पर नाम न देने की तो प्रतिज्ञा ही कर रखी है। हम तो इसका अर्थ यही समझते हैं कि भट्टारकजी के पास एकाध गणित का कोई अच्छा ग्रन्थ होगा और एक दो भग-प्रस्तारो के कर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ, उनके आधारो से यह टीका ग्रन्थ–जिसे टीका न कहकर "महाभाष्य" कहना चाहिये, बना हुआ है। कुछ भी हो, परन्तु दिगम्बर जैन परम्परा के लिये तो वीरसेन एक वरददेव हैं, जिन्होने "कर्म-सिद्धान्त-विषयक–धवला तथा जयधवला" दो टीकाएँ बनाकर दिगम्बर जैन समाज को उन्नतमस्तक कर दिया है।

卐 卐

षट्-खण्डागम के माने गये सूत्र किसी अश मे सूत्र कहे जा सकते हैं, तब कही-कही सूत्र चूर्णि का रूप भी धारण कर लेते है। यह मूल ग्रन्थ का दुरगा रूप स्वाभाविक नही पर कृत्रिम है। हमारी समझ के अनुसार वास्तव मे यह चूर्णी होनी चाहिए, परन्तु बाद मे किसी ने चूर्णी का अग-भग कर सूत्र बना दिए है। यह परिवर्तन किसने किया यह कहना तो कठिन है, परन्तु चौथे पाँचवें खण्डो मे कही-कही सूत्रो के रूप मे गाथाएँ दी गई है और उन पर चूर्णि न होकर वीरसेन की सीधी धवला टीका बनी है।

कषाय पाहुड की गाथाओ के कर्त्ता का नाम 'गुणधर" लिखा है और उसकी चूर्णि के कर्त्ता का नाम "यतिवृषभ"। हमारी राय मे ये दोनों नाम भट्टारकजी की कृति है। असत् को सत् बनाने मे भट्टारक वीरसेन एक सिद्धहस्त कलाकार मालूम होते हैं। "जयधवला" वाली चूर्णि के प्रारम्भ मे दो मगलाचरण की गाथाएँ दी है, उनमे "यतिवृषभ" नाम आता है, जिसे "यतिवृषभ" नामक आचार्य मानकर चूर्णि को उनके नाम पर चढा दिया है। यही चूर्णि टीका के बिना छपी है। उसमे न मगल गाथाएँ है, न "यतिवृषभ' का उल्लेख है। इससे प्रमाणित होता है कि "जयधवला वाली चूर्णी' मे वीरसेन ने अपना परिचय मात्र दिया है।

अपनी टीका मे स्थान-स्थान पर "जईवसहायरिओ" उल्लेख कर भट्टारकजी ने यति वृषभाचार्य को मूर्तिमन्त बना दिया है। इसी प्रकार कपायपाहुड़ की गाथाओ में कही भी कर्ता का नाम निर्देश नही है, तथापि वीरसेन ने अपनी टीका मे "गुणहर भडारओ" इत्यादि स्थान-स्थान पर निर्देशो द्वारा "गुणधर भट्टारक" को भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति बना दिया है।

षट्-खण्डागम के चूर्णि सूत्र, कषाय पाहुड के चूर्णि सूत्र और इन दोनो पर की वीरसेन की टीकाओं की प्राकृत भाषा एक है। फरक इतना ही है कि टीकाओं मे कही-कही सस्कृत पद अथवा वाक्य दिए गए हैं; तब चूर्णियो मे यह बात नही है। प्राकृत भापा न पूरी शौरसेनी है, न मागधी

पापश्रुत का निरूपण करते हुए इन्होंने "वात्स्यायन" शास्त्र के साथ "कोकशास्त्र" का भी नाम निर्देश किया है जो इनकी अर्वाचीनता प्रमाणित करता है। वसुनन्दि की "सिद्धान्तचक्रवर्ती" इस उपाधि के अनुसार ये "कर्मग्रन्थ" तथा "तिलोयपण्णत्ति" के विषय के अच्छे जानकार मालूम होते हैं। अधिकार ११–१२ की टीका में इन्होंने जो विद्वत्ता दिखाई है—इससे इनके सिद्धान्त-चक्रवर्तित्व का आभास मिलता है, परन्तु शेष दस अधिकारों की संख्या में इन्होंने कमजोरी ही नहीं अनभिज्ञता तक दिखाई है। इसके दो कारण ज्ञात होते हैं—एक तो यह कि इस ग्रन्थ पर वसुनन्दि के पूर्व की बनी हुई कोई टीका नहीं थी और दूसरा यह कि यह ग्रन्थ खासकर श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ "आवश्यक-निर्युक्ति, दश-वैकालिक सूत्र" आदि के आधार पर संगृहीत किया गया है और वसुनन्दि के पास न उक्त श्वेताम्बर ग्रन्थ थे, न श्वेताम्बर परम्परा की आचार-विषयक परिभाषाओं का ज्ञान। इसलिये कई स्थानों पर बिना समझे ही मूल ग्रन्थ की बातों को गुडगोबर कर दिया है। सबसे अधिक इन्होंने "षडावश्यकाधिकार" मे अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित की है। अन्य स्थानों पर भी जहाँ कहीं श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों की गाथाओं की व्याख्या की है, वहाँ कुछ न कुछ भूल की ही है। उदाहरण के लिए—पंचाचाराधिकार की ८०वी गाथा श्वेताम्बरीय-आवश्यक-निर्युक्ति की है। इसमें गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वधर स्थविर की रचना को "सूत्र" के नाम से व्यवहार करने का कहा है। इसके चतुर्थ चरण मे "अभिण्णदसपुव्विकधिद च" इसकी व्याख्या करते हुए "अभिन्न दस पूर्व" का अर्थ करते हुए आप कहते हैं—"अभिन्नानि रागादिभिरपरिणतानि दश पूर्वाणि" अर्थात्—'रागादि से अपरिणत दश पूर्व' ऐसा अर्थ लगाया है। परन्तु वास्तव मे इसका अर्थ होता है—"सम्पूर्ण दशपूर्व" और ऐसे "सम्पूर्ण दश पूर्वों के जानने वाले श्रुतधर की कृति को "सूत्र" माना गया है। यह तो एक मात्र उदाहरण बताया है, वास्तव में इस प्रकार की साधारण भूले अगणित है।

आचार्य वसुनन्दी ने इस टीका मे अपना विशेष परिचय नही दिया। अन्त मे एक पद्य मे इस मूलाचार की वृत्ति का "वसुनन्दी वृत्ति" के नाम से

: २६ :

मूलाचार - सटीक

❖

"मूलाचार" ग्रन्थ प्राकृत गाथाबद्ध १२ अधिकारो में पूरा किया गया है। बारह अधिकारों के नाम तथा गाथासख्या निम्न प्रकार से है—

(१) मूलगुणाधिकार
(२) वृहत्प्रत्याख्यान-संस्तर-स्तवाधिकार
(३) संक्षेप-प्रत्याख्यानाधिकार
(४) सामाचाराधिकार
(५) पचाचाराधिकार
(६) पिण्डशुद्धि-अधिकार
(७) षडावश्यकाधिकार
(८) द्वादशानुप्रेक्षाधिकार
(९) अनगार-भावनाधिकार
(१०) समय-साराधिकार
(११) शील-गुणाधिकार
(१२) पर्याप्त्यधिकार

ऊपर लिखे अनुसार बारह अधिकारों मे क्रमश: ३६–७१–१४–७७–२२२–८३–१९३–७६–१२५–१२४–२६–२०६ गाथा संख्या है, जो सम्मिलित संख्या १२३० होती है। इसके कर्त्ता "वट्टकेर" अथवा "वट्टकेरल" बताये जाते हैं। इस ग्रन्थ पर टीकाकार सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य वसुनन्दी हैं। इनका सत्तासमय ज्ञात नही है, फिर भी इनके कतिपय उल्लेखो से ये धारणा से भी अधिक अर्वाचीन प्रतीत होते हैं।

मूला० पंचाचाराधिकार	गाथा ८०	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	
,, सामाचाराधिकार	१२९	आ० नि० ६६७	पृ० २५७
,, ,,	१३२	६८४	२६३
,, ,,	१३३	६८८	२६४
,, पंचाचाराधिकार	१६५	१०१८	७६४
,, षडावश्यकाधिकार	३	९१८	३८७
,, ,,	४	९२२	४०६
,, ,,	६	९५३	४३८
,, ,,	९	९८९	४४८
,, ,,	१०	९९७	४४९
,, ,,	११	१००२	४४९
,, ,,	१६	८९	६२
,, ,,	२४	७९७	३२९
,, ,,	२५	७९८	३२९
,, ,,	३३	७९९	३२९
,, ,,	३६	१२४६	५६३
,, ,,	४२	१०५८	४९६
,, ,,	५५	१०५९	४९६
,, ,,	५६	१०६०	४९७
,, ,,	५८	१०६२	४९७
,, ,,	५९	१०६१	४९७
,, ,,	६२	१०६६	४९८
,, ,,	६३	१०६९	४९८
,, ,,	६४	१०७६	५००
,, ,,	६५	९३१	४९६
,, ,,	६६	१०७७	५००
,, ,,	६७	१०७९	५००
,, ,,	६८	१०९३	५०८
,, ,,	६९	१०९४	५०८

परिचय कराया है। यह पद्य यदि वसुनन्दी का खुद का भी हो तब भी इससे इनका तथा इनके समय का कोई परिचय नही मिलता। इनके "वसुनन्दिश्रावकाचार, प्रतिष्ठासार" आदि ग्रन्थो मे भी इन्होने अपना परिचय नही दिया, ऐसा स्मरण है।

मूलाचार के कर्त्ता का नाम "वट्टकेराचार्य, वट्टेरकाचार्य अथवा वट्टकेरलाचार्य ?"—

प्रस्तुत मुद्रित सटीक ग्रन्थ के सम्पादक ने एक दो स्थान पर "वट्टेरकाचार्य", तव अन्य स्थानों मे "वट्टकेराचार्य" लिखा है। वसुनन्दी ने टीका के उपक्रम मे इनका नाम "वट्टकेरलाचार्य" लिखा है। इन भिन्न-भिन्न नामोल्लेखों का होना हमारी राय मे इस ग्रन्थ के कर्त्ता के नाम का वनावटीपन सावित करता है। इस वात के समर्थन मे अन्य भी कई कारण हैं। प्रथम तो दिगम्वरीय शिलालेखो मे यह नाम कही भी दृष्टिगोचर नही होता। ग्रन्थ-प्रशस्तियो मे भी इनका नाम कही लिखा नही मिलता। भट्टारकीय प्रशस्तियो मे भी किसी भी लेखक ने नही लिखा, ऐसा हमारा ध्यान है। आचार्य श्रुतसागर १६वी शताब्दी के दिगम्वर विद्वान् थे। आचार्य वसुनन्दी भी श्रुतसागर से दो तीन शताब्दियो से अधिक पूर्ववर्ती नही है। मूलाचार के भिन्न-भिन्न अधिकारो मे आने वाले अनेक ऐसे शब्द-प्रयोग है जो विक्रम की १२वी शताब्दी के किसी ग्रन्थ मे प्रयुक्त हुए दृष्टिगोचर नही होते। मूलाचार ग्रन्थ के अधिकारो की योजना भी इस वेढव्री से की गई है कि यह ग्रन्थ एक मौलिक ग्रन्थ नही पर सग्रहग्रन्थ प्रतीत होता है। ग्रन्थ की प्राकृत भाषा भी दिगम्वरीय शौरसेनी है, जो १२वी शताब्दी से प्राचीन नही। छन्दोभग जैसी भूलो को ध्यान मे न भी ले तो भी व्याकरण सम्वन्धी ऐसी अनेक अशुद्धियाँ हैं जो दिगम्वरीय प्राचीन साहित्य मे नही देखी जाती। परन्तु वारहवी तेरहवी शती और इसके वाद के ग्रन्थो मे इनकी भरमार है। सग्रहकार ने शताधिक गाथाएँ श्वेताम्वर ग्रन्थो से लेकर इसमे रख दी है। केवल 'त 'य' के स्थान पर दिगम्वरीय शौरसेनी का 'द' वना दिया है। नमूने के रूप में कुछ गाथाओ के अङ्क हम नीचे उद्धृत करते हैं—

मूला०	पडावश्यकाधिकार	गाथा	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	पृष्ठ
		१२९	१२४४	५९३
,,	,,	१३०	१२४४	५९३
,,	,,	१३६	१५५५	८०३
,,	,,	१३९	१५६३	८९०
,,	,,	१४०	१५६४	८९०
,,	,,	१४१	१५६५	८९०
,,	,,	१५१	१४४७	७७०
,,	,,	१५५	१४९०	७८०
,,	,,	१५९	१४५८	७७२
,,	,,	१६०	१५३०	७९५
,,	,,	१६१	१५३१	७९४
,,	,,	१६२	१५३८	७९५
,,	,,	१६९	१५५१	८०१
,,	,,	१७१	१५४६	७९०
,,	,,	१७२	१५४७	७९८
,,	,,	१७४	१५४१	७९७
,,	,,	१७५	२३५	७९७
,,	,,	१७७	१४७९	७७६
,,	,,	१७८	१४८९	७७६
,,	,,	१७९	१४९०	७७६
,,		१८०	१४९२	७७६
,,		१८६	७२२	२७२
,,	,,	१८७	१२२	२६७
,,	,,	१९०	१२१	२६६
,,	,,			
,,	समयसाराधिकार	८		
,,	,,	१२१	दशवैकालिक ७	
,,	,,	१२२	दश० ८	
,,	,,	१२३	दश०	

मूला०	षडावश्यकाधिकार	गाथा	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	पृष्ठ
,,	,,	७०	१०६५	५०८
,,	,,	७१	१०६६	५०६
,,	,,	७२	१०६७	५०६
,,		७८	अवश्य सूत्र	५११
,,	,,	७६	आ. नि. ११०२	५११
,,	,,	८०	११०३	५११
,,	,,	६३	११६७	५४१
,,	,,	६४	११६५	५४०
,,	,,	६५	११०५	५१६
,,	,,	६६	११०६	५१६
,,	,,	६८	११०७	५१६
,,	,,	१००	११०८	५४१
,,	,,	१०१	११६६	५४१
,,	,,	१०२	५४१	
,,	,,	१०३	१२०१	५४२
,,	,,	१०४	१२०२	५४३
,,	,,	१०६	१२०७	५४३
,,	,,	१०७	१२०८	५४४
,,	,,	१०८	१२०६	५४४
,,	,,	१०६	१२१०	५४४
,,	,,	११०	१२११	५४४
,,	,,	१११	१२१२	५४४
,,	,,	११३	१२२५	५४६
,,	,,	११५	१२३४	५५२
,,	,,	११६	१२४८	६६३
,,	,,	११७	१२३१	५५१
,,	,,	११८	१२३२	५५१
,,	,,	१२०	१२५०	५६४

: ३० :

पंच-संग्रह ग्रन्थ

❖

१. आवश्यक सूचन :

प्रथम पच-सग्रह जो भाषान्तर के साथ मुद्रित है, करीव २५०० श्लोक परिमाण है। इसके पाँचों प्रकरणो के नाम क्रमशः नीचे लिखे अनुसार हैं—

१. जीव-समास—गाथा २०६
२. प्रकृति-समुत्कीर्तन—गाथा १२ शेष गद्यभाग
३. कर्म-स्तव—गा० ७७
४ शतक—गा० कुल ५२२, मूल गाथा १०५
५ सप्ततिका—गाथा कुल ५०७, मूल गाथा ७२

यह ग्रन्थ भाषान्तर के साथ ५३९ पेजो मे पूरा हुआ है।

२. प्राकृत वृत्ति सहित पंच-संग्रह :

श्रुतवृक्ष का निरूपण उपोद्घात मे, गाथा ४३ जिसमे अग उपाग पूर्वश्रुत के विवरण के साथ सब की पदसख्या दी है।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन—गाथा १६
२ कर्म-स्तव—गाथा ८८, ९ गाथाएँ इसी विषय की अलग अक वाली है।
३. जीवसमास—गा० १७६, यह ग्रन्थ ५४० से ६६२ तक के १२२ पृष्ठो मे पूरा हुआ है।
४. शतक—गा० १३९, अन्त मे मङ्गलाचरण की दो गाथाएँ।
५. सचूलिका सप्तति—गाथा ९९,

इस प्राकृत टीका वाले पंच-सग्रह के कर्त्ता पद्मनन्दी नामक आचार्य हैं और टीका भी इनकी स्वोपज्ञ प्रतीत होती है।

मूला०	शीलगुणाधिकार	गाथा १६	छेद सूत्र
,,	पर्याप्त्यधिकार	१०७	आ० सू० ४६ पृ० ३६

उपर्युक्त गाथाओ मे वर्णभेद तो सर्वत्र किया ही है, परन्तु कही कहीं दिगम्बर परम्परा को मान्यता के अनुकूल बनाने के लिए शाब्दिक परिवर्तन भी किया है। इनके अतिरिक्त अनेक गाथाओं के चरण तथा गाथार्ध तो सैकड़ो की सख्या मे दृष्टिगोचर होते हैं। पचाचाराधिकारादि मे भगवती आराधना की कतिपय गाथाएँ भी ज्यो की त्यो उपलब्ध होती है। भगवती आराधना यापनीय सघ के विद्वान् मुनि शिवार्य की कृति है, इसी तरह दिगम्बर ग्रन्थो की गाथाओ का भी अनुसरण किया गया है। इन सब बातो का विचार कर हमने यह मत स्थिर किया है कि मूलाचार न कुन्दकुन्दाचार्य की कृति है, न वट्टकेर, वट्टेरक अथवा वट्टकेरल नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं। मूलाचार यह सग्रह ग्रन्थ है। इसके सग्राहक यापनीय अथवा अज्ञातनामा कोई दिगम्बर विद्वान् होने चाहिए।

भगवती आराधना :

भगवती आराधना का सविस्तार अवलोकन "श्रमण भगवान् महावीर" पुस्तक के "स्थविरकल्प और जिनकल्प" नामक परिशिष्ट मे दिया गया है, जिज्ञासु पाठक वही से जान ले।

卐 卐

: ३१ :

कर्ता : अकलंक देव

अकलंक - ग्रन्थत्रय

❖

लघीयस्त्रय ग्रन्थ मे प्रथम प्रमाण-प्रवेश, नय-प्रवेश तथा प्रवचन-प्रवेश आदि प्रकरण हैं।

नय-प्रवेश की ३३वी कारिका के उपक्रम मे पुरुषाद्वैतवाद का उल्लेख करके पुरुष को निस्तरग तत्त्व और जीवादि पदार्थों को उपप्लव कहा गया है। वास्तव मे यह हकीकत वेदान्तवाद की है। आगे कारिका ३८वी मे स्पष्ट रूप से ब्रह्मवाद का निर्देश मिलता है—

"संग्रहः सर्वभेदैक्य—मभिप्रैति सदात्मना।
ब्रह्मवादस्तदाभास. स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥" इत्यादि।

आगे प्रवचन-प्रवेश की ६९वी कारिका मे भी—

"सदभेदात्समस्तैक्य—सग्रहात् सग्रहो नयः।
दुर्नयो ब्रह्मवाद. स्यात्, तत्स्वरूपानवाप्तितः ॥३९॥"

ब्रह्मवाद को दुर्नय कहा गया है।

अकलक देव के उपर्युक्त निरूपणो से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका लघीयस्त्रय ग्रन्थ शकराचार्य का ब्रह्मवाद प्रचलित होने के वाद निर्मित हुआ है। अन्य विद्वानो का यह मन्तव्य है कि लघीयस्त्रय अकलक देव का प्रारम्भिक ग्रन्थ है। पर हम इस मन्तव्य से सहमत नही है। हमारी राय मे यह लघीयस्त्रय ग्रन्थ अकलकदेव ने पिछली अवस्था मे इस विचार से रचा है कि स्याद्वाद के अभ्यासी विद्यार्थी इन लघु ग्रन्थो मे प्रवेश कर स्याद्वाद के आकर ग्रन्थो मे सुगमता से प्रवेश कर सके।

卐 卐

३. संस्कृत पद्यबद्ध पंच-संग्रह :

प्राग्वाट वरिणक् जाति के विद्वान् श्रीपालसुत डड्ढ की कृति है। इसके पाच प्रकरणो के नाम इस प्रकार है—

१. जीव-समास—श्लोक २५७
२. प्रकृति-समुकीर्तन—श्लो० ४४
३ कर्म-स्तव—श्लो० ६०
४. शतक—श्लो० ३३६
५. सत्तरि—श्लो० ४२८
६. सप्ततिका चूलिका ८५

४ पंच-संग्रह संस्कृत आचार्य अमितगति कृत :

१ वंधक—श्लोक ३५३
२ वध्यमान—श्लोक प्रकृति-स्तव मे ४८
३ वध-स्वामित्व—श्लोक कर्म-वन्ध-स्तव १०६
४. वंधकारण—३७५ श्लोको के वाद शतक समाप्त ऐसा उल्लेख किया है,
५. वध भेद— परन्तु अगले प्रकरण का गाथाक भिन्न नही दिया है किन्तु ७७६ श्लोको के वाद "इति मोहपाकस्थानप्ररूपरणा समाप्ता" यह लिखकर आगे गुरणेपु मोहसत्त्वस्थानानि आह—यह लिखकर नये अङ्क के साथ प्रकरण शुरु किया है और बीच मे भिन्न-भिन्न शीर्षक देकर कुल ७६ श्लोक पूरे करके "सप्ततिकाप्रकरण समाप्तम्" लिखा है।

शतक, सप्ततिका इन दोनो प्रकरणो की समाप्ति के उल्लेखों मे इनके नाम आये है, मूल श्लोको मे नही। परन्तु इन दो प्रकरणो मे दृष्टिवाद का नामनिर्देश श्लोको मे हुआ है।

इसके वाद सामान्य विशेष रूप से वन्ध-स्वामित्व का निरूपण है, जो भिन्न-भिन्न शीर्षको के नीचे ६० श्लोको मे पूरा किया है। वीच मे गद्य भाग मे भी विवरण किया है। ग्रन्थकार की प्रशस्ति से जाना जाता है कि १०७३ विक्रम मे यह ग्रन्थ पूरा किया है।

卐 卐

: ३३ :

श्री तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक

कर्ता : श्री विद्यानन्दी

❖

तत्त्वार्थसूत्र पर रची गयी अनेक टीकाओ मे से विक्रमीय एकादशवी शताब्दी के पूर्वार्ध जात आचार्य विद्यानन्दी की "तत्त्वार्थसूत्र-श्लोकवार्तिकालङ्कार" का तीसरा नम्बर है। यह टीका भाष्य के रूप मे लिखी गई है। तत्त्वार्थ के मूल सूत्रो का विवरण लिखने के वाद उसी का सार प्राय कारिकाओ मे दिया गया है।

टीका ग्रन्थ का आवे से अधिक भाग प्रथम अध्याय के पांच आह्निको मे पूरा किया है। शेष टीका ग्रन्थ दूसरे अध्याय के तीन आह्निको और शेष आठ अध्यायो के दो दो आह्निक कल्पित करके पूरा किया है।

टीकाकार ने अपनी टीका मे पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारो तथा विद्वानों का नाम निर्देश किया है।

जैन विद्वानो के नामो मे समन्तभद्र का नाम निर्देश मात्र है। तव अकलकदेव, कुमारनन्दी, श्रीदत्त के नाम वादी के रूप मे उल्लिखित हैं। आश्चर्य है देवनन्दी सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्ता माने जाते है, परन्तु ग्रन्थ भर मे देवनन्दी का नाम निर्देश कही नही मिलता। अकलकदेव ने "सिद्धि-विनिश्चय" की एक कारिका में सिद्धसेन तथा समन्तभद्र नामो के साथ देवनन्दी का भी नाम निर्दिष्ट किया है। परन्तु तत्त्वार्थराजवार्तिक मे भी देवनन्दी का उल्लेख नही है।

जैनेतर विद्वानो मे से टीकाकार ने उद्योतकर, शबर, भर्तृहरि, वराहमिहिर, प्रभाकर भट्ट, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर गुप्त आदि के अनेक बार नाम निर्देश किये हैं।

: ३२ :

प्रमाण-संग्रह

कर्ता : अकलंक देव

❖

प्रमाण-सग्रह भी इसी कोटि का ग्रन्थ है। इसमे ग्रन्थकर्त्ता ने सिद्धसेन, देवनन्दि और समन्तभद्र के नामो का सूचन किया है। इसके अतिरिक्त इसमे नयचक्र ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

卐 卐

: ३४ :

आप्त-परीक्षा और पत्र-परीक्षा

❖

कर्ता : श्री विद्यानन्दी

आचार्य विद्यानन्दी ने आप्तपरीक्षा मे १२४ कारिकाओ तथा टीका मे आप्त पुरुष की चर्चा की है। इस ग्रन्थ मे जैन जैनेतर विद्वानो के नाम निर्देश निम्न प्रकार से हुए हैं—

समन्तभद्र, अकलकदेव, शकर, प्रशस्तकर (वेदान्त) और भट्ट प्रभाकर आदि के नाम उल्लिखित है।

"देवागमालकृतौ तत्त्वार्थालकारे विद्यानन्दमहोदयैः च विस्तरतो निर्णीत प्रतिपत्तव्य।' इस प्रकार आप्तपरीक्षा मे अपने लिये उल्लेख किया है, इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्तिकालकार मे भी दो एक जगह "विद्यानन्दमहोदय" शब्द का उल्लेख करके अपने अन्य ग्रन्थ की गर्भित सूचना की है।

पत्र-परीक्षा मे भी अन्य नामनिर्देशो के अतिरिक्त कुमारनन्दी भट्टारक की तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं। पत्र-परीक्षा मे शास्त्रार्थ के लिए पत्रावलम्बन किये जाते थे। उन पत्रो के स्वरूप तथा पचावयवादि वाक्यो का स्वरूप लिखा है।

卐 卐

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ में अनेक वादों की चर्चा कर उनका खण्डन किया है। स्फोटवाद का तो बहुत ही विस्तार के साथ निराकरण किया है। इतना ही नही किन्तु सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक शाब्दिको की चार भाषाओं की चर्चा करके उनका खण्डन किया है।

बौद्धो के अन्यापोहवाद की काफी चर्चा करके उसका खण्डन किया है।

वादी-प्रतिवादी के शास्त्रार्थ सभा का निरूपण तथा उनके जय, पराजय के कारणों का विशद वर्णन किया है।

केवली के कवलाहार मानने वालो को दर्शनमोहनीय कर्म बांधने वाला माना है। परन्तु स्त्री उसी भव मे मोक्ष पा नही सकती इसकी चर्चा कही नही दीखती।

卐 卐

: ३६ :

प्रमाण-परीक्षा

ले० : विद्यानन्दी

❖

प्रमाण-परीक्षा में भिन्न-भिन्न दार्शनिको के मान्य प्रमाणो की चर्चा करके सत्य ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है। इस परीक्षा मे ग्रन्थकार ने भट्टारक कुमारनन्दि, अकलकदेव आदि आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं और न्यायवार्तिककार उद्योतकर, बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर; समन्तभद्र, शाबर भाष्य, प्रभाकर, भट्ट, बृहस्पति, कणाद आदि ग्रन्थकारो के भी उल्लेख किये है।

आचार्य विद्यानन्द ने कुमारनन्दी के नाम के साथ दो स्थानों पर भट्टारक शब्द का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि विद्यानन्द के समय में "भट्टारक" युग आरम्भ हो चुका था।

卐 卐

: ३५ :

कर्ता : समन्तभद्र

आप्त-मीमांसा

वृत्ति–वसुनन्दि, अष्टशती-अकलंक

आप्तमीमासा की मूल कारिकाये ११५ हैं, जो "देवागम नभोयान-चामरादिविभूतय:" इस पद्य से शुरु होती हैं। मीमासा मे आचार्य ने आप्त-पुरुष की विस्तृत विचारणा की है और उनके सिद्धान्त प्रमाण नय आदि का समर्थन किया है। साथ-साथ अन्यान्य दार्शनिक मन्तव्यो का निरसन भी किया है।

मूल कृति मे कर्ता ने अपना नाम सूचन नही किया है, फिर भी टीकाकारो ने इसका कर्त्ता समन्तभद्र माना है और उन्हे सबहुमान वन्दन किया है।

टीकाकार वसुनन्दी ने आचार्य कुलभूषण को नमस्कार कर टीका का प्रारम्भ किया है और अकलक ने समन्तभद्र को ही नमस्कार कर मीमासा को शुरु किया है।

"अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो०" इस कारिका के विवरण मे अकलक ने ब्रह्म-प्राप्ति के सम्बन्ध मे उल्लेख किया है।

श्री वसुनन्दि ने अपनी टीका मे धर्म-कीर्ति, मस्करि पूरण का भी उल्लेख किया है।

श्री समन्तभद्र का समय इतिहासवेत्ताओ की दृष्टि मे ईसा की छठी शताब्दी तथा पट्टावली के अनुसार दूसरी शताब्दी का प्रारम्भिक काल है, ऐसा सम्पादक ने प्रस्तावना मे उल्लेख किया है।

हमारी राय मे आचार्य समन्तभद्र विक्रमीय पचम शताब्दी के पूर्ववर्ती नही हो सकते।

卐 卐

एकादशी शती के तृतीय अथवा चतुर्थ चरण की मानी जा सकती है। सम्पादक वशीधरजी शास्त्री के मत से विक्रम सवत् १०६० से १११५ तक का होना निश्चित है ।

प्रथम परिच्छेद मे ग्रन्थकार ने सूक्ष्मा, अनुपश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इन चार भाषाओ का सक्षेप मे स्वरूप वतलाया है।

द्वितीय परिच्छेद के अन्त मे लेखक ने केवली-कवलाहार का खण्डन किया है और स्त्रीनिर्वाण का भी सविस्तार खण्डन किया है। साथ मे सवस्त्र निर्ग्रन्थ नही हो सकता और नैर्ग्रन्थ्य विना मुक्ति नही हो सकती, इन दो विषयो के सम्वन्ध मे लिखी गई युक्तियों में ऐसी कोई भी युक्ति या तर्क दृष्टिगोचर नही होता, जो इनकी मान्यता को सिद्ध कर सके।

तृतीय परिच्छेद मे वौद्धो के अपोह-सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। शव्दाद्वैतवादियो के स्फोट के सम्वन्ध मे प्रतिपादन तथा लौकिक वैदिक शव्दो के अर्थ के सम्वन्ध मे जैनो का मन्तव्य प्रतिपादित किया है।

अन्तिम प्रशस्ति मे ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दी को गुरु के रूप में याद किया है और अपने को पद्मनन्दि सैद्धान्तिक का शिष्य और श्री रत्ननन्दि का पदस्थित वताया है। धाराधीश भोजराज के राज्यकाल मे माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्रो पर यह विवरण समाप्त करने का ग्रन्थकार ने सूचन किया है।

卐 卐

: ३७ :

कर्ता : प्रभाचन्द्र

प्रमेयकमलमार्तण्ड

इस ग्रन्थ मे कुल छः परिच्छेद है—१. प्रमाणपरिच्छेद, २. प्रत्यक्ष-प्रमाणपरिच्छेद, ३. परोक्षप्रमाणपरिच्छेद, ४. प्रमाण-विषय-फल निरूपण परिच्छेद, ५ प्रमाणाभास परिच्छेद, ६, नय-नयाभासाधिकार परिच्छेद। लेखक की शैली प्रौढ़ है। खण्डनात्मक पद्धति से भिन्न-भिन्न विषयो का निरूपण कर लगभग बारह हजार श्लोक प्रमाणात्मक यह ग्रन्थ निर्मित किया है।

यद्यपि ग्रन्थ मे ऐतिहासिक सूचनो का सग्रह विशेष नही है, फिर भी कुछ उल्लेखनीय बातें अवश्य हैं, जो नीचे सूचित की जाती है—

"प्रमेयकमलमार्तण्ड" माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख सूत्रो पर विस्तृत भाष्यात्मक टीका है। माणिक्यनन्दी का सत्ता-समय सम्पादक वशीधरजी शास्त्री ने विक्रम सवत् ५६९ होना बताया है, जो दन्तकथा से बढ़कर नही। हमारी राय में माणिक्यनन्दी विक्रम की दशवी तथा ग्यारहवी शती के मध्यभाग के व्यक्ति हैं। ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजराजा के शासनकाल मे विद्यमान थे। इससे निश्चित होता है कि इनका सत्ता-समय ग्यारहवी शताब्दी का मध्यभाग अथवा उत्तरार्ध होना चाहिए।

चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के **त्रिलोकसार** ग्रन्थ की कतिपय गाथाएँ प्रभाचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ मे उद्धृत की हैं। त्रिलोकसार का रचनासमय विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इससे सुतरा सिद्ध है कि प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड की रचना विक्रमीय

: ३९ :

हरिवंश पुराण और इसके कर्ता आचार्य जिनसेन

❖

(१) कथावस्तु का आधार : : :

प्रस्तुत पुराण के सम्पादक पण्डित श्री पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य का अभिप्राय है कि "हरिवश-पुराण" का कथावस्तु जिनसेन को अपने गुरु "कीर्तिषेणसूरि" से प्राप्त हुआ होगा, परन्तु यह अभिप्राय यथार्थ नही है। सामान्य रूप से "हरिवंश-पुराण" का विषय "महापुराण और त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्रों" के अन्तर्गत "नेमिनाथ चरित्र" और "कृष्ण वासुदेव" आदि के चरित्रो के प्रसंगों पर तो आता ही है परन्तु जिनसेन ने "हरिवंश" की उत्पत्ति के प्रारम्भ से ही "वसुदेवहिण्डी" के नाम से श्वेताम्वर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध "वसुदेव-चरित" के आधार से ही सव प्रसंगो को लिखा है। "वसुदेव-हिण्डी के प्रथम काण्ड" से तो अनेक वृत्तान्त लिये ही हैं, परन्तु "मध्यम काण्ड" के आधार से भी अनेक प्रकार के तपों का निरूपण किया है जो अधिकांश श्वेताम्वरमान्य आगमो मे भी प्रतिपादित हैं।

पुराणकार ने पुराण के प्रथम सर्ग मे निम्नोद्धृत श्लोको मे पुराण का विषय निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है—

"लोकसस्थानमत्रादौ, राजवंशोद्भवस्ततः ।
हरिवंशावतारोऽतो, वसुदेवविचेष्टितम् ॥७१॥
चरितं नेमिनाथस्य, द्वारवत्या निवेशनम् ।
युद्धवर्णन-निर्वाणे, पुराणेऽष्टौ शुभा इमे ॥७२॥"

: ३८ :

भद्रबाहु-संहिता

भद्रबाहुसहिता का प्रथम भाग पढने से ज्ञात हुआ कि यह ग्रन्थ बहुत ही अर्वाचीन है। मुनि जिनविजयजी इसे बारहवी तेरहवीं शताब्दी का होने का अनुमान करते हैं, परन्तु यह ग्रन्थ पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व का नही हो सकता। इसकी भाषा बिल्कुल सरल और हल्की कोटि की संस्कृत है। रचना मे अनेक प्रकार की विषय सम्बन्धी तथा छन्दो-विषयक अशुद्धिया बतातीं है कि इसको बनाने वाला मध्यम दर्जे का भी विद्वान् नही था। "सोरठ" जैसे शव्दप्रयोगों से भी इसका लेखक पन्द्रहवी तथा सोलहवी शती का ज्ञात होता है। इसके सम्पादक श्री नेमिचन्द्रजी इसे अष्टमी शताब्दी की कृति अनुमान करते है, परन्तु यह अनुमान केवल निराधार ही है।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुखतार ने इसे सत्रहवी शती के एक भट्टारकजी के समय की कृति बतलाया है, जो हमारी सम्मति में ठीक मालूम होता है।

卐 卐

अनजान पढने वाले मनुष्य को ऊपर के श्लोक से पाण्डवो के ज्येष्ठादि क्रम मे यह भ्रान्ति हुए विना नही रहेगी कि पाच पाण्डवो मे युधिष्ठिर, अर्जुन, महावली भीम, नकुल और सहदेव ये क्रमश. ज्येष्ठ कनिष्ठ थे। इस भ्रान्ति को ध्यान मे लेकर यदि नीचे लिखे अनुसार श्लोक वनाकर पाच पाण्डवो का निरूपण करते तो कैसा स्वाभाविक होता ?

"युधिष्ठिरो भीमसेनोऽर्जुनश्चापि यथाक्रमम् ।
नकुलः सहदेवश्च, पञ्चैते पाण्डुनन्दना. ॥"

(३) लेखक ऐतिहासिक, भौगोलिक सीमाओं के अनुभवी नहीं : : :

तीसरे सर्ग के ५ श्लोको मे कवि ने पचशैलपुर और पचशैलो का वर्णन किया है। वे कहते हैं—'पचशैलपुर श्रीमुनिसुव्रत जिन के जन्म से पवित्र वना हुआ है, जो शत्रु की सेना के लिये, पाच पर्वतो से परिवृत होने से दुर्गम है। पाच शैलो मे "पूर्व की तरफ ऋषिगिरि" है जो चतुरस्र और जल-निर्झरो से युक्त है। यह पर्वत दिग्गज की तरह पूर्व दिशा को सुशोभित करता है। "वैभार पर्वत जो त्रिकोणाकार" है, दक्षिण दिशा को आश्रित हुआ है। इसी प्रकार "विपुल पर्वत भी त्रिकोणाकार" है और नैर्ऋत कोण के मध्य मे रहा हुआ है। प्रत्यचा चढाए हुए धनुष की तरह "बलाहक" नामक चतुर्थ पर्वत उत्तर, वायव्य, पश्चिम इन तीन दिशाओ मे व्याप्त है और पाचवा "पाण्डुक" पर्वत ईशान कोण मे स्थित है।

कवि ने जिसको पचशैलपुर कहा है वह अर्वाचीन राजगृह नही। क्योकि राजगृह नगर का निवेश राजा विम्बिसार के पिता प्रसेनजित के समय मे हुआ है, जब कि मुनि सुव्रत तीर्थङ्कर का जन्म राजगृह के निर्माण के पूर्व ही हो चुका था। उस समय पाच पर्वतो के विचला नगर राजगृह अथवा पचशैलपुर नही कहलाता था, किन्तु वह "गिरिव्रज" के नाम से प्रसिद्ध था। कवि का पच-पर्वत-स्थिति-विषयक वर्णन भी ठीक प्रतीत नही होता।

भगवान् महावीर जब कभी राजगृह की तरफ जाते, तब उसके ईशान दिशा विभाग मे अवस्थित "गुणशिलक" चैत्य मे ठहरते थे। महावीर के

अर्थात्—"तीन लोक का आकार प्रथम बताकर फिर राजवशोत्पत्ति; उसके बाद हरिवशोत्पत्ति, वसुदेव का भ्रमण, नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका नगरी का निर्माण, युद्ध का वर्णन और नेमिनाथ आदि का निर्वाण, ये आठ अर्थाधिकार इस पुराण मे कहे जायेंगे । ७१ । ७२ ।'

लेखक ने सर्वप्रथम तीन लोको का जो निरूपण किया है वह जैन-शास्त्रोक्त है । शेष अर्थाधिकार राजवशोत्पत्ति, हरिवशोत्पत्ति, वसुदेव की प्रवृत्ति, नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका का बसाना, युद्ध का वर्णन और निर्वाण का वर्णन "चउपन्न महापुरिसचरिय" और "वसुदेव-हिण्डी" इन प्राचीन ग्रन्थो के ऊपर से लिये गये है ।

(२) प्रतिपादन शैली : : :

सम्पादको ने आचार्य जिनसेन की इस कृति के सम्बन्ध मे अपना अभिप्राय बहुत ही अच्छा व्यक्त किया है । परन्तु हमको इनके विचारों से जुदा पडना पड़ता है, यह दु.ख का विषय है । पर इसका कोई प्रतिकार भी तो नही । सम्पादको ने इनकी हर एक प्रवृत्ति और परिपाटी पर सन्तोष व्यक्त किया है, परन्तु मुझे इनकी प्रतिपादन-शैली पर सन्तोष नही । जहा तक मुझे लेखक की लेखिनी का अनुभव हुआ है, इससे यही कहना पड़ता है कि आपकी लेखिनी परिमार्जित नही । पढ़ने पर यही लगता है कि आचार्य धार्मिक सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त व्याकरण पढ़ कर "हरिवश" की रचना मे लगे हैं, इसीलिये लेख मे अलकार और रसपोषण का कही दर्शन नही होता । युद्ध जैसे प्रसग मे भी "वीर" अथवा "अद्भुत" रसो का नाम-निशान नही होना—इसका अर्थ यही हो सकता है कि लेखक ने अपनी साहित्यिक योग्यता प्राप्त करने के पहले ही इस पुराण की रचना कर डाली है । इसीलिये कही कही तो लेख भ्रान्ति-जनक भी हो गया है, जैसे—

"युधिष्ठिरोऽर्जुनो ज्येष्ठो, भीमसेनो महाबलः ।
नकुल. सहदेवश्च, पञ्चैते पाण्डुनन्दनाः ॥ (२)" (४५ सर्ग)

उस भूमिभाग मे ईति उपद्रवादि नही होते। अहोरात्रादि समय शुभ वन जाता है और "अन्वे रूप देखते हैं, वहरे शब्द सुनते हैं, गूंगे स्पष्ट वोलते है और पगुजन भी जोरो से चलने लगते है।" इस निरूपण मे कवि ने ७७वें श्लोक मे अन्धे रूप देखते हैं इत्यादि जो कथन किया है वह शास्त्रानुसारी नही है। तीर्थङ्करों के पुण्य अतिशयो के कारण ईति उपद्रवादि का शान्त होना, नई अशुभ घटनाओं का न होना और ऋतुओ का अनुकूल होना आदि सब ठीक है, परन्तु अन्वे व्यक्ति का देखना, वधिर का सुनना, गूंगे का वोलना और पगु का चलना इत्यादि वाते अतिशय-साध्य नही है। ऐसी असम्भवित वातो को सम्भवित मानकर तीर्थङ्करो के खरे प्रभाव पर भी लोगो की अश्रद्धा उत्पन्न करना है।

भगवान् नेमिनाथ को सुराष्ट्रा, मत्स्य, लाट सूरसेन, पटच्चर, कुरु जाँगल, कुशाग्र, मगध, अग-वंग, कलिंगादि अनेक देशों मे विहार करा कर कवि मलय देश के भद्दिलपुर नगर के बाहर सहस्राम्रवन में पहुंचाते हैं, परन्तु जैन सूत्रो के आधार से भगवान् नेमिनाथ का विहार सुराष्ट्रा के अतिरिक्त उत्तर भारत के देशों मे ही हुआ था। भगवान् स्वयं और उनके शिष्य थावच्चा-पुत्रादि हजारों साधु काश्मीरी घाटियो, हिमालय की श्वेत पहाडियो और उनके निकटवर्ती नगरो मे विचरते थे। थावच्चापुत्र मुनि, उनके शिष्य शुक परिव्राजक और उनके हजार शिष्य उन्ही धवल पहाड़ियो पर जो पुण्डरीक पर्वत के नाम से पहिचानी जाती थी, अनशन करके निर्वाण प्राप्त हुए थे। तीर्थङ्कर नेमिनाथ गिरनार पर्वत पर और उनके अनेक शिष्य सौराष्ट्र स्थित "शत्रुञ्जय" पर्वत पर अनशन करके सिद्ध हुए थे। इस परिस्थिति मे नेमिनाथ के अग, वंग आदि सुदूरपूर्ववर्ती देशो मे विहार करने का वर्णन करना सगत नही हो सकता।

कवि ने तीर्थङ्कर नेमिनाथ को अंग, वग तक ही नही दक्षिण में सुदूर द्रविड़ प्रदेश तक भ्रमण करा दिया है। कृष्ण वासुदेव ने जब पाण्डवो को अपने देश से निर्वासन की आज्ञा दी, तव उन्होंने सकुटुम्ब दक्षिण मे जाकर मल्ल देश मे मथुरा नामक नगरी वसा कर वहाँ का राज्य करने लगे। कालान्तर मे तीर्थङ्कर नेमिनाथ पल्लव देश की तरफ विचरे और

सभी गणधरो ने राजगृह के गुणशिलक उद्यान मे ही अनशन करके निर्वाण प्राप्त किया था। तब महावीर के सैकड़ो साधुओ ने वैभार पर्वत और विपुलाचल पर अनशन करके परलोक प्राप्त किया था। इससे ज्ञात होता है कि महावीर जहा ठहरते थे वहा से वैभार और विपुलाचल निकटवर्ती थे।

११वें सर्ग के ६५वें श्लोक मे कवि ने भारत के मध्य-देशो का वर्णन करते हुए सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान्, कोशल, मोक नामक देशो को मध्यदेशो मे परिगणित किया है, जो यथार्थ नही है। इन नामों मे से पहला नाम भी गलत है। देश का नाम सोल्व नही किन्तु "साल्व" है और यह प्राचीनकाल मे पाच विभागो मे बटा हुआ था और पश्चिम भारत मे अवस्थित था। अन्य प्रमाणो से "आवृष्ट" देश के अस्तित्व का ही समर्थन नही होता। त्रिगर्त देश भारत के मध्यभाग में नही किन्तु नैर्ऋत कोण दिशा मे था, ऐसा प्राचीन सहिताओ से पता लगता है। "कौशल" भी उत्तर भारत मे माना गया है, मध्यभारत में नही और "मोक" देश तो पश्चिम मे था। आज के पंजाब से भी काफी नीचे की तरफ, उसको भी मध्यभारत मे मानना भूल ही है और "कुणीयस्" देश का अन्यत्र कही उल्लेख नही मिलता। "काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, माहेभ, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद" इन देशो को पश्चिम दिशा के देश माने हैं। "दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नेपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन, और विविहाल" ये विन्ध्याचल के पृष्ठ भाग मे थे और "भद्र, वत्स, विदेह, कुशभग, सैतव, वज्रखण्डिक" ये देश मध्यभारत के सीमावर्ती माने हैं।

पश्चिम दिशा के देशो मे भरुकच्छ और सुराष्ट्र ये दो नाम प्रसिद्ध है, शेष सभी अप्रसिद्ध हैं। विन्ध्यपृष्ठवर्ति देशो मे किष्किन्ध नैषध और नेपाल के नाम भी असगत से प्रतीत होते हैं और इनके अतिरिक्त अधिकाश नाम अप्रसिद्ध ही हैं।

आगे ५९वे सर्ग मे भगवान् नेमिनाथ के विहार-वर्णन मे तीर्थङ्कर के अतिशयो का वर्णन करते हुए लिखा है कि जहा तीर्थङ्कर विचरते हैं

दृष्टोऽय हरिवशपुण्यचरित: श्रीपर्वत. सर्वतो,
व्याप्ताशामुखमण्डल. स्थिरतर: स्थेयात् पृथिव्यां चिरम् ॥"

'जिसने अन्य संघो की परम्पराओ को त्याग दिया है ऐसे वृहत् पुन्नाट सघ के वश में व्याप्त हरिवशपुराण रूप "श्रीपर्वत" को भवान्तर मे बोधिलाभार्थ कवि जिनसेन ने ग्रन्थ-रचना द्वारा सव: दिशाओं मे प्रसिद्ध किया जो पृथ्वी पर सदा स्थिर रहे।

ऊपर के पद्य मे कवि ने दो वातों की सूचना की है—

(१) यह कि कवि जिनसेन के पुन्नाट संघ का पहले यापनीय, कूर्चक, श्वेताम्बर आदि अनेक अन्य संघो के साथ सम्पर्क था जो जिनसेन की पुराणरचना के पहले ही टूट गया था।

(२) हरिवश पुराण का कथावस्तु पुन्नाट सघ के वंश मे से प्राप्त किया है।

(१) कवि की अन्य संघो से सम्बन्ध विच्छेद होने को वात बताती है कि प्रस्तुत पुराण का रचनाकाल विक्रम की ११वी शती के प्रारम्भ का है, पहले का नही। क्योकि विक्रम की दशवी शती के पूर्वार्ध तक "यापनीय संघ" उन्नति पर था। "अमोघ वर्ष" जैसे इसके सहायक थे, आचार्य "पाल्यकीर्ति (शाकटायन)" जैसे इसके उपदेशक थे। उस समय मे यापनीयो का सम्वन्ध अन्य सघो से वना हुआ था। यही कारण है कि उस समय मे केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति का समर्थन करने वाले प्रकरण वने थे, परन्तु उसके वाद धीरे धीरे यापनीय संघ का ह्रास होता गया और परिणामस्वरूप विक्रम की १२वी शती तक इसका अस्तित्व ही नामशेष हो गया था। नग्नता के नाते अधिकांश यापनीय संघ दिगम्बर परम्परा मे सम्मिलित हो गया था। कूर्चक आदि छोटे सम्प्रदाय श्वेताम्बरो के अन्तर्गत हो गये। परिणाम यह आया कि इस समय के बाद के लेखों अथवा ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे से यापनीय संघ और कूर्चक संघ ये नाम अदृश्य हो गये। आचार्य जिनसेन के अनेक उल्लेखो से प्रमाणित होता है

पाण्डवो को प्रतिवोध देकर अपने श्रमण शिष्य वनाए। आचार्य जिनसेन कर्णाटक की तरफ से पश्चिम भारत मे आये थे, परन्तु उनके हृदय मे दक्षिण भारत के लिये मुख्य स्थान था। इसीलिये इन्होने दक्षिणापथ की तरफ तीर्थङ्कर को विहार करा कर उस भूमि को पवित्र करवाया; परन्तु उस प्रदेश को पल्लव लिखकर आपने अपने भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञान की कमजोरी प्रदर्शित की है। क्योकि दक्षिण मथुरा के आस-पास का प्रदेश नेमिनाथ के समय पल्लव नाम से प्रसिद्ध होने का कोई प्रमाण नही है। दक्षिण प्रदेश मे पल्लवों की चर्चा विक्रम की चतुर्थ शती के प्रारम्भ मे शुरु होने और आठवी शती तक उनका उस प्रदेश मे राज्य व्यवस्थित रूप से चलने की इतिहास चर्चा करता है। इस परिस्थिति में नेमिनाथ के समय मे मदुरा तथा काञ्जिवर के आस-पास के प्रदेश की "पल्लव" नाम से प्रसिद्धि नही हुई थी और न उस प्रदेश मे तव तक सभ्यता का ही प्रचार हुआ था। पाण्डवो के पाण्ड्यमथुरा मे भगवान् नेमिनाथ के श्रमणों में से एक स्थविर उस प्रदेश मे विहार करके गए थे और उन्ही के उपदेश से पाण्डवो ने श्रमणधर्म की प्रव्रज्या ली थी और वाद मे वे सव सौराष्ट्र की तरफ विहार कर गये थे। जव वे आधुनिक सौराष्ट्र स्थित "शत्रुञ्जय" पर्वत के आस-पास पहुँचे तो उन्होंने सुना कि "उज्जयन्त" पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ का निर्वाण हो चुका है। इस पर से पाण्डवों ने भी शत्रुञ्जय पर जाकर अनशन कर लिया और निर्वाण प्राप्त हुए। श्वेताम्वर साहित्य मे नेमिनाथ के विहार और पाण्डवो के प्रतिवोध का वृतान्त उपर्युक्त मिलता है।

(४) आचार्य जिनसेन यापनीय :।

आचार्य जिनसेन मूल मे यापनीय संघीय थे ऐसा हरिवंश के अनेक पाठो से ध्वनित होता है। इन्होने पुराण की प्रशस्ति के अन्तिम पद्य में अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—

"व्युत्सृष्टाऽपरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसघान्वये,
व्याप्तः श्री जिनसेनसूरिकविना लाभाय वोधेः पुनः।

"कल्पिका-कल्पिक" नामक शास्त्र श्वेताम्वर सम्प्रदाय में अवश्य था परन्तु उसका विच्छेद वहुत काल पूर्व हो चुका है। "महाकल्प" भी श्वेताम्वर सम्प्रदाय मे अवश्य था, परन्तु इसका भी विच्छेद हुए लगभग १५०० वर्ष हो चुके है। देवो तथा देवियो की उत्पत्ति का निरूपण करने वाले ग्रन्थों को जिनसेनसूरि क्रमश "पुण्डरीक" तथा "महापुण्डरीक" नाम देते हैं, परन्तु यह मान्यता भी आपकी सुनी सुनायी प्रतीत होती है। जहा तक हमने देखा है श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनो सम्प्रदायों में उपर्युक्त नाम वाले ग्रन्थ नही हैं। कवि ने प्रायश्चित्तविधि को वताने वाला "निषद्यका" नाम का शास्त्र वताया है। यह नाम दिगम्वरो मे प्रसिद्ध है, परन्तु श्वेताम्वर सम्प्रदाय मे इस ग्रन्थ को "निशीथ" कहते हैं।

१८वें सर्ग के ३७वें श्लोक मे "दशवैकालिक" के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा का पूर्वार्ध का संस्कृत रूपान्तर वनाकर ज्यो का त्यों रख दिया है।

"दशवैकालिक" की प्रथम गाथा का पूर्वार्ध "धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो" जिनसेनसूरि का उक्त गाथार्ध का सस्कृत-अनुवाद—"धर्मो मंगलमुत्कृष्टमहिंसा सयमस्तप." ।

उक्त प्रकार के पुराणान्तर्गत अनेक प्रतीको से ज्ञात होता है कि आचार्य जिनसेन और इनके पूर्व गुरु यापनीय सघ मे होगे; अन्यथा श्वेताम्बरो मे प्रचलित ग्रन्थ सूत्रो के नाम और उनके प्रतीक इनके पास नही होते। मालूम होता है जिनसेन के समय तक इनका श्वेताम्वरीय सम्वन्ध पर्याप्त रूप से छूट चुका था इसीलिये कई सूत्रो की परिभाषाओ के सम्बन्ध मे आपने अतथ्य निरूपण किया है। इनके बाद के वसुनन्दी आदि टीकाकार आचार्यों ने वट्टकेर कृत "मूलाचार" की श्वेताम्बरीय सूत्र गाथाओ की व्याख्या करने मे बहुत ही गोलमाल किया है। ज्यो-ज्यों समय वीतता गया त्यो-त्यो दोनो सम्प्रदायो के वीच पार्थक्य बढ़ता ही गया।

यद्यपि "जिनसेन" हरिवंशपुराण का कथावस्तु बृहत् पुन्नाट सघ के वश मे से उपलब्ध होने की वात कहते हैं, परन्तु वस्तुतः "हरिवश का

कि पहले वे यापनीय सघ के अन्तर्गत थे। यापनीय श्रमण, कल्पसूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर जैनसूत्रो को मानते थे। इसी कारण से इन्होने अपने इस पुराण मे श्वेताम्बर सूत्र ग्रन्थो के सस्कृत मे नाम निर्देश किये हैं। इतना ही नही, कही कही तो गाथाओ और उनके चरणो के सस्कृत भाषान्तर तक कर दिये हैं।

दशम सर्ग के १३४, १३५, १३६, १३७, १३८ तक के पाँच श्लोको मे अगबाह्य श्रुत का वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि "दशवैकालिक सूत्र" साधुओ की गोचरचर्या की विधि बतलाता है। "उत्तराध्ययन" सूत्र वीर के निर्वाणगमन को सूचित करता है। "कल्प-व्यवहार" नाम का शास्त्र श्रमणो के आचारविधि का प्रतिपादन करता है और अकल्प्य सेवना करने पर प्रायश्चित्त का विधान करता है। "कल्पाकल्प" सज्ञक शास्त्र कल्प और अकल्प दोनो का निरूपण करता है। "महाकल्प सूत्र" द्रव्य-क्षेत्रकालोचित साधु के आचारो का वर्णन करता है, "पुण्डरीक" नामक अध्ययन देवो की उत्पत्ति का और "महापुण्डरीक" अध्ययन देवियो की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाला है और "निषद्यका" नामक शास्त्र प्रायश्चित्त की विधि का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार अंगबाह्य श्रुन का प्रतिपादन किया।

कवि जिनसेन का उपर्युक्त निरूपण अर्धसत्य कहा जा सकता है, क्योकि इसमे कोई कोई बात श्वेताम्बरो की मान्यतानुसार है। तब कोई उसके विरुद्ध भी, "दशवैकालिक" के विषय मे इनका कथन श्वेताम्बरीय मान्यतानुगत है, तब उत्तराध्ययन के सम्बन्ध मे जो लिखा है वह यथार्थ नही। उत्तराध्ययन मे महावीर के निर्वाण गमन सम्बन्धी कोई बात नही है, परन्तु कल्प सूत्र मे ३६ अपृष्ट व्याकरण के अध्ययनो की जो बात कही है, उसके ऊपर से उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन मानकर वीर के निर्वाण गमन की बात कह डाली है। 'कल्प व्यवहार" नामक शास्त्र को एक समझ कर इसका तात्पर्य आपने समझाया, परन्तु वास्तव मे "कल्प" तथा "व्यवहार" भिन्न-भिन्न हैं। पहले मे प्रायश्चित्तो की कल्पना और दूसरे मे उनके देने की मुख्यता है।

पर अन्धकार फैल जाता है। यदि भट्टारक वीरसेन और पुन्नाट संघीय जिनसेन समकालीन थे तो इन्होंने अपने अपने ग्रन्थो में एक दूसरे के नाम निर्देश कैसे किये ? क्योंकि धवला टीकाकार वीरसेन स्वामी सुदूर दक्षिणा-पथ में मूड़विद्री की तरफ विचरते थे और टीकाओ का निर्माण कर रहे थे, तब हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन भारत की पश्चिम सीमा पर वर्द्धमान नगर मे रहकर "हरिवशपुराण" की रचना कर रहे थे और इन दोनों आचार्यों की कृतियो की समाप्ति मे भी तीन वर्षो से अधिक अन्तर नही है। इस परिस्थिति मे उक्त आचार्यो द्वारा अपने ग्रन्थो मे एक दूसरे का उल्लेख होना स्वाभाविक प्रतीत नही होता।

हरिवशपुराण मे आचार्य प्रभाचन्द्र और इनके गुरु कुमारसेन के नाम उपलब्ध होते हैं। इन गुरु-शिष्यो का सत्ता-समय विक्रम की ११वी शती का द्वितीय चरण हो सकता है।

कवि धनञ्जय जो "धनञ्जयनाममाला" के कर्ता थे और भोज राजा के सभा-पण्डित, इनका समय भी विक्रम की ग्यारहवी शती के द्वितीय चरण से पहले का नही हो सकता।

आचार्य जिनसेन ने अपने "हरिवशपुराण" के निर्माणकाल मे किस दिशा मे कौन राजा राज्य करता था इसका निम्नलिखित पद्य में निरूपण किया है—

"शाकेष्वव्दशतेषु सप्तसु दिश पचोत्तरेषूत्तरा,
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृतिनृपे वत्सादिराजेऽपरा;
सूर्याणामधिमण्डल जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥"

अर्थात्—जिनसेन कहते हैं–'७०५ संवत्सर बीतने पर उत्तर दिशा का इन्द्रायुध नामक राजा रक्षण कर रहा था। कृष्ण राजा का पुत्र श्रीवल्लभ दक्षिण दिशा का रक्षण कर रहा था। अवन्तिराज पूर्व दिशा का पालन कर रहा था, पश्चिम दिशा का श्रीवत्सराज शासन कर रहा था

"कथावस्तु वसुदेवहिण्डी और महापुरुषचरित्र" आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थो के आधार से लिया है। यह बात "हरिवंश के कथावस्तु का आधार" नामक शीर्षक के नीचे लिखी जा चुकी है।

(५) जिनसेन के पूर्ववर्ती विद्वान् : : :

आचार्य जिनसेनसूरि ने अपने पुराण के प्रथम सर्ग में अपने पूर्ववर्ती कतिपय विद्वानो का स्मरण किया है, जिनमे समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, शान्तिषेण, प्रभाचन्द्र, प्रभाचन्द्र के गुरु कुमारसेन, वीरसेन गुरु और जिनसेन स्वामी आदि प्रमुख हैं। इनमे आचार्य समन्त-भद्र, सूक्तिकार सिद्धसेन, व्याकरण ग्रन्थो के दर्शी देवनन्दी, वज्रसूरि आदि के नाम आने स्वाभाविक हैं। क्योकि ये सभी आचार्य हरिवशकार जिनसेन के निसन्देह पूर्ववर्ती थे, परन्तु कतिपय नामो का इस पुराण मे स्मरण होना शंकास्पद प्रतीत होता है। कुमारसेन, वीरसेन, महापुराण के कर्ता "जिनसेन और प्रभाचन्द्र" का नाम "हरिवश पुराण" मे आना एक नयी समस्या खड़ी करता है। क्योकि "महापुराण" के कवि जिनसेन अपने ग्रन्थ मे हरिवशपुराणकार जिनसेन की याद करते हैं, तब "हरिवंश पुराण" मे पुन्नाट सघीय कवि जिनसेन, जिनसेन स्वामी की कीर्ति "पार्श्वाभ्युदय" नामक काव्य मे करते हैं। इसी प्रकार "हरिवशपुराण" मे "न्यायकुमुदचन्द्रोदय" के कर्ता प्रभाचन्द्र और उनके गुरु आचार्य कुमार-सेन का नामोल्लेख होना भी समयविषयक उलझन को उत्पन्न करने वाला है।

भट्टारक वीरसेन ने भी हरिवशपुराणकार आचार्य जिनसेन का अपने ग्रन्थ मे स्मरण किया है, इसी प्रकार आचार्य वीरसेन ने अपने ग्रन्थ मे प्रभाचन्द्र का नाम निर्देश किया है और प्रसिद्ध कवि "धनजय" की "नाममाला" का अपने ग्रन्थ मे एक पद्य उद्धृत किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र और कवि धनज्जय मालवा के राजा भोज की राजसभा के पण्डित थे। इन सब वातो पर विचार करने से आचार्य वीरसेन भट्टारक, हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन आदि के सत्ता-समय की वास्तविकता

उपर्युक्त तमाम असगतियों के निराकरण का उपाय हमको एक ही दृष्टिगोचर होता है और वह है जिनसेन के शक सवत को "कलचुरी सवत्" मानना। आचार्य जिनसेन उसी प्रदेश से विहार कर वर्द्धमान नगर की तरफ आये थे कि जहाँ कलचुरी सवत् ही प्रचलित था। इस दशा में हरिवशपुराणकार द्वारा कलचुरी सवत् की पसन्दगी करना विल्कुल स्वाभाविक है। कलचुरी सवत् ईशा से २४९ और विक्रम से ३०६ के वाद प्रचलित हुआ था।

(१) जिनसेन के "हरिवशपुराण" की समाप्ति ७०५ कलचुरी सवत्सर मे हुई थी। इसमे ३०६ वर्ष मिलाने पर विक्रम वर्ष १०११ आयेंगे[१]। इससे "धरणीवराह" और जिनसेन के समय की सगति भी हो जाती है। पुन्नाट सघीय जिनसेन की तरह ही भट्टारक वीरसेन तथा उनके शिष्य स्वामी जिनसेन का समय भी कलचुरी सवत्सर मान लेने पर इनके ग्रन्थो मे होने वाले प्रभाचन्द्र, कवि धनञ्जय आदि के निर्देशो की भी सगति वैठ जायगी।

जिस हैहय राजवंश की तरफ से कलचुरी सवत् प्रचलित हुआ था, उसका शृङ्खलावद्ध इतिहास वि० स० ९२० के आसपास से मिलता है और इसके पूर्व का कही कही प्रसगवशात् निकल आता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि विक्रम की दशवी शती मे कलचुरी संवत् का सव से अधिक व्यवस्थित प्रचार चल पड़ा था। हैहयो के देश में ही नही गुजरात के चौलुक्य, गुर्जर, सेन्द्रक और त्रैकूटक के राजाओं के ताम्रपत्रो में भी यही

---

(१) हैहयो का राज्य वहुत प्राचीन समय से चला आता था, परन्तु अव उसका पूरा पूरा पता नही लगता। उन्होने अपने नाम का स्वतन्त्र संवत् चलाया था जो कलचुरी संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु उसके चलाने वाले राजा के नाम का कुछ पता नही लगता। उक्त संवत् वि० सं० ३०६ आश्विन शुक्ला १ से प्रारम्भ हुआ और १४वीं शताब्दी के अन्त तक वह चलता रहा। कलचुरियो के सिवाय गुजरात (लाट) के चौलुक्य गुर्जर सेन्द्रक और त्रैकूटक वंश के राजाओ के ताम्र-पत्रो मे भी यह संवत् लिखा मिलता है। (भारत के प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग पृ० ३८)

और सूरमण्डल अर्थात् सौराष्ट्र-मण्डल का विजयी वीर वराह-धरणी वराह रक्षण कर रहा था।

"कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे,
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेष. पुर.।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजाग्रजनिता प्राजार्चनावर्चने,
शान्तेः शान्तिगृहे जिनस्य रचितो वशो हरीणामयम् ॥५३॥

अर्थात्—'उस समय कल्याणो से बढ़ते हुए श्री वर्धमानपुर मे "नन्नराज वसति" नामक पार्श्वनाथ जिनालय मे हरिवशपुराण को अधिकाश पूरा किया था और शेष रहा हुआ पुराण का भाग "दोस्तटिका" नामक स्थान मे शान्तिदायक शान्तिनाथ के चैत्य मे रहकर पूरा किया।

आचार्य जिनसेन उक्त ५२वें पद्य के चतुर्थ चरण मे सौराष्ट्र-मण्डल के शासक का नाम "वराह" लिखते हैं। पुराण के सम्पादक वराह के साथ "जय" शब्द जोड़कर उसका नाम "जयवराह" बनाते हैं, जो असगत है। क्योकि "ज़यवराह" नामक सौराष्ट्र का शासक कोई राजा ही नही हुआ। जिनसेन ने "वराह" शब्द का प्रयोग "धरणिवराह" के अर्थ मे किया है, परन्तु "धरणीवराह" के सत्तासमय के साथ पुराणकार का समय सगत न होने के कारण धरणीवराह को छोडकर "जयवराह" को उसका उत्तराधिकारी होने की कल्पना करते हैं, जो निराधार है। "वराह" यह कोई जातीय नाम नही, किन्तु "धरणीवराह" का ही सक्षिप्त नाम "वराह" है।

जिनसेन के उपर्युक्त पद्य मे सूचित "इन्द्रायुध" राजा का समय विक्रम सवत् ८४०, वत्सराज पुत्र द्वितीय नागभट का राज्य विक्रम संवत् ८५७–८६३ तक विद्वान् मानते हैं। श्रीवल्लभ का समय विक्रम सवत् ८२७ के लगभग अनुमान करते है, तब "धरणीवराह" जो चापवंशीय राजा था उसका सत्ता-समय शक सवत् ८३६ मे माना गया है जो विक्रम संवत् ९७१ के बराबर होता है। इस प्रकार हरिवशपुराणकार आचार्य जिनसेन का निर्दिष्ट समय इतिहाससगत नही होता।

"प्रशस्ततिथि-नक्षत्र-योग-वारादि लब्धयः ।
सुलब्धसुकुला भूपा, जग्मुरल्पै. प्रयाणकै. ॥२४॥"

उपर्युक्त श्लोक मे तिथि, नक्षत्र, योग के अतिरिक्त "वार" शब्द का प्रयोग किया गया है जो ग्रन्थ की अर्वाचीनता का सूचक है। क्योंकि नयी पद्धति का भारतीय ज्योतिष विक्रम की १०वी शती के पहले लोकमान्य नही हुआ था। सर्वप्रथम तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त प्रचलित थे, फिर करण आया परन्तु वार को कोई नही पूछता था। करण के बाद "लग्न" शब्द कही-कही प्रयुक्त होने लगा, जो नवमी शती के किसी किसी लेख-ग्रन्थ मे मिलता है और वार शब्द तो नवमी शती तक भी किसी लेख या प्रशस्ति मे दृष्टिगोचर नही होता। विक्रम की दशवी शती के एक-दो लेखो मे एक-दो स्थानो मे वार शब्द दृष्टिगोचर हुआ है। इससे इतना कह सकते है कि "हरिवशपुराण" की रचना के समय मे वार शब्द प्रयोग मे आने लगा था।

हरिवश के ५८वें सर्ग के श्लोक मे आया हुआ अविद्या शब्द शकराचार्य के ब्रह्मवाद के प्रचार के बाद का है। शकराचार्य का सत्ता-समय विक्रम की नवमी शती मे माना गया है। इससे ज्ञात होता है, आचार्य शकर के ब्रह्मवाद का सार्वत्रिक प्रचार होने के बाद, आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण की रचना की है।

हरिवश के ६६वें सर्ग मे भारत मे दीपावली प्रचलित होने के कारण बताये हैं और तब से दीपावली भारत मे होने का लिखा है। दीपावली की इस कथा से भी जिनसेन का यह पुराण अर्वाचीन ठहरता है। श्वेताम्बर साहित्य मे दीपावली की कथा १२वी शती के पहले की उपलब्ध नही होती।

हरिवश के कवि आचार्य जिनसेन ने २४ तीर्थङ्करो के शासनदेव-देवियो का सूचन किया है और "अप्रतिचक्रा" तथा "ऊर्जयन्तस्थ अम्बादेवी" का उल्लेख किया है। इतना ही नही बल्कि ग्रह, भूत, पिशाच, राक्षस

सवत् लिखा जाता था। इससे भी निश्चित होता है कि जिनसेन का ७०५ वर्ष परिमित शक-सवत् वास्तव मे कलचुरी सवत् है।

उपर्युक्त मान्यता के अनुसार पुन्नाटसघीय आचार्य जिनसेन का सत्ता-समय विक्रम की ११वी शती तक पहुँचता है जो ठीक ही है। क्योकि हरिवशपुराण में ऐसी अनेक बातो के उल्लेख मिलते हैं, जो जिनसेन को विक्रम की ११वी शती के पहले के मानने मे बाधक होते है। इस प्रकार के कतिपय उल्लेख उपस्थित करके पाठकगण को दिखायेंगे कि आचार्य जिनसेन की ये उक्तियाँ उन्हे अर्वाचीन प्रमाणित करती हैं।

पुराण के नवम सर्ग मे निम्नलिखित समस्यापूर्ति उपलब्ध होती है, जैसे—

"दृष्ट तैमिरिक कैश्चिदन्धकारेऽपि तादृशे।
स्पर्धमेव हि चन्द्राक्षैः शतचन्द्र नभस्तलम् ॥१०६॥"

इस श्लोक का "शतचन्द्र नभस्तलम्" यह समस्या-पद विक्रमीय १२वी, १३वी शती के पूर्ववर्ती किसी साहित्यिक ग्रन्थ मे दृष्टिगोचर नही हुआ। इससे जाना जाता है कि उक्त समस्या-पद विक्रम की ११वी शती के पहले का नही है।

पुराण के १४वे सर्ग के २०वें श्लोक मे—

"हिन्दोलग्रामरागेण, रक्तकण्ठा धरश्रिय.।
दोलाद्यान्दोलनक्रीडा; व्यासक्ताः कोमल जगु ॥२०॥"

इस प्रकार हिन्डोल राग दोलान्दोलन क्रीड़ा आदि शब्द अर्वाचीनता-सूचक हैं। प्राचीन साहित्य मे सप्तस्वरो का विवरण अवश्य मिलता है, परन्तु हिन्दोल राग, दोलान्दोलन क्रीड़ा आदि शब्द हमने १२वी शती के पहले के किसी भी साहित्यिक अथवा संगीत के ग्रन्थो मे नही देखे।

हरिवश के ४०वें सर्ग के—

जिनसेन और दादागुरु वीरसेन को सेनान्वयी कहा है। पर जिनसेन और वीरसेन ने "जयधवला" और "धवला टीका मे" अपने वश को पंचस्तूपान्वय लिखा है। यह "पचस्तूपान्वय" ईसा की पाचवी शताब्दी मे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साधुओ का एक सघ था। यह बात पहाड़पुर (जिला राजशाही, वगाल) से प्राप्त एक लेख से मालूम होती है। पचस्तूपान्वय का सेनान्वय के रूप मे सर्वप्रथम उल्लेख गुणभन्द्र ने अपने गुरुओं के सेनान्त नामो को देखते हुए किया है। इससे हम कह सकते हैं, गुणभद्र के गुरु जिनसेनाचार्य इस गण के आदि आचार्य थे।"

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित होता है कि 'सेन-गण' और 'सेनान्त' नामो का जन्म विक्रम की १०वी शती मे हुआ था। इस दशा मे हरिवशपुराणकार जिनसेन की गुरु-परम्परा-नामावली पर कहां तक विश्वास किया जाय इस वात का निर्णय पाठकगण स्वय कर सकते है।

श्वेताम्बर परम्परा मे गणधर सुधर्मा से देवर्द्धिगणि पर्यन्त २७ श्रुतधरों मे ६८० वर्ष पूरे होते हैं, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय इन्द्रभूति से लोहाचार्य पर्यन्त के २८ पुरुषो मे ६८३ वर्ष व्यतीत करता है और इसमे ३ केवलियो के ६५, ५ चतुर्दश पूर्वधरो के १००, ११ दश पूर्वधरो के १८३; ५ एकादशागधरों के २२०, ४ आचारागधरो के ११८ सब मिलाकर ६८३ वर्ष पूरे किये जाते हैं। यह कालगणना स्फुट और नि·सन्देह नही है। दिगम्बरीय मान्यतानुसार इन्द्रभूति गौतम भी केवलियो मे परिगणित है। श्वेताम्वरो की मान्यतानुसार गौतम को और इनके ८ वर्ष केवलिपर्याय के हटा देने पर शेष नाम २७ और सत्ता-समय के वर्ष ६७५ रहते है जो कम ज्ञात होते हैं। गुरु-शिष्य क्रम से गिनने से ६–७ नाम बढते हैं, मुकाविले मे वर्ष घटते है। पर अनुयोगधरों के क्रम से वर्षों का घटना गणना की अनिश्चितता का सूचक है। गुरु-शिष्य के क्रमानुसार देवर्द्धि ३४वें पुरुष थे, पर अनुयोगधर क्रम से २७वें पुरुष और समय दोनो क्रमो मे वही है ६८० वर्ष परिमित। इस हिसाब से दिगम्बरीय गणना के आधार से २८ युगप्रधानो का समय ६८३

आदि जो लोक-विघ्नकारी हैं उनको जिनेश्वर शासनदेवगरण अपने प्रभाव और शक्ति से शान्त करे और इच्छित कार्य की सिद्धि दे, ऐसी हरिवंश-पुराणकार ने पढने वालो के लिये आशंसा की है। इस प्रकार देवताओं की आशा और विश्वास १०वी ११वी शती के पूर्वकालीन जैन श्रमणों मे नही था।

पुन्नाटसघीय आचार्य जिनसेन की गुरु-परम्परा—

आचार्य जिनसेन ने "हरिवशपुराण" के अन्तिम सर्ग में अपनी गुर्वावली के नामों की बड़ी सूची दी है। इस सूची के प्रारम्भिक लोहार्य तक के नाम "त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति" आदि अन्य ग्रन्थो मे मिलते हैं, परन्तु इनके आगे के विनयधर, श्रुतगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, मन्दरार्य, मित्रवीर्य, बलमित्र, देवमित्र, सिंहबल, वीरवित्त, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती और जितदण्ड ये १४ प्रकीर्णक नाम शंका से रहित नही है। क्योकि प्रस्तुत पुराण के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ या शिलालेख मे इन नामो का क्रमिक उपन्यास नही मिलता और इनके आगे के नन्दिषेण से जिनसेन पर्यन्त के १८ अव्यवच्छिन्न सेनान्त नाम हैं। इस नामावली मे भी हमको तो कृत्रिमता की गन्ध आती है, क्योकि सेनान्त नामो की इतनी लम्बी सूची अन्यत्र नही मिलती। आचार्य जिनसेन ने अपने "हरिवशपुराण" मे शक संवत् ७०५ का उल्लेख किया है, अर्थात् इस सवत्सर मे "हरिवश-पुराण" की समाप्ति सूचित की है। इनके पूर्ववर्ती सेनान्त नामों मे नन्दिषेण यह नाम १८वाँ होता है। प्रति नाम के पीछे उनके सत्ता-समय के २५ वर्ष मान लिये जाएँ, तो भी नन्दिषेण का समय जिनसेन के पहले ४५० वर्ष पर पहुचता है। परन्तु प्राचीन शिलालेखो तथा ग्रन्थों मे सेनान्त नामो का कही नाम-निशान नही मिलता।

इस विषय मे डा० गुलाबचन्द्रजी चौधरी लिखते है—

"यद्यपि लेखो मे इसका सर्वप्रथम उल्लेख मूलगुण्ड से प्राप्त न० १३७ (सन् ९०३) मे हुआ है, पर इसके पहले नवमी शताब्दी के उत्तरार्ध (सन् ८९८ के पहले) मे उत्तरपुराण के रचयिता गुणचन्द्र ने अपने गुरु

वर्ष होना कम है। आचार्य जिनसेन की गुर्वावली के हर नाम गुरु शिष्य क्रम से मान लिये जायें तो भी इनके सत्ता-समय के वर्ष प्रति पीढ़ी २५ मानने पर भी ८०० मानने पड़ेंगे। ६८३-८००-१४८३ होगे, इनमें से ४७० वर्ष बाद देने पर शेष १०१३ रहेंगे और इस परिपाटी से भी पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन का सत्ता-समय विक्रम की ग्यारहवीं शती का प्रथम चरण ही सिद्ध होगा।

निबन्ध-निचय

चतुर्थ खण्ड

卐 卐

वैदिक साहित्य
का
अवलोकन

卐

नाम के आचार्यो द्वारा निर्मित "अर्थशास्त्र" अब विद्यमान होगे या नही यह कहना कठिन है। शुक्रनीति तथा बृहस्पतिनीति के प्रतिपादक जो छोटे-छोटे ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे सब पढे है, परन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र के सामने उनका कोई महत्त्व नही। कौटिल्य ने अपना यह ग्रन्थ पन्द्रह अधिकरणो, १५० अध्यायो और १८० प्रकरणो मे पूरा किया है। ग्रन्थ का कलेवर ६००० अनुष्टुप् श्लोको के बराबर गद्य से सम्पूर्ण बना दिया है।

ग्रन्थ के अधिकरणो के शीर्षको के पढने से ही पाठकगण को अच्छी तरह ज्ञात हो जायगा कि कौटिल्य ने इस ग्रन्थ मे किन किन विषयों का प्रतिपादन किया है।

अधिकारो के शीर्षक—

(१) विनयाधिकरण
(२) अध्यक्ष-प्रचाराधिकरण
(३) धर्मस्थीयाधिकरण
(४) कण्टकशोधनाधिकरण
(५) योगवृत्ताधिकरण
(६) मण्डलयोनिअधिकरण
(७) षाड्गुण्य अधिकरण
(८) व्यसनाधिकारिकाधिकरण
(९) अभियास्यत्कर्माधिकरण
(१०) सग्रामिकाधिकरण
(११) सघ-वृत्ताधिकरण
(१२) आवलीयसाधिकरण
(१३) दुर्गलम्भोपायाधिकरण
(१४) औपनिषदिकाधिकरण
(१५) तन्त्रयुक्ति-अधिकरण

अर्थशास्त्र की पुस्तक के अन्त मे "चाणक्यसूत्र" मुद्रित है, जिनके पढ़ने से चाणक्य की राजनीति का अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। "ये

: ४० :

श्री कौटिलीय-अर्थशास्त्र

आचार्य चाणक्यप्रणीत

❖

"कौटिल्य-अर्थशास्त्र" मौर्य चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री श्री कौटिल्य-प्रसिद्ध नाम चाणक्य की सस्कृत कृति है। इसमे राजनीति का सागोपाग निरूपण किया गया है। राज्य, अमात्य, पुरोहित, मंत्रीमण्डल तथा भिन्न भिन्न कार्याध्यक्षो के निरूपण बड़ी सूक्ष्मता से किये है। देश की आबादी, आय-व्यय के मार्ग, देश-व्यवस्था को अच्छे ढंग से करने के अनेक तरीके, प्रकट तथा गुप्तचर दूतो के प्रकार, उनकी कार्यप्रणालियाँ, सैन्य के विभाग, स्कन्धावारनिवेश, युद्ध के समय अनेक प्रकार के सैन्य-व्यूह और शत्रु को परास्त करने के लिये अनेक उपायो का निरूपण किया गया है। इतना ही नही, दीवानी तथा फौजदारी कार्यों के निपटारे के लिए, दीवानी, फौजदारी न्यायो का वडी छानवीन के साथ निरूपण किया है। जहा जहा अन्य आचार्यों के मतभेद पडते थे, वहां उनके मतो का नामपूर्वक उल्लेख करके अपना मन्तव्य प्रकट किया है। बार्हस्पत्य, औशनस, पाराशर्य, अर्थशास्त्रो को मानने वालो का निर्देश तो स्थान-स्थान पर किया ही है, परन्तु अन्य अर्थशास्त्रकारो के मतो का भी अनेक स्थानो पर निर्देश किया है। भारद्वाज, विशालाक्ष, कौणपदन्त, पिशुन, पिशुनपुत्र तथा आचार्य का मतनिर्देश करके समालोचना की है। सब से अधिक "इति आचार्यः, नेति कौटिल्य." इत्यादि आचार्य के नाम का बार-बार उल्लेख कर उनसे अपना विरोध प्रकट किया है। इन नामोल्लेखो से पाया जाता है कि कौटिल्य के समय मे इन सभी आचार्यों के बनाये हुए प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रतिपादन करने वाले "अर्थशास्त्र" विद्यमान होगे। उक्त

: ४१ :

सांख्यकारिका

ईश्वरकृष्ण–विरचिता

माठरवृत्तिसहिता

"साख्य-कारिका" साख्यदर्शन का मौलिक बोध कराने के लिए बहुत ही उपयोगी कृति है, जो साख्यदर्शन के प्राचीन "षष्ठितन्त्र" सिद्धान्त के अनुसार बनाई गई है। इसमे कुल ७३ कारिकाएँ है।

"साख्य-कारिका" की "माठरवृत्ति" के निर्माण के समय तक साख्य-दर्शन का सक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार से था—

बुद्धि, अहकार, मन, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच कर्मेन्द्रिय, पाच भूत तथा तन्मात्राएँ, पाच स्थूल शरीर, प्रकृति और पुरुष इन २५ तत्त्वो के ज्ञान से सांख्य-दर्शन में आत्मा का अपवर्ग अर्थात् मोक्ष माना गया है। जब तक आत्मा अपना स्वरूप नही जान पाता तब तक वह आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तापो को अनुभव करता है। जन्म-मरण के दुःखो को भोगता रहता है। आठ प्रकार के देवगति सम्बन्धी, पाच प्रकार के पशुपक्षी स्थावरादि तिर्यञ्च गति सम्बन्धी और एक विध ब्राह्मण से लेकर चण्डाल तक के मनुष्य भव सम्बन्धी सुख-दुखो को भोगता है। देवगति मे सात्विक गुणो की प्रधानता रहती है। तिर्यग्गति मे तमोगुण की और मनुष्यगति मे रजोगुण की प्रधानता और शेष दो गुणो की गौणता रहती है।

साख्य-दर्शन का आत्मा अथवा पुरुष प्रतिशरीर भिन्न होता है। वह कर्त्ता न होने पर भी प्रकृति के विकारो मे फसा होने से औपचारिक रूप से सुख-दुख का भोक्ता माना गया है।

साख्य-दर्शन काल, स्वभाव अथवा ईश्वर को जगत्कर्त्ता नही मानता। जगत् की रचना, प्रकृति के विकारो से होती रहती है।

धर्म को दयामूलक मानते है और सुख का मूल धर्म को"। फिर भी इनकी दृष्टि मे अर्थवर्ग सब से आगे है, ऐसा इनके अनेक उल्लेखों से जान पड़ता है। इतना ही नही, चाणक्य-सूत्रों में अनेक ऐसे सूत्र है जिन्हें जीवन मे उतारकर मनुष्य सुखी ही नही एक नीतिज्ञ पुरुष बन सकता है। इन सूत्रों के पढ़ने से पाठकों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह शब्दों द्वारा प्रकट नही किया जा सकता।

卐 卐

: ४२ :

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य

शंकराचार्य विरचित

❖

शाकर भाष्य बादरायण (महर्षि व्यास) कृत ब्रह्म-प्रतिपादक सूत्रो पर विस्तृत भाष्य है। इसे शारीरिक मीमांसा-भाष्य भी कहते है, इसके प्रथम अध्याय मे निर्गुण सगुण आदि ब्रह्म के स्वरूप का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन किया है।

दूसरे अध्याय के प्रथम पाद मे साख्य, कणाद, योगादि दर्शनो की चर्चा करके, उनसे ब्रह्मवाद का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया है। दूसरे पाद में साख्य; कणाद, परमाणुवाद, ईश्वरकारणिक, चार्वाक, मीमासक और बौद्धो के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, आर्हत दर्शन के स्याद्वाद, सप्तभगी, भागवत, पाशुपत मतो की मीमासा करके सब को दोषयुक्त बताया है। तीसरे पाद मे महाभूतो की उत्पत्ति, सृष्टिसर्ग-प्रलय आदि बातो की मीमासा की है और इसके सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न अभिप्राय व्यक्त करने वाले उपनिषद्-वाक्यो का समन्वय करने की चेष्टा की गई है। आश्मरथ, औडुलोमि, काशकृत्स्न आदि आचार्यों के मतों का निर्देश करके, जिनके साथ अपने मत का साम्य देखा उसे श्रुति-सम्मत ठहराया और अन्यान्य मतो की उपेक्षा की है। चतुर्थ पाद में इन्द्रियादि पदार्थो का निरूपण करने वाले परस्पर विरोधी श्रुतिवाक्यो का समाधान करने की चेष्टा की गई है।

तीसरे अध्याय के प्रथम पाद मे, जीव के परलोकगमन सम्बन्धी चर्चा करके वैराग्य का प्रतिपादन किया है। दूसरे पाद मे "तत्" तथा "त्वम्" शब्दो की व्याख्या की है। तीसरे के तीसरे पाद मे भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओ के मन्तव्यो का निरूपण करते हुए उनके पारस्परिक

साँख्य-दर्शन मे कतिपय शब्द जैन पारिभाषिक शब्दो से मिलते-जुलते हैं, जैसे–"सम्यग्-ज्ञान, केवल ज्ञान" आदि। मोक्ष के लिए "कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष" आदि शब्दो का व्यवहार किया जाता है।

साख्य-दर्शन का प्रतिपादक शास्त्र "षष्टितन्त्र" कहलाता है। इसका कारण (६०) साठ पदार्थो का प्रतिपादन है। वे साठ पदार्थ ये है—(१) अस्तित्व, (२) एकत्व), (३) अर्थत्व, (४) पारार्थ्य, (५) अन्यत्व, (६) निवृत्ति, (७) योग, (८) वियोग, (९) पुरुषबहुत्व, (१०) स्थितिः। पाच विपर्यय, २८ अशक्ति, ९ तुष्टि, ८ सिद्धि। इन साठ (६०) पदार्थो का वृत्तिकार ने वृत्ति मे परिचय दिया है।

साख्य-दर्शन मे प्रमाण तीन माने गये है—प्रत्यक्ष (चाक्षुषज्ञान), अनुमान (शेष इन्द्रिय जन्य) और आगम (ब्रह्मादि वाक्यात्मक वेद, सनकादि वाक्यात्मक शास्त्र आप्त वाक्य)।

मूल कारिकाकार ईश्वरकृष्ण एक प्राचीन दर्शनकार है। इनका निश्चित समय जानने मे नही आया। वृत्तिकार माठराचार्य का समय विक्रम की पाचवी शती का उत्तरार्ध होना अनुमान करते हैं, यह इनका पूर्ववर्ती समय का स्तर है। इससे अर्वाचीन हो तो आश्चर्य नही। वृत्ति मे उपनिषत्कारो के वेदान्त का एक दो स्थल पर उल्लेख अवश्य आया है, परन्तु शकराचार्य के ब्रह्मवाद का प्रचार होने के पूर्व की यह वृत्ति है यह निश्चित है।

माठराचार्य वैदिक यज्ञादिक के कट्टर विरोधी थे, ऐसा इनके "यूप छित्त्वा" इत्यादि श्लोको के पढने से ज्ञात होता है। फिर भी माठराचार्य ने "पातञ्जल योगशास्त्र" की बातो के उल्लेख किये है, इससे ज्ञात होता है ये पतञ्जलि के मत से अनुकूल थे।

माठराचार्य ने अपनी वृत्ति मे साख्य-दर्शन के उपदेशको की परम्परा इस प्रकार लिखी है—"महर्षि कपिल–आसुरि–पंचशिख–भार्गव–उलूक–वाल्मीकि–हारित–देवल" इत्यादि से ज्ञान आया तथा ईश्वरकृष्ण ने प्राप्त किया।

卐 卐

सत्तासमय विक्रम की अष्टम शती के बाद और दशवी शती के पहले होना चाहिए। प्रस्तुत भाष्य के पुस्तक के टाइटल पेज के पास ही इनका फोटू दिया है जिस पर इनका उद्भव काल ८४५ बताया है। फोटो पर का संस्कृत लेख नीचे उद्धृत किया जाता है—

"अथैतेषा श्रीमच्छंकरभगवत्पादाना प्रादुर्भावसमय. कलिगताब्दाः ३८, ८९ वैक्रम' संवत् ८४५ निर्णीतमिद शंकरमन्दारमन्दरसौरभे—

"प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या-
मेकादशाधिक-शतोनचतुः सहस्याम् ॥"

ऊपर के लेख से यह निश्चित हो जाता है कि "शकराचार्य का जन्म नवमी शताब्दी के पूर्वार्ध मे हुआ और प्रस्तुत भाष्य तथा अन्यान्य ग्रन्थ रचनाएँ विक्रम की नवमी शती के अन्त मे हुई हैं।" इसमे विशेष शका नही रहती।

卐 卐

विरोधों का समन्वय करने की कोशिश की है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म के बहिरग साधनो की और आश्रमों की चर्चा कर उनकी आवश्यकता बताई है।

चौथे अध्याय के चारो पदों मे निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म की उपासना और उससे होने वाले स्वर्गीय तथा मुक्त्यात्मक फलो का प्रतिपादन किया है।

आचार्य की प्रतिपादन शैली प्रौढ़ है। अपने मन्तव्य के विरुद्ध जो जो बातें और सिद्धान्त दीख पडे उन सभी का खण्डन किया है। इस खण्डन मे सब से अधिक कटाक्ष साख्य दर्शन पर किये है, तब सबसे कम आर्हत, भागवत और पाशुपत सम्प्रदायों पर। अपना दर्शन निर्विरोध और व्यवस्थित बनाने के लिए पर्याप्त श्रम किया है। लगभग सभी उपनिषदो, आरण्यको, ब्राह्मण ग्रन्थो को छान डाला है। उनमे प्रयुक्त पारस्परिक विरुद्ध सिद्धान्तो को एक मत बनाने के लिए पर्याप्त श्रम किया है, फिर भी इस प्रयास मे वे अधिक सफल नही हो सके है। कई वाक्यो तथा शब्दो की व्याख्या करने मे इन्होने केवल अपनी कल्पना से काम लिया है। "वैदिक-निरुक्त, निघण्टु और लौकिक शब्दकोपो" की सहायता न होने और कल्पना मात्र के बल से शब्दो का अर्थ लगाकर किया गया समन्वय अथवा विरोधो का परिहार कहा तक सफल हो सकता है, इस बात पर पाठकगण स्वयं विचार कर सकते हैं।

आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में अधिकाश नामोल्लेख प्राचीन वैदिक आचार्यों के ही किये है, फिर भी कुछ उल्लेख ऐसे भी आये हैं कि उल्लिखित व्यक्ति विक्रम की ७ शती के परवर्ती हैं। अष्टम शताब्दी के "जैनाचार्य हरिभद्रसूरि, भट्टाकलक, कुन्दकुन्दाचार्य" आदि के ग्रन्थो मे बौद्धो के विज्ञान-वाद आदि का खण्डन प्रचुर मात्रा मे मिलता है, परन्तु आचार्य शकर के ब्रह्मवाद का नामोल्लेख तक उन ग्रन्थो मे नही पाया जाता। हाँ दशवी तथा ग्यारहवी शती के जैन दार्शनिक ग्रन्थो मे ब्रह्माद्वैतवाद का खण्डन अवश्य मिलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि शकराचार्य का

(६) गोभिल-स्मृति :

इस स्मृति के तीन प्रपाठको और कण्डिकाओ के मिलकर ४६१ श्लोक हैं।

(७) दक्ष-स्मृति :

इस स्मृति के सात अध्याय है और कुल श्लोक २२१ हैं।

(८) देवल-स्मृति :

देवल-स्मृति मे कुल ६० श्लोक हैं। यह प्राचीन भी ज्ञात होती है।

(९) प्रजापति-स्मृति :

इस स्मृति मे कुल १९८ श्लोक है। स्मृति में एक स्थान पर दिन-वार का उल्लेख होने से यह स्मृति नवमी शती के आसपास की अथवा पीछे की भी हो सकती है।

(१०) बृहद्यम-स्मृति :

इस स्मृति मे १८२ श्लोक है तथा ५ अध्याय हैं।

(११) बृहस्पति-स्मृति :

इस स्मृति मे ८० श्लोक हैं तथा पुरानी भी लगती है।

(१२) यम-स्मृति :

इस स्मृति मे ९९ श्लोक हैं।

(१३) लघु विष्णु-स्मृति :

इसमे ११४ श्लोक हैं तथा ५ अध्याय।

(१४) लघु शंख-स्मृति :

इसमें ७१ श्लोक हैं।

(१५) (लघु) शातातप-स्मृति :

इसमे १७३ श्लोक हैं।

(१६) लघु हारीत-स्मृति :

इसमें ११७ श्लोक हैं।

: ४३ :

स्मृतिसमुच्चय

❖

स्मृतिसमुच्चय पुस्तक मे कुल २७ स्मृतियाँ है, जिनके अवलोकन का सार क्रमश: नीचे मुजब है—

(१) अंगिरा-स्मृति :

अगिरा-स्मृति प्राचीन मालूम होती है, १६८ श्लोको मे समाप्त हुई है।

(२) अत्रि-संहिता :

अत्रि-सहिता यो तो प्राचीन ही ज्ञात होती है, फिर भी अगिरा-स्मृति के पीछे की ही हो सकती है। इसका कर्ता दाक्षिणात्य ब्राह्मण हो तो आश्चर्य नही, क्योकि एक स्थल पर मागध, माथुर, कानन (कान्य-कुब्जी) आदि ५ ब्राह्मणो को अपूज्य होने का उल्लेख किया है। इस सहिता मे कुल ४०० पद्य है।

(३) अत्रि-स्मृति :

अत्रिस्मृति मे कुल अध्याय ६ और श्लोक १५४ है।

(४) आपस्तम्ब-स्मृति :

आपस्तम्व-स्मृति मे कुल अध्याय १० और श्लोक २०१ हैं।

(५) औशनस-स्मृति :

इस स्मृति मे कुल ५१ श्लोक हैं। इसमे चार वर्ण के स्त्री-पुरुषो के अनुलोम प्रतिलोम सयोग से उत्पन्न होने वाली अनेक जातियो का निरूपण किया है।

(२६) संवर्त-स्मृति :

इसमे २३० श्लोक हैं ।

(२७) बौधायन-स्मृति :

इसमे १६६५ श्लोक हैं; चार प्रश्नो मे पूरी हुई है । जिसकी समाप्ति में "वौधायनधर्मशास्त्रम् समाप्तम्" ऐसा उल्लेख है । यह वास्तव मे धर्मशास्त्र ही है, चार वर्णों के धर्म तथा आचार का इसमे वहुत ही विशद रूप से वर्णन किया गया है । यह स्मृति अन्य स्मृतियो की अपेक्षा विशेष प्राचीन ज्ञात होती है ।

卐 卐

(१७) लघ्वाश्वलायन-स्मृति :

इसमे २४ प्रकरण हैं तथा ७४२ श्लोक हैं :

(१८) लिखित-स्मृति :

इस स्मृति मे ९६ श्लोक है ।

(१९) वसिष्ठ-स्मृति :

इसमे ३० अध्याय और ७७९ श्लोक हैं ।

(२०) वृद्ध शातातप-स्मृति :

इसमे ६८ श्लोक हैं ।

(२१) वृद्धहारीत-स्मृति :

इसमे ११ अध्याय तथा २७९१ श्लोक हैं ।

हारीत-स्मृति सभवत. दाक्षिणात्य वैष्णव सम्प्रदायो की उत्पत्ति के वाद की ग्यारहवी बारहवी शती की वनी हुई प्रतीत होती है । इसमे गोपीचन्दन का भी उल्लेख मिलता है । इतना ही नही अन्य वैदिक शैव, सम्प्रदायो पर भी स्थान-स्थान पर कटाक्ष किये है और उन्हे लोकायतिक तक कह डाला है ।

(२२) वेदव्यास-स्मृति :

केवल चार अध्याय तथा २७५ श्लोक है ।

(२३) शंखलिखित-स्मृति :

इसमे ३२ श्लोक है ।

(२४) शंख-स्मृति :

पृ० ३७५—"षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो, जाते वै जातकर्म च ।
आशौचे च व्यतिक्रान्ते, नामकर्म विधीयते ॥२॥"

इसमे श्लोक ३७३ हैं और १८ अध्याय हैं ।

(२५) शातातप-स्मृति :

इस स्मृति मे २६५ श्लोक है तथा छः अध्याय है और विषय कर्मविपाक है ।

तच्च सर्वं जपेद्भूय' पौरुप सूक्तमेव च ॥

पृ० १२३—"सिद्धार्थमक्षताश्चैव, दूर्वा च तिलमेव च ।
यव "गन्ध" फल पुष्प-मष्टाङ्ग त्वर्ध्यमुच्यते ॥"

पृ० १३८—देवप्रतिमायां नित्यस्नानविचारः प्रयोगपारिजाते :

प्रतिमा-पट्ट-यन्त्राणा, नित्यस्नान न कारयेत् ।
कारयेत् पर्वदिवसे यदा वा मलधारणम् ॥

पृ० १३९—पंचामृतम् :

धन्वन्तरि गव्यमाज्यं, दधि क्षीर समाक्षिक ।
शर्करान्वितमेकत्र दिव्य पंचामृत परम् ॥

पृ० १४१—देवे गन्धानुलेपनम्, कालिकापुराणे वाचस्पतौ :

चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा, दाहकर्षित एव वा ।
रसः समर्दजो वापि, प्राण्यङ्गोद्भव एव वा ॥
गन्ध. पचविधः प्रोक्तो, देवाना प्रीतिदायक ।

पृ० १४२—'पूजायां ग्राह्यपुष्पाणि' स्मृत्यन्तरे :

समित्पुष्प-कुशादीनि, ब्राह्मण. स्वयमाहरेत् ।
पकजं पचरात्र स्याद्दशरात्र च विल्वकम् ॥
एकादशाहं तुलसी, नैव पर्युषिता भवेत् ।
जाती शमी कुशा कगु मल्लिका करवीरजम् ॥
नागपुन्नागकाऽशोक-रक्तनोलोत्पलानि च ।
चम्पक वकुल चैव, पद्म विल्व पवित्रकम् ॥
एतानि सर्वदेवाना; सग्राह्याणि समानि च ।

पृ० १४३—'वर्ज्यपुष्पाणि' भविष्ये :

कृमिकीटावपन्नानि, शीर्णपर्युषितानि च ।
स्वय पतितपुष्पाणि, त्यजेदुपहतानि च ॥

(पाद टिप्पणिकायाम् (१) अथ नियमस्तु षडगुलोर्ध्वप्रतिमादिपु बोद्धव्य. । यदि षडंगुलन्यूना प्रतिमा वर्तते तर्हि ता नित्यमेव स्नापयेत् ।)

आह्निक - सूत्रावली

❖

पृ० १२२—अष्टत्रिंशदुपचारा-ज्ञानमालायाम् :

"अर्घ्यं पाद्यमाचमन मधुपर्कमुपस्पृशम् ।
स्नानं नीराजन वस्त्र-माचाम चोपवीतकम् ॥
पुनराचमन भूषा-दर्पणालोकन ततः ।
गन्ध-पुष्पे धूपदीपौ, नैवेद्य च तत' क्रमात् ।
पानीय तोयमाचामं, हस्तवासस्ततः परम् ॥
('हस्तवास.--करोद्वर्तनम्)।
ताम्बूल-मनुलेप च, पुष्पदान तत. पुन. ॥
गीत वाद्य तथा नृत्य, स्तुतिं चैव प्रदिक्षणा ।
पुष्पाञ्जलि-नमस्कारावष्टत्रिंशत्समीरिताः ॥"

षोडशोपचार-पूजामन्त्राः बृहत्पाराशरसंहितायाम् :

आद्ययावाहयेद्देवमृचा तु पुरुषोत्तमम् ।
द्वितीययासन दद्यात्पाद्य चैव तृतीयया ॥
अर्घश्चतुर्थ्या दातव्यः पचम्याऽऽचमनं तथा ।
षष्ठ्या स्नान प्रकुर्वीत, सप्तम्या वस्त्रधौतकम् ॥
यज्ञोपवीतं चाष्टम्या, नवम्या गन्धमेव च ।
पुष्प देयं दशम्या तु, एकादश्या च धूपकम् ॥
द्वादश्या दीपकं दद्यात्त्रयोदश्या निवेदनम् ।
चतुर्दश्या नमस्कार, पचदश्या प्रदक्षिणाः ॥
षोडश्योद्वासनं कुर्याच्छेषकर्माणि पूर्ववत् ।

मुकुलैर्नार्चयेद्देवमपक्व न निवेदयेत् ।
शूद्रानीतं क्रयक्रीतं, कर्म कुर्वन्पतत्यघ ॥

पृ० १४४—'दोपम्' कालिकापुराणे :

न मिश्रीकृत्य दद्यात्तु, दीपं स्नेहे घृतादिकम् ।
घृतेन दीपक नित्य, तिलतैलेन वा पुन. ॥
ज्वालयेन्मुनिशार्दूल ! सन्निधौ जगदीशितु ।
कार्पासवर्तिका ग्राह्या, न दीर्घा न च सूक्ष्मका ॥

आह्निक-सूत्रावलि कर्मकाण्ड का एक संग्रह ग्रन्थ है। इसका निर्माण प० विट्ठलात्मज नारायण ने सन् १९५३ मे किया है तथा श० स० १८७५ मे। आज तक इसकी ग्यारह आवृत्तिया निकल चुकी हैं।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
खोचडी	खीचडी	४१	१
कीडी	कोडी	४१	१५
वर्ष	वर्षों	४१	२५
वषो	वर्षों	४२	६
पट्ट	पट्ट	४२	२६
प्रचिलत	प्रचलित	४३	४
टिल	टल	४३	८
टिल	टल	४३	१०
श्लाक	श्लोक	४३	१६
चतुर्विशति	चतुर्विंशति	४३	१७
हुए ने	हुए वे	४४	२
खन को	खन की	४४	१६
होते	होता	४४	२३
पइट्टियु	पइट्ठिउ	४५	१२
उ म य	उ सा य	४५	२४
भना	भता	४६	१
किरिटो	किरिटी	४६	१७
वार	बारह	४७	६
परि	पारि	४७	११
प्रची	प्राची	४७	१२
स्यान	स्यानो	४७	१८
हता	हताः	४८	१
सत्तर	सत्र	४८	१८
कुरुकुल	कुरुकुल्ला	५०	३
कुरु	कुरु	५०	८
ह्री श्री	ह्री श्री	५०	२४
ह्री	ह्री	५०	२७
कीनि	कीर्ति	५१	६
प्राम	प्रामा	५१	२२
वक्र	चक्र	५२	६
प्राम्भिक	प्रारम्भिक	५२	२७
वारूण	वारुण	५३	१
म्बिल ती	म्बिल की	५३	१७
है, कि	है, न कि	५३	२१
वह	यह	५४	१५
पदी	पद	५४	१७
माहत्म्य	माहात्म्य	५६	२
पदाथो	पदार्थों	५७	१
निन्यादि	निन्द्यादि	५७	६
साघता	साधना	५७	७
सम्यक्	सम्यक्त्व	५८	२
सिद्ध	सिद्धसेन	५६	३
घोषण	घोषणा	५६	१८
गुरू	गुरु	६२	३
पन्यासो	पन्यासो	६२	७
पन्यासो	पन्यासो	६२	६
घटाओं	घटनाओं	६२	२३
गुरू	गुरु	६३	६
जुदे	जुदा	६३	६
रण क्ते	रण से	६३	१६
पार्टो	पार्टी	६३	१८
गुरू	गुरु	६४	१२
गुरू	गुरु	६४	१४
गुरू	गुरु	६४	१६
गुरू	गुरु	६५	११
वृतान्त	वृत्तान्त	६५	१३

शुद्धिपत्रक :

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
भद्दो	भट्टो	३	२	सम्यक्क	सम्यक्	३६	१
सता	सत्ता	३	२६	चरित्र	चारित्र	३६	१
वृत्ति	वृत्ति	६	१	यन्त्रो	मन्त्रो	३६	१८
चाय	चार्य	८	१३	चरित्र	चारित्र	३७	१
अनुष्टुप	अनुष्टुप्	६	६	विनेभ्य.	जिनेभ्य·	३७	६
भाषा मे	भाषा के	६	८	गुरू	गुरु	३७	७
वृतान्त	वृत्तान्त	६	१०	गुरू	गुरु	३७	८
विवपिक्ष	विधिपक्ष	११	२१	करो	करो	३७	६
पही	नही	१३	२२	प्रतिष्डित	प्रतिष्ठित	३७	१६
पतद्गृह	पतद्ग्रह	१४	२६	उज्जवल	उज्ज्वल	३७	१८
रजोहर	रजोहरण	१५	१०	जिर्जरा	निर्जरा	३७	१६
जाहिर	जाहिगत	२३	२२	ह्रींकार	ह्लीकार	३७	२१
भक्ति	शक्ति	२५	८	गुरू	गुरु	३७	२३
लभ का	लभ को	२५	१०	गुरू	गुरु	३७	२५
जार्णो	जीर्णो	२८	४	प्रज्ञध्या	प्रज्ञप्त्या	३७	२७
क्रूर	कर	२८	१६	निदिष्ट	निर्दिष्ट	३८	१०
त्रिम्बो	विम्बो के	२६	५	पैत्रिक	पैतृक	३८	१५
शिल	शिला	२६	१०	साक्षिप्त	सक्षिप्त	३८	१८
उत्तेज्जिन	उत्तेजित	३०	२२	वेढ़िका	वेदिका	३८	२१
अस्थिर	अस्थि	३१	२३	पुकार	प्रकार	३६	२३
किसो	किसी	३४	१०	सविन्ग	सविग्न	४०	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
तर	तरा	१११	१
गांक	गांके	११२	२३
उसको	उसकी	११२	२५
दिअय	दिय	११३	२३
हाप्पभ	हापभि	११३	२३
तिइओ	तिईओ	११३	२३
ते कालि	तेकालि	११३	२५
वृत्य	वृत्य	११४	१२
अहादिता	अड्ढादित्ता	११४	१७
निव्वित्ति	निव्विति	११५	१४
उम्म	न उम्म	११६	११
गहड्डरि	गड्डरि	११६	१२
वाला	वाना	११७	१४
रहस्य	हास्य	११८	२
वदो	वकी	११८	३
वाले	वालो	११८	१२
ऊक्त	उक्त	११८	२५
यारी को	यारी की	११९	२६
पूछ	पुछ	१२०	७
सट्टा	सड्ढा	१२०	९
पूछता	पूछाता	१२०	१६
मे दर्शन			
शब्द से प्रति	मे प्रति	१२४	२
ज्ञान	ज्ञानो	१२४	७
युक्त	मुक्त	१२५	३
उपयोग	प्रयोग	१२५	२१
अरि	परि	१२७	११
अठार	अठारह	१२८	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
वालु	वाहु	१३२	२०
पेरिसी	पोरिसी	१३४	१५
गाथी का	गाथी की	१३६	१६
प्राकृत	प्रकृत	१३९	२०
रहा	रेहा	१४०	४
पन्यास	पन्यास	१४१	२१
"ठ"	"ढ"	१४५	२१
भन्ते	भते	१४६	१८
कुक्कुडि	कुक्कुडि	१४६	२५
रन्तु	रतु	१४७	९
मुसुमूरणू	मुसुमुरणू	१५२	२५
नाध	नाथ	१५८	२३
थूभरजिण	थूभजिण	१६२	४
खैत	रैवत	१६७	१
खैत	रैवत	१६७	४
खैत	रैवत	१६७	७
हरिगता	हरिगत्ता	१६८	५
विक्रय	विक्रम	१६८	१४
सारकर	सारक	१६८	१६
करने से	करने मे	१७०	१०
पवत	पर्वत	१७२	३
ठेरी	ढेरी	१७३ (टिप्प.)	१
वक्रिया	वाक्रिया	१७४	२
कक्रेन्द्र	शक्रेन्द्र	१८०	२७
इससे	इसके	१८२	२८
महात्म्य	माहात्म्य	१८३	२
करता	करती	१८५	१४
आये	आयी	१८५	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
साधुओं का	साधुओं को	६५	१५	बाद की	बाद का	८४	१
गुरू	गुरु	६५	१६	ष्टुप	ष्टुप्	८५	११
दैव	देव	६५	२१	ध्यायजो	ध्यायजो	८५	१२
सविज्ञ	सविग्न	६६	१४	परि	पारि	८६	२३
सविज्ञ	सविग्न	६६	२०	सत्व	सत्त्व	८७	१३
ही चुको	हो चुकी	६६	२२	वन्द्रा	चन्द्रा	८७	१६
संविज्ञ	सविग्न	६६	२६	आन्नद	आनन्द	८८	२८
सविज्ञ	सविग्न	६६	२७	विद्वान	विद्वान्	८९	३
सविज्ञ	सविग्न	६७	२	लक्ष्मी	लक्ष्मी	९०	१
रगो	सघो	६७	१८	अकेक	अनेक	९२	१५
इप	उप	६७	१९	नवम्	नवम	९२	१७
नडी	नही	६७	२०	दुधात	दुघात	९४	२
गुरू	गुरु	६८	१६	शिला	शीला	९४	२
सम्वन्यो	सम्बन्धियो	७०	१८	सग्रही	संगृही	९६	४
ड्करो ने	ड्करों के	७३	१६	सग्रही	सगृही	९७	१२
कजी ने	कजी के	७५	११	पस्य	परस्य	९८	२५
गुरुत्व	गुरुतत्त्व	७७	९	होना	होनी	१००	१८
तत्व	तत्त्व	७७	११	सग्रही	सगृही	१००	२५
त्तत्व	तत्त्व	७७	१६	पन्यास	पन्यास	१०१	६
श्चितों	श्चित्तों	७७	२०	वर्षे	वर्षे	१०५	४
श्चितो	श्चित्तो	७८	४	सौमे	सोम्रे	१०५	४
तत्व	तत्त्व	७८	५	खिलने	लिखने	१०५	७
तत्व	तत्त्व	७८	१०	तपाच्छी	तपागच्छी	१०५	२०
यशौ	यशो	७८	२२	साभ्दे	सद्भि	१०५	२७
आध्यात्म	अध्यात्म	८०	८	रप	रपा	१०५	२७
क्ति	कृति	८१	१०	षट	षट्	१०६	२६
गच्छ से	गच्छ के	८२	२१	निशिर्न	निशिन	१०९	९
विद्वान	विद्वान्	८३	२४	सद्ब	सद्धा	११०	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
तर्गके	तरीके	३१९	५	पनो	पादों	३२५	४
ामलता	मिलता	३२९	१३	शकराचार्य	शंकराचार्य	३२५	२७
घृतादिकम्	घृतादिकम्	३३३	४	कर्माणि	कर्माणि	३३१	२०
ओशनस	औशनस	३१९	१२	धृतेन	घृतेन	३३३	५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
बोहिय	बोधिक	१९१	२५
समस	समय	१९२	२५
म रवाड	मारवाड	१९५	१७
याक्षिणी	यक्षिणी	१९७	१८
यशादेव	यशोदेव	२०१	११
विप्रे:	विप्रै:	२०४	१८
टीक	ठीक	२०७	२०
कहना का	कहना	२१०	२५
तानो	ताना	२१५	२१
यदि	यति	२२०	३
पद्य	पद्य	२२०	६
सविज्ञ	सविग्न	२२०	१७
लोपो	लोपी	२२२	४
ज्जाहिर	जाहिर	२२२	१३
मलिन	मलीन	२२३	७
मत	मतों	२२३	१०
दोस	दीस	२२७	१९
बीजीइं	बीजाइ	२३०	५
आदि की	आदि को	२३२	७
प्रति	प्रती	२३८	१६
श्चित	श्चित्त	२३८	१८
श्चित	श्चित्त	२३८	१६
श्चित	श्चित्त	२३८	२०
श्चितों	श्चित्तो	२३८	२८
श्चित	श्चित्त	२३९	५
वास्तावक	वास्तविक	२३९	१०
कथाएँ	कक्षाएँ	२३९	१४
श्चित	श्चित्त	२४०	२६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
गणावच्छे०	गणावच्छे०	२४१	९
हारो को	हारो का	२४२	१६
प्राचश्चित्त	प्रायश्चित्त	२४२	२७
प्रतेच्छका०	प्रतीच्छका०	२४३	५
समुद्रक	समुद्गक	२४६	९
रिपेयरि०	रिपैरि०	२४६	१०
समुद्रक	समुद्गक	३४६	१३
कतियों	कृतियों	२४८	९
साधुओं को	साधुओ की	२५०	११
धक्तव्य	वक्तव्य	२५३	२६
फेयर	पेयर	२५४	१
नोटिस पढकर	नोटिस सिद्धिसूरिजी को दी जिसे पढकर	२५५	२२
सांवत्सरी	सवत्सरी	२५८	१६
एक	ऐक	२५८	२४
भीतियें	भीतियेँ	२६१	२४
तथाप	तथापि	२६५	४
माती	जाती	२६९	१८
सग्रहीत	सगृहीत	२७०	३
खण्डगम	खण्डागम	२७२	२०
सग्रहीत	सगृहीत	२८०	११
गद्य	गद्य	२८७	२५
धनज्जय	धनञ्जय	३०७	२५
गुणमन्द्र	गुणचन्द्र	३१४	६
गुणभद्र	गुणचंद्र	३१४	७